जीवन-भाष्य

जे. कृष्णमूर्ति

प्रथम खण्ड

जीवन-भाष्य

[Commentaries on living (1) का हिन्दी रूपान्तर]

खंड : १

जे० कृष्णमूर्ति

सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी

प्रकाशकीय

परम आदरणीय जे० कृष्णमूर्तिजी की 'जीवन-भाष्य' नामक यह कृति प्रकाशित करते हुए प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। जे० कृष्णमूर्तिजी विश्व की महान् विभूतियों में से हैं। सहज अनुभूतिपूर्ण चिन्तन तथा जीवन की गहराई में प्रवेश करके सूक्ष्म मानव-चेतना की ग्रन्थियों का भेदन आपकी अद्भुत विशेषता है। सीधे-सादे शब्दों में तलस्पर्शी चिन्तन का अनुभव-रस आपके लेखों और प्रवचनों से निःसृत होता है। लाखों जीवन-शोधक जिज्ञासु आपकी वाणी में अमृतत्व की उपलब्धि करते हैं।

यह अनुवाद भाई श्री जमनालाल जैन ने श्रीमती सौ० विमलाबाई देशपांडे के मराठी अनुवाद 'जीवनभाष्ये' के आधार पर किया है। श्री जमनालालजी ने भाव, भाषा तथा शैली को एकरूप बनाये रखने में पर्याप्त श्रम किया है। हम उनके आभारी हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में श्री कृष्णमूर्तिजी के ८८ लेख हैं, जिनका सम्पादन लेखक की संस्मरण-पुस्तिकाओं से चुनकर, श्री डी० राजगोपाल ने किया है। इन लेखों में प्रकृति की मनोरम छटा के साथ-साथ जीवन की अनेक गहन-गम्भीर अथवा आर्थिक-सामाजिक, पारिवारिक-मनोवैज्ञानिक समस्याओं का 'हितं मनोहारि' विश्लेषण किया गया है। समाधान का खोजी मानव बाहरी भटकाव से विरत होकर यदि 'जीवन-भाष्य' के पृष्ठ खोलकर उसमें अपने स्वरूप का अवलोकन करे तो वह जानेगा कि वर्तमान में जीना, ग्रन्थ और ग्रन्थियों से मुक्त रहना ही जीवन का सम्यक् पथ है।

सर्व-सेवा-संघ को जे० कृष्णमूर्तिजी की कुछ रचनाएँ प्रकाशित करने की अनुमति कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन (इण्डिया) ने सहज सौजन्यवश प्रदान की, इसके लिए हम फाउण्डेशन के अत्यन्त कृतज्ञ हैं।

प्रस्तुत संस्करण को मूल अंग्रेजी से मिलाकर सम्पादन करने के लिए हम श्रीकृष्णदत्त भट्ट के आभारी हैं।

हम चाहते हैं कि हिन्दी-जगत् कृष्णमूर्तिजी के विचारों से परिचित हो तथा उनका जो स्वतन्त्र तथा स्वयंपूर्ण जीवन-दर्शन है, उससे हिन्दी-जगत् लाभान्वित तथा समृद्ध हो।

●

अनुक्रम

□

आशीर्वाद

प्रिय श्री जमनालालजी,

'जीवन-भाष्य' पढ़ गया हूँ। कृष्णमूर्तिजी के विचारों का तो क्या कहना? वे बड़े सहज ढंग से जीवन की गहराइयों में उतरते हैं और अत्यन्त सहज भाव से व्यावहारिक जीवन के सत्यों को मूर्तिमान् कर देते हैं। किसी प्रकार का दार्शनिक आडम्बर उनकी वाणी में नहीं मिलता, फिर भी गहन आध्यात्मिक सत्य को प्रत्यक्ष कर देते हैं। मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि आपने उनकी भाषा और शैली के अनुरूप अनुवाद किया है। साधारणतः अंग्रेजी से जो अनुवाद किये जाते हैं वे अंग्रेजी के वाक्य-विन्यासों के अनुसरण से बोझिल हो जाते हैं। आपके अनुवाद को पढ़कर ऐसा लगता है कि वह मौलिक रूप से सहज हिन्दी में लिखा हुआ है। भाषा बड़ी साफ-सुथरी और प्रवाहमयी है। निस्सन्देह आपने बड़ी कठिन साधना के द्वारा यह सहज अभिव्यक्ति प्राप्त की है। इस अनुवाद को पढ़कर श्री कृष्णमूर्तिजी के विचारों को हिन्दी पाठक 'सहजभाव से ग्रहण कर सकेगा। मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार करें।

आपका

[illegible signature]

वाराणसी

२२-६-'७४

उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा दो हजार रुपये के

विशेष पुरस्कार से पुरस्कृत

१. तीन पवित्र अहंवादी

कुछ दिनों पहले तीन व्यक्ति मिलने आये। उन तीनों में एक प्रकार का श्रद्धालुपन था, अहं-केन्द्रितता भी थी। उनमें एक सर्वसंग-परित्यागी संन्यासी था। दूसरा प्राच्यविद्या-विशारद था और विश्व-बन्धुत्व के प्रचार-कार्य में उसकी विशेष निष्ठा थी। तीसरा व्यक्ति आदर्श समाज-निर्माण का कार्य करता था। प्रत्येक अपने अंगीकृत कार्य की सिद्धि में प्राणपण से जुटा था। अन्य सब लोगों की प्रवृत्तियों तथा कार्यों के प्रति उन तीनों में तुच्छता की भावना थी। अपनी-अपनी विशिष्ट निष्ठा के कारण प्रत्येक की सामर्थ्य बढ़ रही थी। प्रत्येक में अपने विषय के प्रति उत्कट आस्था थी और एक प्रकार की कठोरता स्पष्ट दीख रही थी।

उन तीनों का कहना था कि अपने स्वीकृत ध्येय के लिए अपना ही नहीं, बल्कि अपने मित्रों का बलिदान करने की भी उनकी तैयारी है। आदर्श समाजवादी व्यक्ति में तो यह वृत्ति और भी स्पष्ट थी। यों वे तीनों ही नम्र और स्वभाव से सौम्य दिखाई दिये; बन्धुभाव का प्रचारक तो विशेष सौम्य स्वभाव का प्रतीत हुआ। इसके बावजूद अपने को श्रेष्ठ कोटि का समझनेवाले लोगों में जो विशेष प्रकार की असहिष्णुता और क्रूरता होती है, वह उन सबमें दिखाई देती थी। वे तीनों निःशंक रूप से समझते थे कि अपनी विशिष्ट निष्ठाओं के वे ही प्रेषित (वाहक) हैं, वे ही भाष्यकार हैं और उन्हींको उन निष्ठाओं का सच्चा ज्ञान है।

संन्यासी अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक कह रहा था कि "हम जो साधना कर रहे हैं, वह केवल आगे के जन्म के लिए है; क्योंकि, सब प्रकार की भौतिक एवं सांसारिक बातें मिथ्या हैं, इसका हमें ज्ञान हो चुका है और सामान्य सांसारिक जीवन का हमने त्याग किया है। अतएव इस जन्म में कुछ अधिक प्राप्ति की हमारी अपेक्षा नहीं है।" बाद में वह विश्वासपूर्वक यह भी कहने लगा कि "ध्यान-धारणा साधने के मार्ग में हमें कुछ कठिनाइयों का भास हो रहा है और वैयक्तिक दुर्बलता का भान भी हो रहा है। किन्तु अगले जन्म में तो हम अपने ध्येय तक निश्चित रूप से पहुँच ही जायेंगे।

अगले जन्म में वह एक विशिष्ट उच्च स्थिति को अवश्य प्राप्त करेगा, ऐसी संन्यासी की दृढ़ श्रद्धा थी। इस श्रद्धा के कारण ही उसे जीने में आनन्द का अनुभव हो रहा था और सार्थकता प्रतीत हो रही थी। हम दोनों काफी देर तक बातें करते रहे। लेकिन उनके सारे भाषण में उसका जोर केवल 'कल' पर, केवल भविष्य पर

हैं, यह साफ साफ प्रकट हो गया। कुल मिलाकर उसका कहना था कि भूतकाल का अस्तित्व है यह सच है, लेकिन भूतकाल को जो सार्थकता प्राप्त होती है, वह भविष्य के सम्बन्ध के कारण ही होती है। वर्तमान तो भविष्य तक पहुँचने का एक पड़ाव मात्र है। इतना ही उसका महत्व है। 'आज' का महत्त्व केवल 'कल' के कारण ही है। 'कल' का, 'भविष्य' का सचमुच में अगर कोई अस्तित्व नहीं है तो फिर प्रयत्न और पुरुषार्थ का भी कोई अर्थ है? फिर मनुष्य प्रयत्न ही क्यों करे? तुच्छ कीड़े-मकोड़े की तरह या गरीब गाय की तरह क्यों न रहा जाय?

संन्यासी का कहना था कि यह सम्पूर्ण जीवन भूतकाल में प्रारम्भ होकर क्षणिक वर्तमान से भविष्य की ओर बहनेवाला एक अखण्ड प्रवाह है। भविष्य में कोई विशिष्ट उच्च स्थिति प्राप्त करने के लिए या ज्ञानी, शक्तिशाली, दयावान् वगैरह बनने के लिए हमें वर्तमान का उपयोग करना चाहिए। वर्तमान और भविष्य दोनों ही नश्वर हैं। परन्तु वर्तमान के कार्य को जो सफलता प्राप्त होती है, वह भविष्य में ही होती है। आज तो केवल कल का साधन है। इसलिए उसे विशेष महत्त्व देने का या उसकी चिन्ता करने का कोई कारण नहीं है; हाँ; मात्र कल का ध्येय हमें सतत स्पष्ट रूप से सामने रखना चाहिए और उस ध्येय तक पहुँचने में यश प्राप्त करना चाहिए। कुल मिलाकर 'आज' या 'वर्तमान' के प्रति उसमें एक प्रकार की तुच्छता और अधीरता दिखाई दी।

विश्व-बन्धुत्व का प्रचारक अधिक विद्वान् था। उसकी भाषा भी काव्यमय थी। उसकी शब्द-योजना विशेष कुशल, मोहक और प्रभावपूर्ण थी। भविष्य के सम्बन्ध में उसने भी एक स्पष्ट चित्र रेखांकित किया था और उसमें अपने लिए एक उच्च स्थान की कल्पना की थी। भविष्य की इस मोहक कल्पना से उसका हृदय विमुग्ध था। उन काल्पनिक भविष्य के आधार पर उसने शिष्य-समुदाय भी जमा कर लिया था। बात करते-करते उसने कहा: "मृत्यु सचमुच सुन्दर है; क्योंकि, उसीके कारण उस दैवी स्थान तक अल्पकाल में पहुँचना सम्भव है। इस विश्वास के कारण ही इस दुःख-दैन्यमय जगत् में रहना मुझे कठिन नहीं लगता।"

इस जगत् को सुधारने और धरती पर स्वर्ग उतारने के लिए वह आकुल था। और इसी कारण मनुष्यमात्र में बन्धुभाव बढ़ाने के लिए वह उत्कट रूप से प्रयत्नशील था। उसका यह निश्चित मत था कि आज के इस जगत् में कोई भी संगठित कार्य करना हो तो उसके साथ-साथ महत्त्वाकांक्षा और उसके कारण निष्ठुरता तथा भ्रष्टता अपरिहार्य रूप में आ ही जाती है और संगठनात्मक कार्य पूरा करने के लिए तो थोड़ी-बहुत निष्ठुरता का आश्रय लेना ही पड़ता है। "हमारा कार्य मानव-जाति के कल्याण का है, इसलिए उसका कुछ अलग ही महत्त्व है, अतएव इस कार्य में जो-जो बाधाएँ उत्पन्न करेंगे, उन्हें सौम्यतापूर्वक ही क्यों न हो, लेकिन मार्ग से हटा देना ही होगा। अपने

कार्य के लिए निर्मित संघटना अत्यन्त मूल्यवान् है, इसलिए उसके विस्तार के आड़े कोई भी चीज आने देना उपयुक्त नहीं है।" दूसरों के लिए उनके भिन्न, स्वतन्त्र मार्ग हैं, लेकिन हमारा यह मार्ग कुछ विशेष महत्त्व रखता हैं। इसलिए उसके आड़े जो भी आयेगा, वह निःसंशय 'हमारे में से नहीं है', अपनी यह धारणा वह दृढ़तापूर्वक बता रहा था।

और उस तीसरे आदर्श समाजवादी व्यक्ति में ध्येयवाद और व्यवहारवाद का कुछ आश्चर्यजनक संमिश्रण था। उसका पवित्र ग्रन्थ पुराना न होकर नया था और उस पर उसकी अत्यन्त श्रद्धा थी। भविष्य में क्या-क्या घटनेवाला है, सब उसे ज्ञात था, क्योंकि, उसके पवित्र ग्रन्थ में सारा भविष्य लिखा रखा था। समाज में पहले वैचारिक गड़बड़ी पैदा की जाय और अपने संगठन-चातुर्य से उसका लाभ उठाकर अपने इच्छानुसार ध्येय की सिद्धि करा ली जाय, ऐसी सामान्यतः उसकी योजना थी। वर्तमान जगत् भ्रष्ट है, इसलिए उसका विध्वंस करना ही चाहिए; इस विध्वंस के बाद ही नवसमाज की रचना सम्भव होगी; भविष्य के लिए वर्तमान का बलिदान करना ही चाहिए; वर्तमान के मानव का नहीं, बल्कि भविष्य के मानव का ही महत्त्व है, यह उसका निश्चित मत था।

अपनी बात वह और विस्तार से समझाने लगा : "इस भावी मानव का निर्माण कैसे किया जाय, इसकी हमें पूरी कल्पना है। उसका मन और उसका हृदय दोनों हम विशिष्ट तंत्र से गढ़ सकते हैं। लेकिन कोई भी अच्छी चीज गढ़ने के लिए सर्वप्रथम हमारे हाथ में सत्ता आनी चाहिए। इस नवराज्य के निर्माण के लिए हम अपना तथा दूसरों का भी बलिदान करेंगे और जो भी हमारे आड़े आयेगा, उसे हम सीधे यमलोक पहुँचा देंगे; क्योंकि, महत्त्व साधनों का नहीं है। साध्य के लिए जिन-जिन साधनों का उपयोग किया जायगा, वे सब समर्थनीय ही होंगे।"

शान्ति के अन्तिम साध्य के लिए आज हिंसा के किसी भी रूप का सहारा लेना और व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के अन्तिम साध्य के लिए आज सत्ताशाही या अफसरशाही का उपयोग करना अपरिहार्य ही है, यह उसका दृढ़ विश्वास था।

"एक बार हमारे हाथ में सत्ता के आते ही वर्ग-रहित और पुरोहित-रहित नये जगत् के निर्माण के लिए हम सब प्रकार की दमनशाही का सहारा लेंगे। अपने मूलभूत सिद्धान्त से हम बिलकुल भी नहीं हटेंगे, वह सिद्धान्त सदैव ध्रुव रहेगा। लेकिन बदलती हुई परिस्थिति के अनुसार हमारी नीतियाँ बदलती रहेंगी। भावी मानव के निर्माण के लिए वर्तमानकालीन मानव का नाश अपरिहार्य है। हम अपनी योजना उसी नीति के अनुसार बना रहे हैं, संघटन खड़ा कर रहे हैं और तदनुसार कार्य कर रहे हैं।" यह बात वह अत्यन्त आत्मविश्वास से कह रहा था।

वह संन्यासी, वह विश्वबन्धुत्व का प्रचारक और वह आदर्श समाजवादी—ये सब कल के लिए, भविष्यत् के लिए जी रहे हैं। ऐहिक या सांसारिक दृष्टि से उन्हें महत्त्वाकांक्षी नहीं कहा जा सकता। यह सच है कि उन्हें आदर मान, सम्पत्ति अथवा लोक-प्रतिष्ठा प्राप्त करने की चाह नहीं है। लेकिन उनकी महत्त्वाकांक्षा सांसारिक महत्त्वाकांक्षा की तुलना में बहुत ही सूक्ष्म और भयानक है। नव-समाज-रचना के लिए जिस पक्ष के हाथ में सत्ता आयेगी, उस पक्ष के साथ, वह आदर्श समाजवादी, अपनी भावना के कारण एकरूप हो गया है। विश्व-बन्धुत्व के प्रचारक की आकांक्षा भविष्य में दैवी स्थान प्राप्त करने की है और संन्यासी की आकांक्षा अपना विशिष्ट ध्येय प्राप्त करने की है। कुछ महान् प्राप्त करने के और किसी भी उच्च स्थान पर पहुँचने की महत्त्वाकांक्षा के आवरण के नीचे ये सब अपने अहंकार का ही पोषण कर रहे हैं। इस अहंकार-विस्तार की भावना से इन तीनों का जीवन व्याप्त है। दुर्भाग्य की बात यह है कि अपना अपना विशिष्ट आदर्श निर्माण करने की उनकी यह उत्कट आकांक्षा ही वास्तविक शान्ति, यथार्थ बन्धुत्व और परम सौख्य के लिए बाधक बन रही है, इसका उन्हें पता तक नहीं है।

महत्त्वाकांक्षा किसी भी प्रकार की हो—किसी राजनीतिक पक्ष के लिए हो, व्यक्तिगत मुक्ति के लिए हो या आध्यात्मिक साध्य के लिए हो—हमेशा तत्काल करने की बात को कल पर टाल देने की सुविधा कर देती है। क्योंकि, आकांक्षा अथवा वासना सदैव भविष्य की ओर दृष्टि रखकर बैठी रहती है। भविष्य में कुछ विशेष हो जाने की इच्छा रखने का मतलब है वर्तमान में जो करना आवश्यक है उसे टालना। वस्तुतः आज का क्षण ही कल की अपेक्षा अधिक अर्थगर्भ होता है। इसी क्षण में सम्पूर्ण काल समाविष्ट है। वर्तमान क्षण की अर्थगर्भता की यथार्थ जानकारी होने का मतलब ही है काल के बन्धन से मुक्ति। और भविष्य में कुछ-न-कुछ रच डालने पर लक्ष्य केन्द्रित करते का अर्थ है अनादिकाल से चली आयी काल-शृंखला और दुःख-शृंखला को सतत बनाये रखना। भविष्य में कुछ विशिष्ट हो जाने की जो आकांक्षा है, उसमें चिन्मय अस्तित्व रह ही नहीं सकता। क्योंकि, वह सदैव वर्तमान में ही रहता है। ऐसी चिन्मयता में सतत रहना ही मूलभूत परिवर्तन का श्रेष्ठतम स्वरूप है। भविष्य में कुछ विशिष्ट होने के लिए दौड़धूप करते रहने का अर्थ है परम्परा के सातत्य में केवल ऊपरी और दिखावटी रूपान्तर। मूलभूत परिवर्तन केवल वर्तमान में ही, केवल चिन्मय रहने में ही निहित है। ●

२. एकरूपता

किसी व्यक्ति, समूह अथवा देश से हम एकरूपता क्यों साधते रहते हैं ? अपने को ख्रिस्ती, हिन्दू अथवा बौद्ध क्यों समझने लगते हैं ? किसी सम्प्रदाय अथवा पक्ष का अनुयायित्व क्यों स्वीकार कर लेते हैं ? किसी भी धर्म, पंथ, राजनीतिक दल अथवा विचार-प्रणाली से इस प्रकार एकरूपता साधते रहने के पीछे अनेक कारण हो सकते हैं। जैसे, दीर्घकाल से चली आयी परम्परा उसका एक कारण हो सकती है, वैसे ही पुरानी आदत, आन्तरिक उद्रेक, पूर्वग्रह अथवा अनुकरणशीलता आदि भी उसका कारण हो सकती है। कारण कोई भी हो, जब मनुष्य एक बार एकरूपता साधने लगता है तो किसी भी विषय का नये सिरे से आकलन करना उसके लिए असम्भव हो जाता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य राजनीतिक दल के प्रमुख के, धर्मगुरु के अथवा प्रिय नेता के हाथ का खिलौना मात्र बन जाता है।

एक व्यक्ति कह रहा था : "हम स्वयं 'कृष्णमूर्तिवादी' हैं और अमुक दूसरे पंथ का अनुयायी है।" इस विधान में, किसीकी भी विचार-प्रणाली को स्वीकार करने के इस तरीके में, एकरूपता प्राप्त करने के इस ढंग में क्या व्यक्त किया जा रहा है, इसकी तनिक भी जानकारी सम्भवत: उसको नहीं थी। वह व्यक्ति मूर्ख नहीं था, बल्कि पण्डित और सुसंस्कृत था और इस मामले में उसमें भावुकता भी नहीं थी। उसने यह बात असंदिग्ध रूप से ही कही थी।

भला, वह 'कृष्णमूर्तिवादी' क्यों बना था ? आज तक वह बहुतों का अनुयायी बन चुका था। अनेक संघों और संगठनों का सदस्य रह चुका था और अब अन्त में इस विशिष्ट व्यक्ति के विचारों से उसने एकरूपता साधी थी। उसकी बात से लगा कि उसका अब तक का वैचारिक प्रवास समाप्त हो गया है और उसने अब अपनी भूमिका हमेशा के लिए निश्चित कर ली है। वह कह रहा था कि अब हमने यह अन्तिम चुनाव किया है और अब इस भूमिका से हमें कोई विचलित नहीं कर सकता। इस नये विचार में ही वह अब सुख-समाधानपूर्वक स्थिर हो गया था। उसके लिए अब केवल इस विशिष्ट व्यक्ति के आज तक के विचारों में तथा भविष्य के प्रवचनों में जो-जो विचार प्रकट होनेवाले हैं, उसका उत्सुकतापूर्वक श्रवण और चिन्तन-मनन करना ही महत्त्वपूर्ण रह गया है।

किसी व्यक्ति से एकरूपता प्राप्त करना क्या सचमुच प्रीति का लक्षण है ? एकरूपता की भावना में अथवा कृति में नित्य नये प्रयोग करने की क्षमता रह भी सकती

है ? इसके कारण प्रीति और प्रयोगशीलता दोनों ही क्या मिट्टी में नहीं मिल जाते ? वस्तुतः एकरूपता का मतलब है यह मानना कि जिसके साथ हम एकरूप होते हैं, वह वस्तु हमें उपलब्ध हो गयी है और वह अवश्य ही हमारी मालिकी की बन गयी है। जहाँ मालिकी की भावना होती है, वहाँ प्रीति हो ही नहीं सकती। क्या यह बात एकदम स्पष्ट नहीं है ? किसी वस्तु पर एक बार स्वामित्व प्राप्त कर लेने पर हम उस वस्तु के तथा अपनी सुरक्षितता के विषय में निश्चिन्त हो जाते हैं। स्वामित्व प्राप्त करने का अर्थ है उस वस्तु का और स्वयं अपना संरक्षण करना—संरक्षण के कवच को अभेद्य बना डालना। एकरूपता-प्राप्ति की क्रिया एक प्रकार से स्थूल तथा सूक्ष्म प्रतिकार ही है। इसका मतलब है आत्मरक्षा के लिए दूसरों का प्रतिकार। आत्मरक्षण के लिए दूसरों का प्रतिकार करना क्या प्रीति है ? जहाँ स्वरक्षण की भावना होती है, वहाँ कभी भी प्रीति रह सकती है ?

प्रीति स्वरक्षण-विमुख होती है, आघाताभिमुख होती है। वह मृदु और ग्रहणक्षम होती है। उसकी तरल संवेदन-क्षमता पराकोटि की होती है। एकरूपता के कारण मनुष्य की संवेदन-क्षमता पूरी तरह बधिर हो जाती है। ऐसी स्थिति में, प्रीति और एकरूपता, दोनों एकत्र कैसे रह सकती हैं ? क्योंकि, वे एक-दूसरी के लिए मारक ही साबित होंगी। किसीसे एकरूपता पाना, विचार-प्रक्रिया की ही उपज है। मन विचारों की सहायता से अपना संरक्षण और विस्तार करता रहता है। अपने को कुछ विशिष्ट बनाने या कुछ खास प्राप्त करने के लिए मन को अन्य विरोधी बातों का प्रतिकार करना पड़ता है और अपना समर्थन भी करना पड़ता है। इसी प्रकार कुछ चीजों पर स्वामित्व स्थापित करना और प्रतिकूल विषयों का त्याग करना भी अपरिहार्य हो जाता है। कुछ विशेष होने के लिए सतत दौड़धूप करते रहने की यह प्रक्रिया एक बार शुरू हो जाने पर मन अधिक कठोर तथा अधिक कार्यक्षम बनता जाता है। किन्तु एकरूप होने की यह प्रक्रिया प्रीति हरगिज नहीं है। किसीसे भी एकरूप होने से मनुष्य की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है। किन्तु तरल संवेदन-क्षमता का उच्चतम स्वरूप केवल सम्पूर्ण स्वातन्त्र्य में ही रहता है।

क्या नये-नये प्रयोग करते रहने के लिए किसीसे एकरूप होने की आवश्यकता है ? क्या यह कृति ही नये शोध और सत्य के दर्शन में घातक नहीं है ? आत्मसंशोधन के लिए नये-नये प्रयोग करने की प्रवृत्ति यदि मनुष्य में नहीं होगी, तो सत्य का दर्शन नहीं होगा और सत्यदर्शन से जिस परमानन्द का लाभ होता है, वह भी असम्भव हो जायगा। एकरूप होने के कारण सम्पूर्ण सत्यान्वेषण की प्रक्रिया ही खतम हो जाती है; क्योंकि, यह बौद्धिक आलस्य का ही एक प्रकार है। इसी तरह वह दूसरों के द्वारा अनुभूति प्राप्त करने का भी एक प्रकार है। इसलिए वह पूरी तरह भ्रममय और मिथ्या होता है।

वास्तविकता के साक्षात् अनुभव के लिए एकरूप होने की प्रवृत्ति सम्पूर्ण रूप से नष्ट होनी चाहिए। इसी तरह नये-नये प्रयोग करने के लिए सबसे पहले सब प्रकार का भय दूर होना जरूरी है। भय ही वास्तविकता के अनुभव में बाधक होता है। किसीसे भी एकरूप होने की इच्छा मनुष्य में भय के कारण ही पैदा होती है। यह एकरूपता कभी किसी व्यक्ति से होती है, कभी किसी समूह से, कभी किसी विचार-प्रणाली से अथवा ऐसी ही किसी अन्य बात से। भय ही मनुष्य को आत्मरक्षण के लिए दूसरों का प्रतिकार करने में प्रवृत्त करता है और प्रतिकूल का विरोध करने को विवश करता है। ऐसी भयग्रस्त और स्वरक्षणग्रस्त अवस्था में सत्यान्वेषण के लिए जीवन के असीम सागर में नाव छोड़ देने का साहस करना मनुष्य के लिए कैसे संभव है? स्वरक्षणार्थ मानव-मन सतत जो-जो युक्ति प्रयुक्तियों की योजना करता है, उनका सम्पूर्ण ज्ञान हुए बिना सत्य अथवा सौख्य का उदय सम्भव नहीं है। आप यदि स्वरक्षण के हेतु से किनारे पर ही लंगर डालकर बैठ जायेंगे, तो लम्बा प्रवास करना अशक्य हो जायगा। एकरूप होना मनुष्य के लिए एक प्रकार का आश्रयस्थान है। एक बार इसका चयन कर लेने पर उसके रक्षण की आवश्यकता भी खड़ी हो ही जाती है और वस्तुस्थिति यह है कि जिस-जिसका रक्षण किया जाता है, उसका विनाश भी जल्दी ही हो जाता है। इस प्रकार एकरूप होने की प्रवृत्ति स्वतः का रक्षण करने के सतत प्रयास में स्वयं अपने ही नाश को बुलाती है। जिन भिन्न-भिन्न विषयों के साथ मनुष्य एकरूप होता है, उनमें सतत परस्पर संघर्ष चलता रहता है।

किसीसे भी एकरूप होने के लिए अथवा उसके एकाध प्रकार का विरोध करने के लिए हम जितनी दौड़धूप करते रहेंगे, उतना ही एकरूप होने का रहस्य-आकलन दूर होता जायगा। एकरूप-प्रक्रिया का आन्तरिक स्वरूप और बाह्य रूप का सम्पूर्ण दर्शन होने पर अपनी आन्तरिक आवश्यकता के कारण ही — एकरूप होने के बाह्य आविष्कार का दर्शन होने पर ही सत्यदर्शन और परम सौख्य की प्राप्ति सम्भव है। जो किसीसे भी एकरूप हो जाता है, वह कभी समझ ही नहीं सकता कि स्वातन्त्र्य क्या है। और, सत्य का उदय तो केवल स्वातन्त्र्य में ही, विमुक्तता में ही होता है।●

३. गप्पी-वृत्ति और चिन्तातुर-वृत्ति

गप-शप में समय बिताने की वृत्ति और सदा चिन्ताग्रस्त बने रहने की वृत्ति— इन दोनों मानवीय वृत्तियों में कितनी अद्भुत समानता है! दोनों वृत्तियाँ अस्वस्थ चित्त की उपज हैं। अस्वस्थ मन सदैव विचित्रता से भरे हुए नये-नये आविष्कार और नयी-नयी वृत्तियाँ चाहता है, किसी-न-किसी विषय में बराबर उलझे रहना

चाहता है, अधिकाधिक चमत्कारपूर्ण संवेदन की प्यास उसे लगी रहती है। इसी तरह तात्कालिक कुतूहल की तृप्ति करनेवाले विषयों की अखण्ड आवश्यकता भी उसे अनुभव होने लगती है। और इन सब चीजों की प्यास गप-शप से अंशतः पूरी होती है।

गप-शप में रमे रहने की यह वृत्ति उत्कटता और छटपटाहट से सर्वथा विपरीत है। गप-शप करते हुए हम दूसरों के बारे में जब कभी मौज में या कुत्सित भाव से बात करते हैं, तो वस्तुतः स्वयं से भागने के लिए ही करते हैं। लेकिन इस तरह अपने से निरन्तर भागकर हम अपने चित्त को अधिकाधिक अस्वस्थ बना डालते हैं। वस्तुतः अपने मन की अस्वस्थता ही हमारी इस पलायन-वृत्ति का सही स्वरूप है। स्वयं की इस अखण्ड अस्वस्थता के कारण ही अनेक लोग दूसरों के झमेलों की चर्चा करने में विशेष मग्न रहते हैं। अनेक पत्र-पत्रिकाओं में गप-शप सम्बन्धी शीर्षक या स्तम्भ रहते हैं। इसी तरह हत्या, मारपीट, तलाक आदि सनसनीखेज समाचारों की सामग्री को कई लोग उत्सुकतापूर्वक पढ़ते हैं। दूसरों के झमेलों की चर्चा करने की रुचि ही लोगों के इस प्रकार के वाचन से प्रकट होती है।

दूसरों का हमारे बारे में क्या मत है, यह जानने के लिए जैसे हम विशेष आतुर रहते हैं, वैसे ही हम दूसरों की सब प्रकार की जानकारी प्राप्त करने को उत्सुक रहते हैं। अपने बारे में अनुकूल मत बनाने अथवा बने हुए को कायम रखने के लिए, अथवा अन्य लोग हमसे विशेष बड़े नहीं हैं यह प्रमाणित करने के लिए हम बड़े ग्रंथों का, अथवा आप्त पुरुषों का आधार लेते हैं और उनकी पूजा करते हैं। इसी प्रवृत्ति में से शिष्टता और सत्ता की पूजा का नग्न अथवा सूक्ष्म रूप पैदा होता है। इसके कारण हम अधिकाधिक बहिर्मुख बनते जाते हैं। अन्तरतम बिलकुल रिक्त हो जाता है और हम जितने बहिर्मुख बनते जाते हैं, उतनी ही अधिक उत्तेजक संवेदना की ओर मन को उलझाये रखनेवाले विविध प्रकारों की आवश्यकता हमें प्रतीत होने लगती है। आखिर हमारा मन कभी शान्त नहीं रह पाता। किसी भी विषय की गहराई में जाने की सामर्थ्य ही उसमें नहीं रह जाती।

गप-शप की वृत्ति अस्वस्थ मन का प्रकटीकरण है। लेकिन सरासर चुप्पी साध लेना भी शान्त अथवा स्वस्थ रहने का लक्षण नहीं है। किसी विषय से तटस्थ रहने से अथवा उसका त्याग करने से मनःशान्ति कभी नहीं होती, बल्कि हम वास्तव में जैसे हैं और जैसी प्रत्यक्ष वस्तुस्थिति है, उसी रूप में उसे जान लेने से मनःशान्ति का उदय होता है। वस्तुस्थिति कभी अचल या स्थिर नहीं होती। उसके यथार्थ-बोध के लिए अति तरल संवेदन-क्षमता आवश्यक होती है।

यदि हम सतत दूसरों के विषय में चिन्ता न करें तो हमें लगता ही नहीं कि हम जीवित भी हैं। अनेक लोगों की यही समझ है। बहुतों की धारणा ही बन गयी है कि

हम एकाध सवाल या समस्या के हल के लिए दौड़-धूप करते रहना ही जीवित रहने का सही लक्षण है। समस्यारहित जीवन की हम कल्पना ही नहीं कर सकते। किसी समस्या का हल खोजने में हम जितने अधिक उलझे होते हैं, उतने अधिक हम अपने को तत्पर एवं जागरूक समझते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि विचार से उत्पन्न किसी प्रश्न की चिन्ता करते रहने से यदि मन पर सतत तनाव पड़ता है, तो मन अधिक कुन्द बन जाता है, उसकी संवेदन-क्षमता खतम हो जाती है और वह श्रान्त-क्लान्त बन जाता है।

किसी प्रश्न में मन को सतत उलझाये रखने की प्रवृत्ति क्यों होती है? चिन्ता से क्या कभी कोई प्रश्न हल होता है? उलटे जब मन शान्त और निःस्तब्ध हो जाता हैं, तभी प्रश्न का हल ढूंढ़ना सम्भव होता है। वास्तव में अनेक लोगों को शान्त मन का जरा भय ही लगता है। शान्त और निःस्तब्ध होने में भय लगता है। क्योंकि, उन्हें यह भय बना रहता है कि मन की शान्त अवस्था में न मालूम अपने ही किस रूप का हमें दर्शन हो। इस भय को टालने का एक उपाय है सतत दूसरों की तरह-तरह की चिन्ता करना। हम कैसे हैं, यह ढूंढ़ निकालने का भय मन को लगने लगा कि फिर वह बराबर अपना रक्षण करना चाहता है। और सदैव अस्वस्थ रहना ही ऐसे मन के रक्षण का उत्तम साधन बन जाता है

हमारे मन का ऊपर-ऊपर का जो ज्ञात स्तर है, उस पर सतत तनाव पड़ते रहने से अथवा हमेशा की आदत के कारण, या चारों ओर की परिस्थितियों के दबाव से उस ज्ञात स्तर की हमारी वृत्तियाँ अस्वस्थ बन जाती हैं। उनमें प्रक्षोभ पैदा हो जाता है। मन की यह जो अस्वस्थता है, यह जो ऊपर-ऊपर की उथली क्रियाशीलता है, भिन्न-भिन्न विषयों के पीछे दौड़ने की जो वृत्ति है, वह आधुनिक जीवन-प्रणाली के कारण अधिक पोषण पाती हैं। लेकिन इस तरह की जीवन-प्रणाली स्वीकार करना भी स्वरक्षण का ही एक प्रकार है। स्वतः का रक्षण करने का मतलब है अन्य का प्रतिकार करना। यह वृत्ति वास्तविकता का यथार्थ-बोध प्राप्त करने में बाधक होती है।

गप-शप में रमने की वृत्ति की तरह ही चिन्तातुर-वृत्ति में भी उत्कटता और गम्भीरता का आभास पैदा होता है। लेकिन इस उत्कटता और गम्भीरता का जब हम अधिक सूक्ष्मता से अवलोकन करते हैं, तो दिखाई देने लगता है कि यह आभासिक गम्भीरता उत्कट आन्तरिक छटपटाहट से उत्पन्न नहीं हुई है, बल्कि चिन्ता के विषय के उथले आकर्षण के कारण ही हुई है। लोगों के आकर्षण के विषय बराबर बदलते रहते हैं—गप-शप की वृत्ति और चिन्तातुर-वृत्ति के विषय भी। इस प्रकार का बदलाव पुरानी परम्पराओं का केवल एक नया रूप होता है। इस नये रूप में भी वह पुरानी गप-शप और चिन्तातुर-वृत्ति ज्यों की त्यों कायम रहती है। मनुष्य को

जब मन की अस्वस्थता के स्वरूप का यथार्थ दर्शन होगा, तभी गप-शप की वृत्ति और चिन्तातुरता का अन्त होगा। त्याग, बुद्धिपुरस्सर नियन्त्रण अथवा अनुशासनबद्धता की मदद से मनःशान्ति कदापि उदित नहीं होगी। उल्टे, इनके कारण मन और भी अधिक कुन्द बनेगा और तब वह अधिकाधिक संवेदनशून्य, सीमित और बद्ध बन जायगा।

केवल कुतूहल किसी भी विषय का यथार्थ-बोध प्राप्त करने का उपाय नहीं है। आत्मदर्शन से ही यथार्थ-बोध होता है। दुःख सहन करनेवाला मनुष्य अपने दुःख की तरफ केवल कुतूहल से नहीं देखता। केवल बौद्धिक विकल्पों में रमा हुआ कुतूहल आत्मदर्शन में बाधक बनता है। कुतूहल की तरह ही बौद्धिक विकल्पन भी अस्वस्थ चित्त का निदर्शक है। अस्वस्थ-चित्त मनुष्य चाहे जितने दैवी वरदानों से युक्त हो, वह अस्वस्थता के कारण यथार्थ-बोध और परमसौख्य से वंचित ही रह जाता है।

४. विचार और प्रीति

संवेदना और भावना से छलकता हुआ विचार प्रीति नहीं है। जहाँ विचार होता है, वहाँ प्रीति नहीं होती। क्योंकि विचार स्मृति पर आधारित होता है और स्मृति प्रीति नहीं है। अपने प्रिय व्यक्ति के बारे में हम विचार करते हैं। लेकिन वह प्रीति नहीं है। हम अपने प्रिय मित्र की कितनी ही बातों को याद करते रहते हैं। उसकी आदतों को, उसके रहन-सहन के तरीकों को, उसके बरताव को हम स्मरण करते हैं। अपने पारस्परिक सुख-दुःख के प्रसंगों का विचार करते हैं। किन्तु विचारों या स्मृति के ये दृश्य प्रीति नहीं होते। भेद और अन्तर निर्माण करना ही विचार का गुण है। हमें दिशा का, काल का तथा वियोग या दुःख का ज्ञान विचार-प्रक्रिया से ही होता है। जब विचार-प्रक्रिया रुकती है, तभी प्रीति का उदय होता है।

विचार-प्रक्रिया से ही स्वामित्व की भावना उत्पन्न होती है। और फिर इसीसे जाने-अनजाने मत्सर (ईर्ष्या) की भावना भी बलवती होने लगती है। जहाँ मत्सर होता है, वहाँ प्रीति होती ही नहीं। अनेक लोगों की दृष्टि में मत्सर का ग्रास बनना प्रीति का एक लक्षण माना जाता है। वस्तुतः मत्सर विचार-प्रक्रिया में से ही उद्‌भूत होता है। विचार-प्रक्रिया में निहित भावना का अंश मत्सरात्मक प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट होता है। हमारी उत्कट भावना रहती है कि कोई अनन्य रूप से सर्वथा हमारा बन जाय अथवा हम ही किसीके बन जायँ। जब कोई चीज इस भावना के आड़े आती है, तब अन्तःकरण में एक प्रकार की रिक्तता या सूनापन निर्माण होता है। फिर प्रीति के स्थान पर मत्सर ही उस रिक्तता को भरता है। ऐसा इसलिए

होता है कि विचार-प्रक्रिया ही प्रीति का स्थान छीनकर जम जाती है। इस विचार-प्रक्रिया में से ही अनेक उलझनें और दुःख पैदा होते हैं।

किसीकी यदि हमें याद नहीं आयी अथवा उसके बारे में कोई विचार नहीं आया, तो लगता है, मानो उस व्यक्ति पर हमारी प्रीति ही नहीं है। लेकिन जब उस व्यक्ति का विचार करते हैं, तब क्या वह प्रीति ही होता है? सामान्यतः जिस मित्र पर हमें प्रीति महसूस होती है, उसके बारे में हमने कोई विचार नहीं किया तो ऐसा लगता है, मानो कोई भयंकर बात हो गयी है। इसी प्रकार किसी मृत मित्र की याद नहीं आयी अथवा उसके बारे में कोई विचार नहीं आया तो ऐसा लगता है, मानो उसके प्रति हमारा प्रेम समाप्त हो गया है, या उसके प्रति हम बेईमान हो गये हैं। हमारी यह हृदयशून्य अवस्था है, ऐसा भी हम महसूस करते हैं। और तब तत्काल हम उस व्यक्ति की याद करने लगते हैं। उसकी प्रतिमाओं को एकत्र करने लगते हैं अथवा आँखों के सामने खड़ी करने लगते हैं। लेकिन ऐसी मनोनिर्मित बातों से या स्मरण से अपने अन्तःकरण को भर डालना एक प्रकार से प्रीति के लिए अपने अन्तः-करण के द्वार बन्द करना ही है। जब हम मित्र के सान्निध्य में रहते हैं, तब उसका कभी विचार भी करते हैं? लेकिन अब वह निकट नहीं है, इसीलिए उसके सान्निध्य में रहते हुए और अब मृतप्राय अनुभवों का तथा घटनाओं का निर्माण विचार-प्रक्रिया के सहारे नये सिरे से करने लगते हैं और फिर भूतकाल में घटित बातों के इस पुनरुज्जीवन को ही 'प्रीति' का नाम दे दिया जाता है। इस प्रकार मृतानुभवों से अथवा स्मृतियों से चिपके रहना और जीवन से दूर हो जाना ही प्रीति है, ऐसा अनेक लोगों को लगता है। जो घटित हो चुका है, मृत बन गया है, उसीके सहवास में अर्थात् भूतकाल में ही हम जीते रहते हैं। इसी कारण हम स्वयं भी मृतवत् बन जाते हैं। इस प्रेतमयता को ही प्रीति कहा जाने लगता है।

विचार-प्रक्रिया ही मनुष्य को प्रीति से दूर रखती है। विचारों के अन्दर ही भावनाओं की उलझनें निर्माण होती रहती हैं, प्रीति के अन्दर नहीं। विचार ही प्रीति में सबसे बड़ा बाधक है। प्रत्यक्ष वस्तुस्थिति में तथा उसके हमारे मनोनुकूल आदर्श रूप में विचार ही भेद उत्पन्न करता है। इस भेद पर ही, आदर्श की इस कल्पना पर ही, नीतिमत्ता अधिष्ठित की जाती है। इस आदर्शानुगामी नीतिमत्ता की कसौटी पर जिन्हें नीतिमान् अथवा अनीतिमान् समझा जाता है, उन दोनों को वास्तव में प्रीति का स्पर्श हुआ ही नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि समाज-व्यवहार में व्यक्तियों के आपसी सम्बन्धों को व्यवस्थित बनाये रखने के लिए जो नीति-व्यवस्था खड़ी की जाती है, वह मनोकल्पित ही होती है। लेकिन ऐसी नीति-व्यवस्था से बँधे हुए सम्बन्ध का अर्थ प्रीति नहीं है। नीति-व्यवस्था के कारण यह सम्बन्ध सीमेण्ट की तरह अधिकाधिक गाढ़ा और कड़ा बनाया जाता है। विचारों से कभी भी प्रीति पैदा

नहीं होती। प्रीति का संवर्धन करना विचार के लिए सम्भव ही नहीं। क्योंकि पौधों की तरह प्रीति की सार-सँभाल नहीं की जा सकती। प्रीति की सार-सँभाल की अभिलाषा भी विचार से ही पैदा होती है।

यदि हम अपने जीवन की ओर ध्यानपूर्वक देखें, तो सहज प्रतीत होगा कि हर क्षेत्र में विचार का कितना प्रावल्य है। लेकिन उसका प्रीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। जो विचार के द्वारा निर्मित हुआ है, वह विचार की सहायता से ही समझ में आता है। लेकिन जो विचार से निर्मित ही नहीं हुआ है, वह विचार के और मन के घेरे में आ ही नहीं सकता। फिर प्रीति है क्या चीज ? प्रीति एक ऐसा विलक्षण नित्य-वर्तमान 'अस्तित्व' (होना) है, जहाँ स्मृतिजन्य विचार का कोई अस्तित्व नहीं है। लेकिन प्रीति की व्याख्या करने का अर्थ है विचार-प्रक्रिया का भोग बनना। यह प्रीति नहीं है।

विचारों की सहायता से प्रीति का बोध प्राप्त करने के बदले, पहले हमें यह समझ लेना चाहिए कि विचार है क्या चीज। जान-बूझकर विचार का त्याग कर देने से प्रीति का दर्शन नहीं हो जाता। विचार का त्याग करने के बदले, गहराई में जाकर विचार को समझ लिया जाय तो विचार सहज रूप से रुक जाता है और हम उससे मुक्त हो जाते हैं। लेकिन इसके लिए स्वयं का गहरा ज्ञान प्राप्त करना जरूरी है। उथले अभिनिवेश से और आग्रही विधानों से यह नहीं सधता। विचार-प्रक्रिया के सम्पूर्ण अंगोपांगों का वास्तविक दर्शन यान्त्रिक पुनरुच्चारण से नहीं होता, वह शान्त अवधान से ही सम्भव है। अवधान सतत जागृत नहीं रहा और विचार-प्रक्रिया के समस्त अंगोपांगों का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं लेते रहे, तो प्रीति के उदय के लिए आवश्यक परिस्थिति ही निर्माण नहीं हो सकती। ●

५. एकाकीपन और वियुक्तता

सूर्यास्त हो चुका था और घने अन्धकार से व्याप्त आकाश की पार्श्वभूमि पर वृक्षों की काली-काली आकृतियाँ सुहावनी लग रही थीं। नदी का चौड़ा और विशाल पाट निःस्तब्ध और शान्त था। क्षितिज पर अभी-अभी चन्द्रोदय हुआ था। दो ऊँचे वृक्षों के बीच से चन्द्रबिम्ब धीमे-धीमे ऊपर उठ रहा था। लेकिन अभी इतना ऊपर नहीं आया था कि पृथ्वी पर वृक्षों की छाया पड़ सके।

नदी-किनारे की चढ़ाई चढ़कर हम ऊपर पहुँचे। गेहूँ के हरे-हरे खेतों से सटी हुई पगडंडी पकड़ी, जो किसी जमाने से चली आ रही थी। हजारों-लाखों लोग इस पर से गुजर चुके थे। पुरातन परम्परा का और शान्त निःस्तब्धता का निराला ही

वैभव इस पगडंडी को प्राप्त था। यह पगडण्डी सघन अमराई में से, इमली के पेड़ों में से, खेतों में से और पुराने ध्वस्त मन्दिर के बगल से जाती थी। बीच-बीच में फूलों की क्यारियाँ थीं। पुष्पों के मधुर परिमल से वातावरण महक रहा था। रैन-बसेरे के लिए पक्षी पेड़ों का आसरा ले रहे थे। एक बड़े जलाशय में अभी-अभी चाँदनी चमकने लगी थी। उस संध्या प्रकृति ने मौन धारण किया था। पेड़ तटस्थ खड़े थे। अपने मौन पर उन्होंने चारों ओर के अन्धकार का कम्बल ओढ़ लिया था। कुछ ग्रामीणजन गप-शप करते हुए साइकिलों से निकल गये और वहाँ पुनः गम्भीर निःस्तब्धता और शान्ति छा गयी। नितान्त एकाकीपन की अनोखी और विलक्षण शान्ति !

यह नितांत एकाकीपन टीसदायक, भयप्रद और व्याकुल-वियुक्तता या अकेलापन नहीं है। यह एकाकीपन सम्पूर्ण विश्व का अस्तित्वमय 'होना' है। यह निष्कलंक, स्वयंपूर्ण और समृद्ध है। उस इमली के पेड़ का केवल सहज रूप से 'होना' ही उसका 'अस्तित्व' है। यह एकाकीपन उस इमली के पेड़ जैसा ही सहज होता है। यह अग्नि अथवा फूल जैसा सहज होता है। इस एकाकीपन में जैसे स्वयं की निष्कलंकता की जानकारी नहीं होती, वैसे ही स्वयं की असीमता की भी जानकारी नहीं होती। इस एकाकीपन में ही चारों ओर की सृष्टि से सुसंवाद साधा जाता है। ऐसा एकाकीपन सर्वसंग-परित्याग से अथवा स्वयंनिर्मित कवच में अपने को बद्ध कर लेने से नहीं सधता। वासना के उदर से पैदा होनेवाली सारी आशा-आकांक्षाओं का, समस्त हेतुओं का और ध्येयों का परिमार्जन होने पर ही यह एकाकीपन प्रकट होता है। यह मन के विविध व्यापारों अथवा प्रयत्नों की परिणति नहीं है। केवल इच्छा-मात्र से यह एकाकीपन उदित नहीं होता। सम्पूर्ण सृष्टि से सुसंवाद न सधने से जो टीस होती है, उसे टालने के लिए ऐसी इच्छा भी एक प्रकार का पलायन ही है।

इस एकाकीपन से सर्वथा भिन्न एक टूटापन होता है, एक वियुक्तता होती है। यह भय और दुःखजन्य व्याकुल एकाकीपन है। अहं के समस्त व्यापारों की परिणति इस टूटेपन में ही होती है। मनोव्यापारों की यह प्रक्रिया अपना अधिकाधिक विस्तार करनेवाली हो या संकोच करनेवाली, हमेशा धाँधली, संघर्ष और दुःख ही पैदा करती है। इस टूटेपन से या वियुक्तता से उस सहज एकाकीपन का निर्माण कभी सम्भव नहीं। एक का अस्त हुए बिना दूसरे का उदय होता ही नहीं। सहज एकाकी-पन अभेदरूप होता है, जबकि अकेलापन भेद पर ही आधारित होता है। जो एकाकी होता है, वह लचीला और ग्रहणक्षम होता है। इसीलिए वह अक्षय होता है। जो एकाकी होता है, उसीका उस असीम से, कारणातीत से सुसंवाद होता है। इस एकाकीपन में जीवन अखण्ड और कालातीत होता है। ऐसे एकाकीपन की मृत्यु नहीं होती। जो एकाकी होता है, वह 'नहीं है', ऐसा कभी नहीं होता।

चन्द्रमा अभी-अभी वृक्षों के माथे पर दीखने लगा था और अब वृक्षों की छाया घनी और काली होने लगी थी। उस छोटे-से देहात की नदी के किनारे-किनारे हम लौट रहे थे कि एक कुत्ता भूंकने लगा। नदी का पाट इतना शान्त, निःस्तब्ध था कि आकाश की चाँदनी और पुल पर के दीपों को उस निस्तब्धता ने मानो जलाशय में पकड़ रखा था। उधर ऊपर, ऊँचाई पर बालक हँस-खेल रहे थे। एक छोटे बालक का रोना भी सुनाई दे रहा था। मछुए अपने जाल ठीक-ठाक कर रहे थे। एक निशा-विहग धीरे से पास से उड़ता हुआ निकल गया। नदी के उस पार कोई गा रहा था। उस गीत के शब्द स्पष्ट और मार्मिक थे। पुनः वह सर्वव्यापी एकाकीपन सर्वत्र व्याप्त हो गया।

६. शिष्य और गुरु

मुझे बताया गया है कि 'मैं एक विशिष्ट अदृश्य गुरु का ('मास्टर' का) शिष्य हूँ।' उसने कहना प्रारम्भ किया : "सचमुच, क्या मैं उसका शिष्य हूँ ? इस विषय में आपका अभिप्राय जानने की मेरी प्रबल इच्छा है। आप जानते ही हैं कि मैं एक विशिष्ट संस्था का सदस्य हूँ। इस संस्था के कार्य के प्रेरक अदृश्य गुरु का प्रतिनिधित्व करनेवाले प्रकट नेता ने मुझसे कहा है कि संस्था के लिए मैंने जो कार्य किया है, उसीके कारण मुझे उनका शिष्यत्व प्रदान किया गया है। प्रथम कोटि का साधक बनने का योग मुझे इसी जन्म में प्राप्त हो सकता है, यह भी मुझे कहा गया है।" इन सब बातों पर उसकी अत्यन्त श्रद्धा दिखाई दी। हम बहुत देर तक इस विषय में बात करते रहे।

किसी भी प्रकार का पारितोषिक मिलने पर मनुष्य को अत्यन्त सन्तोष होता है। मनुष्य जब सांसारिक आदर-मान के प्रति कुछ उदासीन हो जाता है, तब तो इस प्रकार का आध्यात्मिक पारितोषिक उसे और भी सन्तोषदायी प्रतीत होने लगता है। संसारी जीवन में जब पर्याप्त यश प्राप्त नहीं होता, तब तो आध्यात्मिक दृष्टि से विशेष उच्चकोटि की विभुति ने जिसे मान्यता दी है, उस संघ की सदस्यता प्राप्त होना और भी सन्तोषजनक प्रतीत होता है। क्योंकि, एक महान् ध्येय के लिए कार्य करनेवाले संघ के हम अविभाज्य अंग हैं, ऐसी भावना रहती है और इस भव्य कल्पना के लिए त्याग करनेवालों को तथा आज्ञाकारी की तरह उसका अनुशासन माननेवालों को कुछ-न-कुछ पारितोषिक मिलना चाहिए, यह धारणा सहज ही बलवती होती है। इस दृष्टि से यह केवल एक पारितोषिक नहीं होता, बल्कि आध्यात्मिक विकास के लिए दी गयी एक मान्यता होती है। अथवा किसी सुसंगठित संस्था में कार्यकर्ता

अधिक अच्छा कार्य करे, अतः उसको प्रोत्साहन देने के लिए उसकी कार्यक्षमता का गौरव किया जाता है, वैसा ही यह गौरव है।

जिस लौकिक जगत् में यश की ही पूजा की जाती है, वहाँ व्यक्तिगत प्रगति के ऐसे प्रयत्न हों, यह बात मानी गयी है। ऐसे प्रयत्नों को बढ़ावा भी दिया जाता है। लेकिन लौकिक के परे समझे जानेवाले जगत् में भी 'तुम किसी अदृश्य महात्मा के ('मास्टर' के) शिष्य हो' ऐसा यदि कोई दूसरा आपसे कहे या स्वयं आपको ही ऐसा लगे तो आप शोषण के विविध रूपों के ग्रास बने बिना नहीं रहेंगे। दुर्भाग्य की बात यह है कि इस रूप में कुचले जानेवाले और कुचलनेवाले, दोनों को ही अपने पारस्परिक सम्बन्धों में कुछ उदात्त मिल गया है, ऐसा लगता है। अपने स्वसन्तोष के इस विस्तार को 'आध्यात्मिक उन्नति' कहा जाने लगता है। और जब इस प्रकार के गुरु-शिष्य सम्बन्ध में गुरु अथवा 'मास्टर' परदेश में होता है, अदृश्य होता है अथवा अन्य कारणों से साक्षात् नहीं हो सकता, अथवा उसके साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध आ नहीं पाता है, अथवा गुरु-शिष्य सम्बन्ध का व्यवहार मध्यस्थ के मार्फत ही चलता है, तब तो इसको अत्यन्त क्रूर और घृणास्पद रूप प्राप्त होता है। यहाँ गुरु अतिशय दूर होने के कारण और उसके साथ कभी प्रत्यक्ष सम्बन्ध न आने के कारण मध्यस्थ के मार्फत चलनेवाले गुरु-शिष्य सम्बन्ध में आत्मवंचना को और भव्य किन्तु बचपना, से भरे महाभ्रमों को स्वैर संचार करने का मनमाना अवसर मिलता है। इतना ही नहीं, सत्ता एवं कीर्ति के पीछे लगनेवाले धूर्त लोग अपने स्वार्थ के लिए इस भ्रम का दुरुपयोग भी कर लेते हैं।

जहाँ विनम्रता नहीं होती, वहीं पारितोषिक का प्रलोभन और दण्ड के भय का छिड़काव होता है। यह विनम्रता आध्यात्मिक साधना अथवा त्याग-तपस्या के कारण कभी प्राप्त नहीं होती। विनम्रता साधना से प्राप्त होनेवाला साध्य नहीं है अथवा बुद्धि के द्वारा संवर्धित किया जा सकनेवाला सद्गुण नहीं है। जिस सद्गुण का संवर्धन बुद्धि के द्वारा करना पड़ता है, वह सद्गुण के रूप में शेष रहता ही नहीं। क्योंकि, संवर्धित गुण प्राप्तव्य का ही एक स्वरूप होता है, अथवा किसी-न-किसी क्षेत्र में उच्चांक प्रस्थापित करने का ही एक ढंग होता है। खास रूप से संवर्धित सद्गुण में आत्मविसर्जन बिलकुल नहीं होता, बल्कि अहंभाव का ही सुप्त आग्रह वहाँ निहित होता है।

जहाँ विनम्रता निवास करती है, वहाँ श्रेष्ठ-कनिष्ठ, शिष्य-गुरु के भेद का अस्तित्व ही नहीं रहता। गुरु और शिष्य में अथवा सत्य और स्वतः आपमें जब तक भेद रहेगा, तब तक सत्य का यथार्थ आकलन सम्भव नहीं। सत्यदर्शन में कोई गुरु नहीं होता, न कोई शिष्य होता है। न कोई उच्च श्रेणी का होता है, न कोई निम्न

श्रेणी का। बीते क्षण का भार न ढोते हुए और उसका अवशेष भी न बचाते हुए जो प्रतिक्षण वर्तमान में स्फुरित होता है, उसका दर्शन ही सत्य दर्शन है।

इनाम और सजा के कारण अहंभाव अधिकाधिक दृढ़ होता रहता है और फिर विनम्रता के लिए गुंजाइश ही नहीं रहती। विनम्रता भविष्य में साध्य होनेवाली नहीं, वह तो वर्तमान में ही रहनेवाली वस्तु है। आपको विनम्र 'बनाया' नहीं जा सकता। वस्तुतः भविष्य में कुछ विशेषता प्राप्त करने के पीछे लगने का अर्थ है आत्म-प्रतिष्ठा को सतत जारी रखना। फिर यह आत्म-प्रतिष्ठा सद्गुण-संवर्धन के आवरण के नीचे छिपी रहती है। कुछ विशेषता प्राप्त करने की, यश प्राप्त करने की मनुष्य की आकांक्षा कितनी विलक्षण और प्रबल होती है! लेकिन यशस्विता और विनम्रता एक साथ नहीं रह सकती। फिर भी 'आध्यात्मिकता' का शोषण करनेवाले और शोषित होनेवाले यही करना चाहते हैं और इसीमें से संघर्ष और दुःख पैदा होता है।

उस गृहस्थ ने पूछा : "क्या आप यह कहना चाहते हैं कि गुरु अथवा महात्मा का अस्तित्व ही नहीं है और अमुक गुरु का शिष्य होने की यह मेरी धारणा निरा भ्रम और केवल आत्मवंचना ही है?"

वस्तुतः अदृश्य गुरु अथवा महात्मा का अस्तित्व है या नहीं — इस बात का कोई महत्त्व नहीं है। इस बात का महत्त्व केवल आध्यात्मिकता का शोषण करनेवालों को और गुण-संवर्धक संघों तथा संस्थाओं को ही प्रतीत होता है। लेकिन परम सौख्य-प्रदायी सत्य के शोध में जो मनुष्य निकल पड़ा है, उसकी दृष्टि में गुरु या महात्मा का होना या न होना सम्पूर्ण रूप से अप्रस्तुत है। वस्तुतः मालिक और मजदूर के बीच भेद को महत्त्व देना और गुरु-शिष्य के बीच भेद को महत्त्व देना, दोनों समान ही हैं। अदृश्य गुरु का अस्तित्त्व है या नहीं, इस बात का कोई महत्त्व नहीं है। इसी तरह आध्यात्मिक दीक्षाप्राप्त व्यक्तियों में उच्च-नीच श्रेणी रहती है या नहीं, इसका वस्तुतः कोई महत्त्व नहीं है। महत्त्व यदि किसी वस्तु का है तो हम स्वयं क्या हैं, इसे जानने का ही है। ऐसा आत्म-संशोधन जब तक नहीं होता, तब तक विचार का अथवा विचारात्मक युक्तिवाद का कोई अधिष्ठान नहीं होता। सबसे पहले बिना अपने को जाने सत्य क्या वस्तु है, यह जानना कैसे सम्भव है? क्योंकि, जब तक आत्म-दर्शन नहीं होगा, तब तक भ्रम का निर्माण होते रहना अपरिहार्य है। तुम यह हो अथवा वह हो, ऐसा यदि कोई कहे और हम उस पर विश्वास रखें, यह केवल बचपने की-सी बात है। इसलिए इस लोक में अथवा परलोक में इनाम दिलाने का आश्वासन देनेवालों से आपका सावधान रहना ही इष्ट है।

७. अमीर और गरीब

हवा गरम तो थी ही, उसमें घुटन भी बहुत थी। कोलाहल से शहर का सारा वातावरण अस्त-व्यस्त हो गया था। समुद्री हवा भी गरम थी। अलकतरे और पेट्रोल की उग्र गंध बीच-बीच में उसमें मिल जाती थी। सूर्यास्त हो चुका था और सागर की लहरों पर सांध्य-रंग का प्रतिबिम्ब झिलमिला रहा था। लेकिन हवा की उष्णता अब भी कम नहीं थी। कमरे में बैठे लोग बाहर निकल पड़े। हम भी बाहर निकलकर सड़क पर चलने लगे।

हरी तेज शलाका की तरह चटकदार गहरे रंग के तोते रैन-बसेरे के लिए पेड़ की ओर जा रहे थे। वे सब सबेरे-सबेरे उत्तर में हरे-भरे खेतों, रसदार फल-बागों की ओर तथा खुली बनश्री की ओर उड़ जाते और रात को विश्रान्ति के लिए शहर के पेड़ों की ओर लौट आते। उनकी उड़ान कभी भी शान्त, स्थिर नहीं होती थी। कर्कश ध्वनि करते हुए और अपना चटकदार हरा रंग झलकाते हुए वे स्वैर उड़ते थे। दूसरे पक्षियों की तरह वे कभी भी सीधे नहीं उड़ते। कभी दाहिनी ओर, तो कभी बायीं ओर डोलते हुए, और कभी-कभी अचानक बीच में ही किसी पेड़ पर ठिठक जाते। उड़ते समय वे दूसरे सारे पक्षियों की अपेक्षा अत्यन्त चंचल और उच्छृङ्खल प्रतीत होते थे। फिर भी अपनी गहरी लाल चोंच और प्रकाश को सार्थकता दिलानेवाले आकर्षक गहरे हरे रंग के कारण वे कितने लुभावने और मोहक दीखते थे। उधर दूसरी ओर गिद्धों की वह 'हुआ-हुआ' और डरावनी आकृतियाँ गोल-गोल घेरा डालकर रात्रि के आराम के लिए अन्त में ताड़-खजूर आदि के पेड़ों पर डेरा डाल रही थीं।

एक मनुष्य बाँसुरी बजाता हुआ आ रहा था। वह किसीका नौकर लगता था। बाँसुरी बजाते हुए ही वह टेकड़ी की राह पर चलने लगा। हम भी उसके पीछे-पीछे जाने लगे। बाँसुरी-वादन न रोककर वह गाँव की ओर जानेवाले एक सँकरे रास्ते की ओर मुड़ा। कोलाहल से भरे शहर में यह बाँसुरी-वादन अत्यन्त आश्चर्यजनक लग रहा था! संगीत के वे श्रुतिमधुर स्वर अन्तःकरण में गहरे और गहरे पैठ रहे थे। कुछ दूर तक हम बाँसुरीवाले के पीछे-पीछे चलते रहे। अनेक छोटे-छोटे रास्तों को पार कर आखिर हम एक बड़े रास्ते पर आये। यहाँ दीपों की जगमगाहट थी। कुछ आगे बढ़ने पर दिखाई दिया कि रास्ते के एक ओर पलथी मारकर बहुत लोग आराम

से बैठे हैं। बाँसुरी-वादक उनमें जाकर मिल गया। हम भी उन्हींमें जाकर बैठ गये। वह बाँसुरी बजाने लगा। वहाँ बैठे हुए लोगों में मोटर-चालक, नौकर और रातपाली के चौकीदार आदि थे। वहाँ बहुत-से लड़के भी बैठे थे। दो-एक कुत्ते भी थे। सड़क पर मोटरों का आना-जाना बराबर जारी था। एक मोटर में बत्ती जल रही थी। सुन्दर वेश-भूषा में एक महिला अकेली ही उसमें बैठी थी। एक ओर मोटर पास आकर रुक गयी। मोटर-चालक हम लोगों के बीच आकर बैठ गया। वहाँ बैठे हुए सब लोग हँसते-खेलते गप-शप कर रहे थे। हाथ उठा-उठाकर बोलते थे और हँस रहे थे। लेकिन किसी भी कारण से बाँसुरी-वादन में व्यत्यय नहीं पक रहा था। सर्वत्र आनन्द फैल रहा था।

कुछ देर बाद हम लोग वहाँ से उठ गये और समुद्र की तरफ जानेवाले रास्ते पर चलने लगे। उस रास्ते पर अमीरों की प्रकाश से जगमगाती कोठियाँ थीं। अमीरों के चारों ओर एक विशिष्ट प्रकार का वातावरण होता है। धनी लोग कितने ही प्राचीन परम्परावादी और सुसंस्कृत हों, आँखों में न गड़नेवाले बरताव की झलक उनमें कितनी भी हो, तो भी एक प्रकार की स्थिर और किसीको भी अपने निकट न फटकने देनेवाली दूरी उनमें दीखती ही है। उनकी निश्चिन्त-वृत्ति के और कठोर मनके पत्थर को फोड़ना अत्यन्त कठिन होता है। असल में वे सम्पत्ति के स्वामी नहीं, बल्कि दास होते हैं। सम्पत्ति को अपनी स्वामिनी बनने देना तो मृत्यु से भी अधिक भयंकर है। इन धनिकों का अहंकार लोक-कल्याण का रूप धारण करता है। वे अपने को सम्पत्ति के विश्वस्त (ट्रस्टी) समझते हैं। उस सम्पत्ति में से वे लोक-कल्याण-निधि और विश्वस्त-निधि अलग निकालकर रखते हैं। वे अपने को ही कर्ता, निर्माता और दाता समझते हैं। वे देवी-देवताओं के मन्दिर और प्रार्थनालय खड़े करते हैं, लेकिन दर-असल सम्पत्ति ही उनकी आराध्य देवी है। चारों ओर इतनी भयानक दीनता और दरिद्रता होते हुए भी जो लोग अमीर बनते हैं, उनकी चमड़ी गेंडे की तरह मोटी और कड़ी होनी चाहिए। ऐसे लोगों में से कभी-कभी कुछ व्यक्ति प्रश्न पूछने, चर्चा करने अथवा सत्य-शोधन के लिए आते रहते हैं। लेकिन क्या अमीरों को और क्या गरीबों को, सत्य-दर्शन होना अत्यन्त कठिन है। हम अमीर बनें, हमें सत्ता प्राप्त हो, ऐसी आकांक्षा गरीबों में भी होती ही हैं, और अमीर तो अपने कर्मों के जाल में पहले ही पूरी तरह उलझे होते हैं। फिर भी वे थोड़े-बहुत श्रद्धालु होते हैं। इस कारण सत्य-दर्शन की दिशा में जाने के लिए दौड़-धूप का साहस भी वे बीच-बीच में करते हैं। बाजार-भाव को लेकर ही वे लाभ-हानि के दाँव लगाते हैं, ऐसी बात नहीं है; बल्कि अन्तिम सत्य के विषय में भी वे इसी तरह दाँव लगाते हैं। वे दाँव तो दोनों तरफ लगाते हैं, लेकिन सफल वे उसीमें होते हैं, जिसे वे मन से चाहते हैं। उनकी सारी श्रद्धा का, पूजा-विधि का, आशाओं का और भय का सत्य से कोई

सम्बन्ध नहीं होता। क्योंकि, उनका हृदय रिक्त होता है। बाहरी दिखावा जितना अधिक होता है, हृदय का दैन्य भी उतना ही अधिक होता है।

वस्तुतः उस जगत् का त्याग करना सामान्यतः सरल होता है, जिसमें सम्पत्ति, सुख-सुविधा और मान्यता है। लेकिन त्याग की दृष्टि से सबसे कठिन एक ही बात है—किसी-न-किसी प्रकार का बड़प्पन प्राप्त करने की दुर्दमनीय हविस। इसका त्याग करने के लिए एक अलग प्रकार की महान् प्रज्ञाशीलता और दर्शन-क्षमता होनी चाहिए। सम्पत्ति के कारण प्राप्त होनेवाली सामर्थ्य जैसे सत्य-दर्शन में बाधक है, वैसे ही विशेष प्रकार की नैसर्गिक देनों तथा कर्तृत्व-शक्ति से प्राप्त होनेवाली सामर्थ्य भी सत्य-तर्शन में बाधक है। सम्पत्ति या नैसर्गिक देनों के कारण उत्पन्न होनेवाला विशिष्ट आत्मविश्वास वस्तुतः अहंभाव की ही रचना है। ऐसे आत्मविश्वास का अथवा ऐसी सामर्थ्य का त्याग करना कठिन हो, तो भी अशक्य नहीं होता। लेकिन बड़े बनने की अभिलाषा के पीछे जो शक्ति और जो आवेग होता है, वह अत्यन्त सूक्ष्म और गुप्त होता है। लेकिन यह सब अहंविस्तार ही है। अहंविस्तार कैसा भी हो—वह सम्पत्ति के द्वारा सधनेवाला हो अथवा सद्गुणवर्धन के द्वारा प्राप्त होनेवाला हो - सदैव संघर्ष ही उत्पन्न करता है। और इस संघर्ष में से ही गड़बड़ तथा विरोध उद्भूत होते रहते हैं। बड़े होने की आकांक्षा से भरा हुआ मन कभी शान्त नहीं हो सकता। क्योंकि, शान्ति किसी भी साधन से या काल-क्रिया से साध्य होनेवाली चीज नहीं है। निःशब्दता अथवा शान्ति आकलनशील अवस्था है। उलटे, कुछ विशिष्ट होने की आकांक्षा काल-क्रम का ज्ञान पैदा करती रहती है। और काल-क्रम के ज्ञान को जागृत रखना वास्तविकता के आकलन को दूर छोड़ते रहना ही है। 'मैं यह बनूंगा' यह आकांक्षा केवल आभास है और यह आभास आत्मप्रतिष्ठा की भावना से उत्पन्न होता है।

जैसे वह शहर अशान्त, अस्थिर (चंचल) था, वैसे ही सागर भी अशांत, चंचल था। परन्तु उसकी अशांतता में अथाहता और गूढ़ रहस्य ओतप्रोत था। सांध्य-तारा अभी-अभी आकाश में चमकने लगा था। आदमियों और मोटरों से अस्त-व्यस्त उस रास्ते से हम लौटने लगे। राह के किनारे एक भिखारी पड़ा था। भुखमरी के कारण वह इतना गलित-देह हो गया था कि उसे जगाना कठिन था। और उधर निकट के ही सार्वजनिक उद्यान में प्रशस्त हरियाली बिछी हुई थी, जिसके चारों ओर फूलों की सुन्दर क्यारियाँ लहलहा रही थीं !

८. पूजा-विधि और धर्मान्तर

एक प्रशस्त परिसर में वृक्षराजि से घिरा हुआ गिरजाघर था। कई गोरे और अधगोरे लोग गिरजाघर जा रहे थे। यूरोप के गिरजाघरों की अपेक्षा इसमें अधिक रोशनी थी। हाँ, उसकी भीतरी रचना और व्यवस्था यूरोपीय गिरजाघरों जैसी ही थी। भीतर धार्मिक विधि अभी-अभी प्रारम्भ हुई थी। उस विधि में एक प्रकार का सौन्दर्य था। विधि सम्पन्न होते ही लोग बाहर निकलने लगे। लेकिन बहुत ही कम लोग आपस में बातचीत कर रहे थे। हम सब अपनी-अपनी राह से निकल गये।

दूसरे खण्ड में एक अन्य धर्म का मन्दिर था। संस्कृत मंत्रोच्चारण के साथ वहाँ हिन्दू-पूजा-विधि चल रही थी। वहाँ एकत्र जनसमुदाय की संस्कृति यूरोपीय ख्रिस्ती संस्कृति से बिलकुल भिन्न थी। संस्कृत शब्दों के उच्चारण में एक प्रकार की भेदकता और सामर्थ्य होती है। एक विलक्षण सघनता और गहन गम्भीरता उसमें होती है।

किसी मनुष्य का श्रद्धान्तर, धर्मान्तर या सिद्धान्तान्तर सम्भव है, लेकिन इस परिवर्तन के कारण यह सम्भव नहीं कि मनुष्य में ही परिवर्तन हो जाय और उसे सत्यदर्शन हो जाय। श्रद्धा सत्य नहीं है। अपने मन अथवा मत में परिवर्तन करके मनुष्य किसी विशिष्ट विचारधारा अथवा श्रद्धा में स्थिर हो सकता है। लेकिन ऐसा आग्रही मत अथवा श्रद्धा सत्य या ईश्वर नहीं है। सत्य या ईश्वर किसी श्रद्धा पर, पूर्वनिश्चित सिद्धान्त पर अथवा पूर्वानुभूति पर आधारित न होकर एक साक्षात् अनुभव होता है। किसी विवक्षित श्रद्धा के कारण यदि कोई अनुभव हुआ हो, तो वह एक पूर्वनिश्चित प्रतिक्रिया ही होगा। कोई अनुभव अनपेक्षित रूप से और स्वयंस्फूर्ति से भी हो सकता है। लेकिन यदि इस स्वयंस्फूर्त अनुभव के आधार पर आगे के अनुभव को मूर्तरूप देने लगेंगे, तो यह पुराने अनुभव की स्मृति का सातत्य जारी रखनेवाला ही बनेगा। असल में यह दूसरा अनुभव चिन्मय वर्तमान को मृत-स्मृति द्वारा दिया गया उत्तर होता है। स्मृति सदैव मृत होती है। चिन्मय वर्तमान के स्पर्श से ही उसमें सजीवता का आभास होता है।

धर्मान्तर अथवा श्रद्धान्तर का मतलब है धार्मिक पूजा-विधि का एक रूप छोड़कर दूसरे अधिक आकर्षक रूप को स्वीकार करना। पर इससे सत्य का द्वार नहीं खुलता। धर्मान्तर अथवा श्रद्धान्तर के कारण मनुष्य को केवल एक नया सन्तोष,

नया समाधान प्राप्त होता है। और, हर तरह का स्वसन्तोष सत्यदर्शन में बाधक ही साबित होता है। फिर भी सुसंगठित धर्म या पंथ मनुष्य को एक नया सन्तोष देने का ही कार्य करते हैं। न्यूनाधिक विचारशील सिद्धान्त, अन्धश्रद्धा और आशा का लोभ देकर वे हमारा मत-परिवर्तन करते रहते हैं। अधिक आकर्षक पिंजरे का प्रलोभन वे आपके सामने रखते हैं। इन पिंजरों का सुखद लगना या न लगना हमारी व्यक्तिगत वृत्ति पर निर्भर करता है। वह कैसा भी लगे, फिर भी वह रहेगा पिंजरा ही।

लोगों का यह धार्मिक अथवा राजनीतिक श्रद्धान्तर विभिन्न सांस्कृतिक स्तरों पर अनादिकाल से अखण्ड रूप से होता आ रहा है। अपने-अपने धार्मिक अथवा आर्थिक-वैचारिक पिंजरों में लोगों को अटकाये रखने से ही विभिन्न संगठन और उनके नेता परिपुष्ट होते रहते हैं। इस प्रक्रिया में पारस्परिक शोषण के सिवा और कुछ नहीं होता। हाँ, सत्य इन सब विचारस्वरूपों से, भयों से और आशाओं से परे होता है। इसलिए सत्य के परम सौख्य का शोध करनेवाले को सब तरह की विचार-धाराओं और पूजा-विधियों के बन्धन से पूरी तरह मुक्त हो जाना चाहिए।

विभिन्न धार्मिक और राजनीतिक विचारों के दायरे में रहने में मानव -मन को एक प्रकार की सुरक्षितता और सामर्थ्य मिलती है और इसी कारण भिन्न-भिन्न धार्मिक या आर्थिक संगठनों को स्थैर्य और सातत्य प्राप्त होता रहता है। प्रत्येक संगठन में जैसे आग्रही और आत्यंतिक कट्टर प्रकृति के परम्परावादी होते हैं, वैसे ही नवागत उत्साही सदस्य भी होते हैं। दोनों के कारण संगठन की पूँजी और जायदाद सुरक्षित रहती है और वह बढ़ायी भी जाती है। और ऐसे विशाल संगठन की प्रतिष्ठा तथा सामर्थ्य के कारण यथार्थ और व्यावहारिक बुद्धिमत्ता के पीछे लगनेवाले लोग इन संगठनों के प्रति आकर्षित होते हैं। जब पुरानी विचार-धाराएँ मानव-मन को समाधान और सजीवता देने में असमर्थ प्रतीत होने लगती है, तब मानव-मन अधिक समाधानकारक और अधिक सामर्थ्यवान् श्रद्धा और सिद्धान्तों की तरफ दौड़ता है। यह मानव-मन बाह्य परिस्थिति से निर्मित होता है और अपने को बहिर्मुखी संवेदना से तथा चित्तवृत्ति की एकरूपता की मदद से पुष्ट करता है एवं पुनरुज्जीवन प्राप्त करता है। इसी कारण विधि-निषेधों के नियमों से और विभिन्न विचार-धाराओं से मन चिपका रहता है। इस तरह जब तक गतानुभूति से मन प्रभावित रहता है, तब तक सत्य का शोध अथवा सत्य का संचरण अशक्य हो जाता है। संगठन से गाढ़ चिपकाव की वृत्ति के कारण मन सत्य-शोधन के लिए दूर जा पड़ता है।

पूजा-विधि की प्रक्रियाएँ कुछ ऐसा वातावरण निर्माण करती है कि उसमें भाग लेनेवालों को प्रतीत होता है कि वे सन्मार्ग पर चल रहे हैं। सामूहिक अथवा वैयक्तिक पूजा-अर्चना की पद्धति से मन को एक प्रकार की शान्ति प्राप्त होती है, वैसे ही उबा

देनेवाले दैनन्दिन जीवन-व्यवहार से मन को ये विधियाँ एक सर्वथा भिन्न वातावरण में ले जाकर छोड़ देती हैं। इन विधियों में एक प्रकार का सौंदर्य और सुव्यवस्था भी दिखाई देती है। लेकिन मूलगामी विचार करने पर ऐसा ज्ञात होने लगता है कि ये विधियाँ उत्तेजक पदार्थ के सेवन जैसी ही हैं। समस्त उत्तेजक पदार्थों की तरह ही वे मानव-मन और हृदय दोनों को शीघ्र ही बधिर बना डालती हैं। पूजा-अर्चनादि के कर्मकाण्डों की मन को जल्दी ही आदत पड़ जाती है। उत्तेजक पदार्थों की तरह ही वह जीवन की एक आवश्यकता बन जाती है। फिर उसके बिना मनुष्य का कुछ चलता नहीं। ऐसी आवश्यकता का भास और तदनुसार दैनिक और साप्ताहिक ध्यान-धारणा आदि में समय लगाना— यह आध्यात्मिक जीवन को प्रकाश देने में कारणीभूत है और जीवन की समस्याओं का सामना करने के लिए मनुष्य को समर्थ बनाती है, ऐसा भी माना जाता है। परन्तु इनके अन्तरंग में प्रवेश करने पर ज्ञात होता है कि कर्मकाण्डों की ये सारी प्रक्रियाएँ यान्त्रिक पुनरावृत्ति के दाम्भिक रूप ही है। ये सब मनुष्य को आत्म-दर्शन से दूर ले जानेवाली प्रतिष्ठित और विमुग्ध करनेवाली युक्तियाँ हैं। वस्तुतः आत्मदर्शन के अतिरिक्त किसी भी कृति को अर्थगर्भता प्राप्त हो ही नहीं सकती।

मन्त्रोच्चारण की, विशिष्ट शब्दों की या शब्द-समुच्चयों की आवृत्तियाँ तात्कालिक उत्तेजक प्रतीत हों, तो भी वे मन को जागृत अवस्था में भी निद्रित बनाने में कारणीभूत होती है। ऐसी निद्रावस्था में कुछ विशिष्ट अनुभव अवश्य आते हैं, लेकिन वे सब मन के द्वारा निर्मित कीमिया ही हैं। ऐसे विशिष्ट अनुभव मनुष्य को कितने ही सामाधानकारक प्रतीत हों, वे सब मायावी, आभासमात्र ही होते हैं। क्योंकि, किसी भी प्रकार के पुनरावर्तन से अथवा साधना की पद्धतियों से सत्यदर्शन कभी सम्भव नहीं। सत्य किसी भी यांत्रिक प्रक्रिया से मूर्त होनेवाला साध्य, ध्येय या परिणाम नहीं है। वह ऐसी चीज नहीं है कि जिसका निर्माण मन कर सके। अतएव मन के द्वारा सत्य का आवाहन करना कभी शक्य नहीं है।

९. ज्ञान

गाड़ी के आने में देर थी, अतः हम बाट जोहते हुए खड़े थे। प्लैटफार्म पर गंदगी बहुत थी, शोरगुल भी काफी था। हवा भी जरा दमघोटू ही थी। और भी अनेक लोग गाड़ी के इंतजार में खड़े थे। बच्चों का रोना-चिल्लाना सुनाई पड़ रहा था। एक महिला बच्चे को स्तनपान करा रही थी। फेरीवाले जोर-जोर से आवाज लगा-

कर अपनी वस्तुएँ बेचने में लगे थे। चाय-कॉफी की बिक्री तो बराबर जारी ही थी। कुल मिलाकर वहाँ खूब भाग-दौड़, व्यग्रता और शोरगुल था। हम प्लैटफार्म के इस छोर से उस छोर तक आराम से टहल रहे थे और चारों तरफ का दृश्य भी निरख रहे थे। इतने में एक आदमी हमारे निकट आया और टूटी-फूटी अंग्रेजी में बोलने लगा : मैं आपको बहुत देर से घूमते हुए देख रहा हूँ, इसलिए मेरी उत्कट इच्छा हुई कि आपसे बात करूँ।" वह आगे कहने लगा : "अब इसके आगे मैं अपना जीवन पवित्रतापूर्वक बिताऊँगा। आगे मैं कभी सिगरेट नहीं पीऊँगा।" इन अत्यन्त भावपूर्ण शब्दों में उसने स्वयं होकर आश्वासन दिया। उसने यह भी बताया कि वह अशिक्षित है और रिक्शा चलाता है। उसकी आँखों में एक प्रकार की सामर्थ्य थी और चेहरे पर मुक्त हास्य खेल रहा था।

कुछ देर बाद गाड़ी आयी। डिब्बे में चढ़ने के बाद एक व्यक्ति ने स्वयं ही अपना परिचय दे दिया। वह एक सुप्रसिद्ध विद्वान् था। अनेक भाषाएँ भी जानता था। अपनी बातचीत में वह विभिन्न भाषाओं के अवतरण सहज ही झोंक देता था। विद्या और आयु, दोनों से वह प्रौढ़ था। सुखैषी और महत्त्वाकांक्षी भी था। उसने ध्यान-धारणा पर बोलना शुरू किया। लेकिन उसकी जानकारी स्वानुभव पर आधारित नहीं है, ऐसा उसके कथन से लग रहा था। ग्रंथ उसके एकमात्र भगवान् थे और जीवन की ओर देखने का उसका दृष्टिकोण परम्परावादी तथा प्रचलित रूढ़ि की मान्यतावाला था। उसका निश्चित मत था कि माता-पिता द्वारा तय किया हुआ और छोटी उम्र में किया गया विवाह ही योग्य है। नीति-नियमों के कड़ाई से पालन का उसका आग्रह था। अपनी जाति और अपने वर्ग की श्रेष्ठता का उसे विशेष भान था। उसका मत था कि विभिन्न श्रेष्ठ-कनिष्ठ जातियों में बौद्धिक क्षमता की दृष्टि से न्यूनाधिक अन्तर पड़ना स्वाभाविक है। ऐसा दिखाई दिया कि उसे अपनी विद्वत्ता का और अपने प्रतिष्ठित स्थान का विशेष गर्व था।

सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा था और रेलगाड़ी प्रकृतिरम्य प्रदेश में से गुजर रही थी। मवेशी घरों की ओर लौट रहे थे। सुनहरे धूलिकणों से वातावरण भर गया था। उधर आकाश में प्रचण्ड काले-काले बादल जमा हो गये थे। उनकी गड़-गड़ाहट भी बीच-बीच में दूर से सुनाई पड़ती थी। गहरे हरे खेतों के दर्शन में कितना आनन्द निहित होता है! उस मुड़नेवाले पहाड़ की तलहटी में बसा वह गाँव अत्यन्त मोहक दीख रहा था। अब अँधेरा फैलने लगा था। एक बड़ा नीलवर्ण हिरण खेत में चर रहा था। लेकिन घड़-घड़ आवाज करती हुई रेलगाड़ी की ओर उसने गर्दन उठाकर देखा तक नहीं।

दो अंधकारमय कालखण्डों के बीच चमकनेवाली प्रकाश-किरण का नाम 'ज्ञान' है। लेकिन इन अँधेरे कालखण्डों को भेदकर ज्ञान उस पार नहीं जा सकता। जैसे

इंजन को कोयले की आवश्यकता है, वैसे ही किसी भी कार्य के तन्त्र को जानने के लिए ज्ञान आवश्यक है। लेकिन अज्ञात के अमर्यादित क्षेत्र में तो इस ज्ञान का प्रवेश हो नहीं सकता। वह अज्ञात इस ज्ञात के जाल में कभी फँसता नहीं है। उस अज्ञात के स्पर्श के लिए ज्ञात को पूरी तरह एक तरफ रख देना आवश्यक है। लेकिन यह करना कितना कठिन है!

हमारा सम्पूर्ण विचार हमेशा गतानुभव पर ही आधृत होता है। इसलिए हम सदैव भूतकाल में ही जीते और विचरते हैं। सम्पूर्ण भूतकाल ज्ञात की मर्यादा में रहता है और इससे जो-जो स्फुरित होता है, वह सब भूतकालात्मक होने के कारण वर्तमान को, उस अज्ञात चिन्मय को सदैव ढँक देता है। वह अज्ञात चिन्मय वर्तमान में ही संचरित होता है, भविष्य में नहीं। भविष्य वस्तुतः अज्ञात और अनिश्चित वर्तमान की तरफ दुर्लक्ष्य करके अपने मार्ग को आगे-आगे ढकेलता जानेवाला भूत और भूतकाल ही होता है। भूत और भविष्य के बीच के इस मध्यन्तर (मध्यावकाश) को, इस रिक्तता को, बीच-बीच में चमकनेवाली ज्ञान-किरणों से हम भर डालते हैं और इस प्रकार वर्तमान की रिक्तता को ढँक देते हैं। लेकिन इसीमें जीवन का चमत्कार छिपा रहता है।

ज्ञान और विद्या का व्यसन भी अन्य व्यसनों की तरह ही है। रिक्तता, अकेलापन, विफलता और नहींपन का भय—इन सबसे दूर ले जानेवाला वह केवल बहाना होता है। ज्ञान का प्रकाश वस्तुतः एक प्रकार का नाजुक और झीना-झीना आवरण होता है। इस आवरण के नीचे जो घनी कालिख होती है, उसकी थाह मानव-मन नहीं पा सकता। इस कालिख का, इस अज्ञान का मन को काफी भय लगता है और इससे दूर भागने के लिए वह ज्ञान का, नाना विचार-प्रणालियों का, आशाओं का और विकल्पों का सहारा लेता रहता है। और उस अज्ञात को शोध निकालने में ज्ञान ही बाधक साबित होता है। इस ज्ञान को एक ओर सरका देना भय को आमंत्रण देना ही है। वैसे ही दर्शन का हमारा जो एकमेव साधन मन है, उसका त्याग करना यानी किसी भी अनपेक्षित दुःख या सुख के अभिमुख बनना है। लेकिन इस तरह ज्ञान का त्याग करना उसे एक ओर रखना बिलकुल आसान नहीं। हाँ, अज्ञानी होना ज्ञान से मुक्त होना नहीं है। अज्ञान वस्तुतः स्वयं के अवधान का अभाव है। हमारा अहं किस प्रकार रहता और बरतता है, इसका बोध न होते हुए जो ज्ञान के रूप में पहचाना जाता है, वह असल में अज्ञान ही है। इसलिए जब आत्मदर्शन हो जाता है, तभी ऐसे ज्ञान से मनुष्य मुक्त होता है।

कुछ-न-कुछ हमेशा प्राप्त करने के लिए और संग्रह करने के लिए अपने मनोव्यापारों की प्रक्रिया कैसे भिन्न-भिन्न रूप धारण करती है और इन प्रक्रियाओं के

पीछे क्या हेतु होता है, इसका जब यथार्थ दर्शन होता है, तभी ज्ञान से मुक्ति मिलना सम्भव है। संग्रह करते रहने की यह इच्छा ही जीवन में सुरक्षितता और निश्चितार्थता प्राप्त करने की इच्छा है। यह इच्छा कभी किसीसे एकरूपता प्राप्त कर अपना हेतु पूरा करना चाहती है, तो कभी प्रतिकूल बात का निषेध करके और कभी अनुकूल बात का समर्थन करके अपना कार्य साधना चाहती है। परन्तु ऐसी इच्छा के अन्दर जो भय पैदा होता है, उसके कारण जगत् और जीवन से सहज सधनेवाला सुसंवाद नष्ट हो जाता है। सुसंवाद में संग्रह की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। संग्रह-वृत्ति के कारण मनुष्य का स्वसंकोच होता रहता है और संकुचित 'स्व' के रक्षण के लिए जो कुछ किया जाता है. वह सब प्रतिकारात्मक ही होता है। ज्ञान के नाम से जो पहचाना जाता है, वह इस प्रतिकार-वृत्ति को बल ही प्रदान कराता है। ज्ञाग और विद्या की पूजा एक प्रकार की मूर्ति-पूजा ही है। अतएव यह कभी भी सम्भव नहीं कि इस प्रकार के ज्ञान से संघर्ष और दुःख समाप्त हो जायँगे। ज्ञान का चोगा हमारे जीवन की वैचारिक उथलपुथल और दुःख को केवल ढँक सकता है, लेकिन मुक्त तो कर ही नहीं सकता। अहंकेन्द्रित मनोव्यापार मनुष्य को सत्य तक कभी नहीं ले जा सकता और सत्याधिष्ठित सौख्य तक भी कभी नहीं पहुँचा सकता। ज्ञान प्राप्त करते रहने का अर्थ है अज्ञात, असीम सत्य से दूर जा पड़ना। ●

१०. प्रतिष्ठा

"मैं कोई लोभी-वृत्ति का नहीं हूँ। मेरा थोड़े में निभ जाता है। मानव-जीवन के सर्वसामान्य दुःख मेरे हिस्से में भी आये हैं, फिर भी मुझ पर 'जीवन की कृपादृष्टि ही रही है।" ऐसा वह जोर देकर कह रहा था। वह किसीके भी फेर में न पड़नेवाला शान्त आदमी था। उसकी यही इच्छा थी कि सुख-सुविधा के जीवन को विचलित करनेवाली कोई बाधा खड़ी न हो। "मेरी अब कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं है। लेकिन मेरे पास जो कुछ है, उतना मेरे सुख-स्वास्थ्य के लिए और मेरे परिवार के कल्याण के लिए रहे, यही मेरी भगवान् से प्रार्थना है।" ऐसा उसने आगे कहा। उसके मित्र और नाते-रिश्तेदार अनेक समस्याओं और संघर्षों में उलझ गये थे—लेकिन सौभाग्य से ऐसा कुछ उसके साथ नहीं हुआ, अतः वह कृतज्ञता अनुभव कर रहा था। वह तेजी से प्रतिष्ठित बनता जा रहा था। वह प्रतिष्ठित लोगों के चुनिंदा वर्ग में से है, इस कल्पना से वह धन्यता महसूस कर रहा था। पत्नी के अलावा उसे अन्य स्त्रियों का आकर्षण कभी नहीं रहा और पति-पत्नी की रोज की कहासुनी को

छोड़ दें, तो सब तरह से उसका वैवाहिक जीवन शान्त और सरल ही था। उसमें कोई खास व्यसन भी नहीं था। वह देव-पूजा करता था और बारम्बार प्रभु-कृपा की याचना भी करता था। थोड़ी देर बाद उसने पूछा: मेरे सामने कोई समस्या नहीं है, तब मेरा कुछ बिगड़ा है क्या ?" लेकिन यह प्रश्न करने के बाद इसके उत्तर की प्रतीक्षा करते हुए किंचित् समाधान से और विषादपूर्वक हँसते हुए वह अपने पूर्व-जीवन के विषय में बताने लगा कि जीवन में वह क्या-क्या करता रहा है और अपने बच्चों को कैसी शिक्षा दे रहा है। वह जानता था कि बीच-बीच में वह थोड़ा-बहुत दान करता रहता है, लेकिन यों वह उदार नहीं है। उसका यह निश्चित मत था कि इस संसार में कोई विशेष स्थान प्राप्त करने के लिए सबको दौड़-धूप करते रहना चाहिए।

प्रतिष्ठा एक प्रकार का अभिशाप है। वह हृदय और मन को छील डालनेवाला 'पाप' है। पता न चलते हुए, चोरी-छुपे वह हृदय में प्रवेश करता है और प्रीति-भावना की मंगलमयता को नष्ट कर डालता है। प्रतिष्ठित होने का मतलब है अपने यश से हर्षित होना, जगत् में अपने लिए विशेष स्थान प्राप्त करना और अपने चारों ओर निश्चिन्तता की पक्की दीवाल खड़ी करना; सम्पत्ति, सत्ता, यश, कार्यकुशलता अथवा सद्गुण से प्राप्त होनेवाली निश्चिन्तता का परकोटा खड़ा करना। निश्चिन्तता के इस परिवेष्टन से मनुष्य में दुराव उत्पन्न होता है। यह दुराव ही सब प्रकार के मानवीय सम्बन्धों के कारण, समाज में विरोध और द्वेष के बीज बोने में कारणीभूत होता है। प्रतिष्ठित लोग समाज के ऊपरी स्तर पर, ईर्ष्या पैदा करनेवाला स्थान छीनकर बैठ जाते हैं। इसीलिए वे सदैव समाज के संघर्षों और दुःखों के लिए कारणीभूत बनते हैं। असल में समाज के दीन-दलित और तिरस्कृत लोग जैसे अनुकूल परिस्थिति की दया पर जीते हैं, वैसे ही प्रतिष्ठित लोग भी अनुकूल परिस्थिति की दया पर जीते हैं। उनकी दृष्टि में बाह्य परिवेश और परम्परा के सनातनत्व के प्रभावों का ही अतिशय महत्त्व है। क्योंकि, ये दो बातें ही उनके भीतरी दैन्य को ढँकती रहती हैं। प्रतिष्ठित लोग हमेशा सशंक, भयाकुल और स्व-संरक्षणतत्पर होते हैं। उनका हृदय सदैव भय से ग्रस्त रहता है। उनकी सात्त्विकता का तेज वस्तुतः उनका क्रोध ही होता है। उनका सद्गुण और परोपकार सब संरक्षण के हथियार होते हैं। वे ढोलक की तरह भीतर से पोले होते हैं। हाँ, बाहर से आघात होते ही वे जोर-जोर से आवाज करने लगते हैं। ये लोग कभी भी सत्याभिमुख नहीं हो पाते। क्योंकि, केवल आत्मोद्धार की चिन्ता के कारण, समाज के तिरस्कृत लोगों की तरह, ही व अपने को परिवेष्टित कर डालते हैं। उन्हें सम्पूर्ण सौख्य का कभी लाभ नहीं मिलता, क्योंकि वे सत्य की उपेक्षा करते रहते हैं।

लोभी न होना और उदार न होना, इन दोनों वृत्तियों में बहुत निकट का सम्बन्ध है। दोनों की प्रक्रिया अपने चारों ओर बाड़ लगाने की ही है। अहंकेंद्रितता का ही वह एक निरा नकारात्मक प्रकार है। लोभी मनुष्य को लोभ की पूर्ति के लिए प्रयत्न करते रहना पड़ता है, बाहरी जगत् में घूमना पड़ता है, सतत उद्योग करना पड़ता है, स्पर्धा के क्षेत्र में उतरना पड़ता है और आक्रामक बनना पड़ता है। लेकिन ऐसा आक्रामक आवेग न हो तो लोभ से मुक्ति मिल गयी, ऐसा इसका अर्थ बिलकुल नहीं है। इतना ही कि निरी अहंपरिवेष्ठित अकरणशील स्थिति में केवल रेंगते रहते हैं। बाह्य जगत् में जाकर कुछ करने के लिए मनुष्य अपना स्वास्थ्य खराब कर लेता है। नाना तरह के कष्टदायी संघर्षों को अपनी ओर खींच लेता है। किन्तु अहंकेंद्रित मन ऐसा कोई कष्ट नहीं चाहता। इसलिए वह निर्लोभता की प्रतिष्ठित चादर के नीचे अपनी अहंकेंद्रितता ढँकता रहता है। उदार-हस्त होना एक बात है और उदार-हृदय होना बिलकुल दूसरी बात। उदार-हस्त होना आसान है। आप जिस संस्कृति-स्वरूप में बढ़े होंगे, उस पर और ऐसे ही दूसरे कारणों पर यह उदारता अवलंबित होती है। लेकिन उदार-हृदय होना बहुत गहरी बात है। उदार हृदय होने के लिए मनुष्य में व्यापक बोध होना चाहिए तथा होनी चाहिए विशद प्रज्ञा।

उदार न होना एक प्रकार का रुचिकर और अंधा आत्मनिमज्जन है। ऐसे मन में बहिर्गामी प्रवृत्तियों का पूर्ण अभाव होता है। अपने में ही उलझे रहने की इस आत्मनिमग्न अवस्था में भी खास उसीका आंतरिक व्यापार चलता रहता है। लेकिन वह सब एक प्रकार का स्वप्नरंजन ही है। आपको जागृत करने की सामर्थ्य इस मनोव्यापार में नहीं होती। ऐसे सपने से जाग उठने की प्रक्रिया अत्यन्त यातनामय होती है। इसलिए इस आत्मनिमग्न स्थिति में ही उलझे रहकर प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली जाय और ऐसी ही स्थिति में एक दिन मृत्यु-मुख में पहुँच जायँ, ऐसा ही वृद्धों और तरुणों, सबको, लगता है।

उदार-हृदय होना मन की बहिर्गामी प्रवृत्ति है। उदार-हस्त होना भी मन की बहिर्गामी प्रवृत्ति ही है। लेकिन अनेक बार वह फँसानेवाली और दुःखद साबित होती है और कभी अपने सूक्ष्म व्यापारों पर भेदक प्रकाश भी डालने लगती है। उदारहस्त लोग पर्याप्त दिखाई देते हैं, क्योंकि यह प्रयत्नसाध्य है। लेकिन उदारहृदयत्व किसी भी प्रयत्न से प्राप्त नहीं किया जा सकता। उसके लिए चाहिए सब प्रकार के आंतरिक और बाह्य परिग्रह से मुक्ति। जब तक ऐसा नहीं हो जाता, तब तक उदार-हृदयत्व का स्पर्श तक होना सम्भव नहीं है। क्षमा करने के लिए, अथवा क्षमाशील बनने के लिए पहले कोई आघात या चोट लगी होनी चाहिए और इसके लिए पहले काफी अभिमान संचित हो चुका होना चाहिए। अभिमान का संचय करनेवाले मनुष्य

का जब तक 'मैं-मेरा-पन' समाप्त नहीं हो जाता, अर्थात् जब तक मन गतानुभवों की स्मृतियों से विमुक्त नहीं हो जाता, तब तक उदारहृदय होना सम्भव ही नहीं है।

११. राजनीति

उस पर्वत पर दिनभर वर्षा होती रही। लेकिन यह वर्षा रिम-झिम रिम-झिम नहीं थी। इस मूसलाधार वर्षा से सारे रास्ते धुल गये थे, पहाड़ की ढाल के बड़े-बड़े पेड़ जड़मूल से उखड़ गये थे। इतना ही नहीं, अनेक चट्टानें तक टूट गयी थीं। पानी के छोटे-छोटे से प्रवाह भी दोनों किनारों से भरकर घोर आवाज कर रहे थे। यों कुछ ही घण्टों में वह तात्कालिक आवाज शान्त हो जानेवाली थी। वर्षा से भीगा हुआ एक छोटा-सा बालक अपनी माँ की चीख-पुकार की जरा भी परवाह न कर एक उथले डबके में मजे में खेल रहा था। हम जिस रास्ते से ऊपर चढ़ रहे थे, वहाँ काफी कीचड़ हो गयी थी। उसी रास्ते से एक गाय नीचे उतर रही थी। जैसे किसी भरे हुए बर्तन को एकदम उलट दिया जाय, वैसे ही बादलों ने अपना जबड़ा खोलकर सारी धरती को पानी से भर दिया था। हम पूरी तरह भीग गये थे, अतः अपने कपड़े उतार दिये। खुले बदन पर वर्षा के छींटे बहुत अच्छे लग रहे थे। हमारा स्थान पहाड़ के ऊपर के पठार पर ही था और गाँव ढाल पर बसा था। पश्चिम की तरफ से तेज हवा बह रही थी और अपने साथ काले-काले बादल ला रही थी।

कमरे में दीवाल के पास अँगीठी सुलग रही थी और अनेक लोग चर्चा करने के लिए पहले से वहाँ बैठे थे। खिड़कियों पर वर्षा की मार बराबर पड़ रही थी, अतः कमरे में मानो छोटा-सा तालाब ही बन गया था। चिमनी में से भी वर्षा के तेज तुषार अँगीठी पर पड़ रहे थे, इसलिए अँगीठी की आग भी फड़फड़ा रही थी।

वह एक बहुत प्रसिद्ध और यथार्थवादी राजनीतिक पुरुष था। उसकी भावना और देशभक्ति उत्कट थी। उसकी वृत्ति स्वार्थी और संकुचित नहीं थी। उसकी महत्त्वाकांक्षा के पीछे की प्रेरणा स्वार्थी न होकर ध्येयवादी और लोकहित की थी। वह जोर-जोर से चिल्लानेवाला (गरजनेवाला) वक्ता और वोट पाने के लिए भागदौड़ करनेवाला नहीं था। अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए उसने अनेक कष्ट झेले थे और आश्चर्य यह है कि उसमें कटुता लेशमात्र भी नहीं दीख रही थी। राजनीति की अपेक्षा विद्या-व्यासंग में उसकी अधिक रुचि थी। फिर भी राजनीति उसकी साँस-साँस में भिदी थी। उसके आदेश का पालन उसके दल की ओर से, भले ही कुछ घबराहट के साथ हो, लेकिन कड़ाईपूर्वक होता था। वृत्ति से वह ध्येय-स्वप्नों में

रमनेवाला था, लेकिन व्यावहारिक राजनीति के लिए उसने यह सब ताक पर रख दिया था। उसके साथ उसका एक अर्थशास्त्री मित्र भी था। आय कर के रूप में आनेवाली प्रचण्ड धनराशि का विनियोग कैसे किया जाय, इस विषय में उसने बहुत सारी जानकारी एकत्र की थी और तत्सम्बन्धी अनेक उलझनभरे सिद्धान्त भी तैयार किये थे। दक्षिण और वाम विचारप्रणाली के अर्थशास्त्रज्ञों से उसका काफी परिचय था। मानव-जाति का आर्थिक कल्याण साधने के लिए उसने कुछ विशिष्ट आर्थिक सिद्धान्तों की कल्पना की थी। यह सारा आर्थिक विवेचन वह अत्यन्त सरल ढंग से कर रहा था। ठीक शब्दों की उसे कोई कमी नहीं थी। क्योंकि, उन दोनों की विशाल जनसमुदाय के सामने भाषण करने की हमेशा की आदत थी।

राजनीति को और राजनीतिक लोगों के वक्तव्यों को तथा उनकी गतिविधियों को समाचार-पत्रों एवं मासिक पत्रिकाओं में कितनी अधिक जगह दी जाती है, यह बात सबके ध्यान में 'लगभग आ ही चुकी है। यह सच हैं कि दूसरी बातों को भी समाचार-पत्रों में थोड़ीं-बहुत जगह दी जाती है, फिर भी राजनीतिक समाचारों को अधिक स्थान और अधिक महत्त्व दिया जाता है। इसका कारण यह है कि आजकल आर्थिक और राजनीतिक जीवन को बेहद महत्त्व मिल गया है। सुख-सुविधा, पैसा, प्रतिष्ठित पद-स्थान और सत्ता आदि बाह्य चीजों का इस समय हमारे जीवन पर बेहद प्रभाव पड़ रहा है और सम्भवत: ये ही चीजें हमारे वर्तमान जीवन के ढाँचे को गढ़ रही हैं। उपाधि, गणवेश, मान-वन्दना और ध्वज इन दिखावे की चीजों को अधिकाधिक महत्त्व प्राप्त हो रहा है और मनुष्य है कि जीवन की सम्पूर्णता को भूलता जा रहा है अथवा उसकी तरफ जान-बूझकर दुर्लक्ष्य कर रहा है। वस्तुतः जीवन को सम्पूर्ण रूप से समझने का प्रयत्न करने की अपेक्षा किसी सामाजिक अथवा राजनीतिक आन्दोलन में अपने को झोंक देना बहुत आसान है। किसी सुसंगठित विचारधारा से अथवा राजनीतिक या आर्थिक आन्दोलन से सम्बन्ध जोड़ लेना, क्षुद्र और उबा देनेवाले नित्य-जीवन से दूर-दूर जाने के लिए प्रतिष्ठित निमित्त ही हो गया है। किसी भी राजनीतिक अथवा धार्मिक विचारधारा से इस प्रकार का सम्बन्ध जोड़ते रहने पर, अपना हृदय क्षुद्र और संकुचित होते हुए भी हम ऊँची-ऊँची बातों तथा लोकप्रिय नेताओं के बारे में सहज ही बोल सकते हैं। बड़े-बड़े जागतिक प्रश्नों के बारे में लम्बी-लम्बी हाँकने के बहाव में हम अपना आंतरिक उथलापन सहज ही ढँक देते हैं। किसी नये राजनीतिक अथवा पुराने सनातनी धर्म की विचारधारा का प्रचार करने में लगे रह सकें तो इससे हमारे अस्वस्थ चित्त को सहज सुख से मोड़ मिलता रहता है और इस रवैये को लोगों की ओर से उत्तेजन भी मिलता रहता है।

राजनीति का मतलब है परिस्थिति के अनुकूल और प्रतिकूल परिणामों का जोड़ बैठाना। सामान्यत: अनेक लोगों का लक्ष्य परिणाम की ओर ही रहता है। अतएव

आज बाह्य परिणामों को ही विलक्षण महत्त्व प्राप्त हो गया है। केवल बाह्य परिणाम को मूर्त करने का तन्त्र आत्मसात् करते ही हम शान्ति और सुव्यवस्था प्रस्थापित कर सकेंगे, ऐसी आशा हमें होने लगती है। लेकिन दुर्भाग्य से प्रकरण उतना सरल नहीं होता। जीवन ऐसी एक सर्वसमावेशक और पूर्ण प्रक्रिया है, जो आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रक्रियाओं का समन्वय करती है। इसमें सन्देह नहीं कि बाह्य घटना आन्तरिक घटना पर प्रभाव डालती रहती है, लेकिन अन्त में आन्तरिक प्रक्रियाओं का प्रभाव ही निर्णायक बनता है। हमारे अन्तरंग का ही प्रतिबिम्ब हमारे बाह्य आचरण में प्रकट होता है। बाह्य घटना और आन्तरिक वृत्ति में क्रिया-प्रतिक्रिया-स्वरूप लेन-देन सतत चलता रहता है। इसलिए बाह्य घटना और आन्तरिक प्रक्रिया की कड़ी तोड़ी नहीं जा सकती और उन्हें अलग-अलग डिब्बों में बन्द करके रखा भी नहीं जा सकता। वस्तुस्थिति यह है कि आखिर आन्तरिक वासना, सुप्त-गुप्त आकांक्षा और हेतु ही अधिक निर्णायक और सामर्थ्यवान् सिद्ध होते हैं। जीवन केवल राजनीतिक या आर्थिक आन्दोलनों पर अवलम्बित नहीं होता। पेड़ जैसे केवल पत्ते या शाखा नहीं है, वैसे ही बाह्यतः दृश्यरूप में जो दीखता है, वह जीवन नहीं है। जीवन एक पूर्णत्वात्मक सर्वसमावेशक प्रक्रिया है। जीवन के सम्पूर्ण अंतर्बाह्य अंगोपांगों की एकात्मकता में ही जीवन-सौंदर्य का शोध लगता है। राजनीति और आर्थिक क्षेत्रों में भी गठबंधन के उथले स्तर पर यह एकात्मता कभी मूर्तिमन्त नहीं होती। कारणों और परिणामों के पार गये बिना उस एकात्मता का शोध नहीं लगता।

हम किसी के भी कारणों तथा बाह्य परिणाम से ही हमेशा खेलते रहते हैं, उनसे आगे जाने का प्रयत्न ही नहीं करते। अतएव हमारा जीवन पोला और अर्थशून्य हो जाता है। इससे हम राजनीतिक प्रक्षोभ और धार्मिक भावुकता के दास बन जाते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि जिन विविध प्रक्रियाओं से हमारा जीवन बना होता है, उनकी एकात्मता निर्माण होने पर ही मनुष्य का भविष्य आशामय है, ऐसा कह सकते हैं। किसी धार्मिक या राजनीतिक विचार-प्रणाली को स्वीकार कर लेने से अथवा अधिकारी धार्मिक विभूति का या राजनीतिक नेता के अनुयायी बन जाने से यह एकात्मता कभी उदित नहीं होती; बल्कि विशाल, गहरे और सर्वविधानात्मक बोध से अथवा संवेद्यता से ही वह उदित होती है। इसलिए उथली क्रिया-प्रतिक्रियाओं के परिणामों पर मनुष्य का संतुष्ट रहना उपयुक्त नहीं है। यह संवेद्यता हमारे बोध के अधिकाधिक गहरे गर्भ में सतत प्रवेश करती रहे, इसका अवधान मनुष्य को जागृत रखना चाहिए।

१२. साक्षात् अनुभवन

डूबते हुए सूर्य की किरणों से दूरवर्ती पर्वत-शिखर धवल दीख रहे थे। लेकिन निकट की घाटी छाया में ही थी। संध्या की लालिमा से चमकनेवाले वे पर्वत-शिखर मानो स्वयंप्रभा से ही चमक रहे थे। बहुत दूर तक जानेवाले उस रास्ते के उत्तर का पहाड़ रुक्ष और उजाड़ दीख रहा था। किन्तु दक्षिण की तरफ के पहाड़ का हिस्सा गहरी हरी और घनी झाड़ी से आच्छादित था। दूर तक फैली हुई वह रमणीय घाटी पहाड़ के बीच में से जानेवाले सीधे-सपाट रास्ते से विभाजित-सी दीख रही थी। सांध्यकालीन मोहक प्रकाश में वे पहाड़ अत्यन्त निकट मालूम हो रहे थे। अतः वे बड़े नाजुक, हलके-फुलके और स्वप्न-सरीखे लग रहे थे। उधर आकाश में ऊँचाई पर बड़े-बड़े पक्षी सहज गोल-गोल घूम रहे थे और इधर जमीन पर अलसायी हुई गिलहरियाँ आराम से रास्ता पार कर रही थीं। वायुयानों की घर्र-घर्र आवाज दूर से सुनाई पड़ रही थी। रास्ते के दोनों ओर सन्तरे के साफ-स्वच्छ और खूब मेहनत से तैयार किये गये बगीचे थे। दिनभर की उष्णता से तपी हुई वनस्पतियों की गंध बहुत उग्र प्रतीत हो रही थी। गर्मी से तप्त मिट्टी को और झुलसी हुई घास की गंध भी वैसी ही उग्र लग रही थी। रसपूर्ण फलों से लदे हुए संतरों के पेड़ काले-काले दीख रहे थे। पक्षी परस्पर आवाहन कर रहे थे। देखते-देखते एक खरगोश बगल की झाड़ी में अदृश्य हो गया। कुत्ते के भूंकने से डरकर एक गिरगिट नजदीक की सूखी घास में सरसराता हुआ घुस गया। सायंकालीन शान्ति धीरे-धीरे चोरकदमों से पृथ्वी पर उतरने लगी थी।

अनुभूति एक चीज है और साक्षाद् अनुभवन बिलकुल दूसरी चीज। गत-अनुभूति ही हमेशा साक्षात् अनुभवन में बाधक होती है। अनुभूति सुखद हो, दुःखद हो अथवा घृणास्पद हो, वह साक्षात् अनुभवन की स्थिति को कभी विकसित नहीं होने देती। क्योंकि, अनुभूति काल-क्रम के जाल में फँसी होती है। वह भूतकाल में समाविष्ट हो चुकी होती है। वह केवल स्मृति के रूप में ही शेष रहती हैं। लेकिन वर्तमान परिस्थिति के आह्वान का मुकाबला करने के लिए वह उतनेभर के लिए जीवित-सी भासित होती है। वस्तुतः जीवन का अर्थ वर्तमान चिन्मय जीवन है, गत-अनुभूति नहीं। किन्तु इस गत-अनुभूति के गुरुत्व और सामर्थ्य की घनी छाया वर्तमान पर पड़ती रहती है। अतः साक्षात् अनुभवन की वर्तमान स्थिति भी

तत्काल भूतकालात्मक अनुभूति बन जाती है। वस्तुतः समूचा मानव-मन ही अनुभूति है। जो-जो गत और ज्ञात हैं, वह सब मानव-मन है। इसीलिए यह भूतग्रस्त मन वर्तमान अनुभवन की स्थिति में कभी नहीं आ सकता। क्योंकि, वर्तमान में भी वह पूर्वानुभूति का सातत्य ही अनुभव करता रहता है। कारण, मन को केवल सातत्व ही ज्ञात है और जब तक यह सातत्य कायम रहता है, तब तक नवीन को ग्रहण करने में वह कभी समर्थ नहीं हो सकता। जो सातत्यशील होता है, वह चिन्मय-वर्तमान के अनुभवन की स्थिति में पहूँच ही नहीं सकता। गत-अनुभूति चिन्मय-वर्तमान के अनुभवन का साधन नहीं है। क्योंकि, चिन्मय-वर्तमान का अनुभवन गतानुभूतिशून्य ही होता है।

चिन्मय-वर्तमान के अनुभवन की स्थिति के उदय के लिए गत-अनुभूति का सम्पूर्ण अस्त होना जरूरी है। मन को जो-जो ज्ञात होता है, मन ने जो-जो विक्षेपित किया है, केवल उसीको मन स्मृतिरूप में याद कर सकता है, आमंत्रित कर सकता है। मन की यह गत अनुभूति-प्रक्रिया रुके बिना वह जो अज्ञात है, उसका साक्षात् अनुभवन की कोटि में आना असम्भव है। हमारा विचार अनुभूति-प्रक्रिया का ही आविष्कार होंता है, वह स्मृति में से ही मूर्त होता है। इसलिए जब तक विचार चालू रहता है, तब तक चिन्मय-वर्तमान के अनुभवन का अवसर प्राप्त ही नहीं हो सकता। लेकिन गतानुभूति का अन्त करने के लिए कोई भी साधना और कोई भी उपाय उपयोगी नहीं। क्योंकि, यह साधना और यह उपाय ही चिन्मय-वर्तमान के अनुभव में बाधक है। वस्तुतः हमें अपने साध्य का जो पूर्वनिश्चित ज्ञान होता है, वह सातत्य का ही है। इसी तरह अपने साध्य तक पहुँचने के लिए साधनाओं और उपायों का अवलम्बन भी पूर्व ज्ञान के सातत्य को कायम रखने जैसा है। इसलिए साध्य-प्राप्ति की हमारी इच्छा ही समाप्त होनी चाहिए। क्योंकि इसी इच्छा में से साध्य और साधन, दोनों का जन्म होता है। चिन्मय-वर्तमान के अनुभवन के लिए विनम्रता अत्यन्त आवश्यक है। लेकिन चिन्मय-वर्तमान के अनुभवन को गतानुभव में तत्काल समाविष्ठ कर डालने के लिए हमारा मन कितना उत्सुक रहता है ! नवीन को विचार की कोटि में खींचकर उसका पुराने में तुरन्त रूपान्तर कर डालने के लिए हमारा मन कितने विलक्षण रूप में तत्पर रहता है ! इस प्रकार यह धूर्त मन ही अनुभविता और अनुभूति का द्वैत निर्माण करता है और मन की इस करनी के कारण ही द्वन्द्वमय संघर्ष पैदा होता है।

वस्तुतः चिन्मय-वर्तमान के अनुभवन की स्थिति में न अनुभविता होता है, न अनुभूति ही होती है। दृष्टिपथ में सहज रूप से पड़नेवाले किसी वृक्ष, कुत्ते अथवा किसी सायंतारे की अलग-अलग अनुभूति अनुभविता नहीं कर सकता। क्योंकि, इन वस्तुओं का केवल दर्शन ही चिन्मय अनुभव है। इस दर्शन में द्रष्टा और दृश्य का भेद नहीं

रहता। यहाँ दिशा और काल का भी अन्तर नहीं रहता। इसलिए द्रष्टा अथवा दृश्य के साथ एकरूपता प्राप्त करने के विचार को यहाँ अवकाश ही नहीं है। यहाँ विचारों का सम्पूर्ण अभाव है। क्योंकि, यहाँ विशुद्ध चिन्मय का अस्तित्व है। यह विशुद्ध चिन्मय वर्तमान विचारों की तथा विशेष ध्यान-धारणा की कोटि में कभी नहीं आ सकता। क्योंकि, वह प्रयत्न-साध्य वस्तु नहीं है। इसके लिए अनुभविता को पहले अनुभूति की प्रक्रिया से अपने को मुक्त कर लेना चाहिए। ऐसा होने पर ही चिन्मय-वर्तमान समक्ष उपस्थित रहेगा। उसके स्पन्दन की प्रशान्ति में उस कालातीत का वास है।

१३. सद्गुण

समुद्र अत्यन्त शान्त, निस्तब्ध था। किनारे की बालू पर कभी कोई लहर उठती हुई दीख जाती थी। उस प्रशस्त खाड़ी से सटकर उत्तर की ओर नगर था और दक्षिणी किनारे पर ताड़-खजूर आदि के पेड़ खड़े थे। बाड़ के उस पार शार्क मछलियाँ नजर आ रही थीं और उनके भी आगे मछली मारने के लिए निकली मछुवारों की नौकाएँ थीं। वे नौकाएँ क्या थीं, केवल मोटी रस्सियों से मजबूती से एक जगह बाँधे हुए लकड़ी के लट्ठे ही थे। उन ताड़-खजूर के पेड़ों के दक्षिण में बसे एक गाँव की तरफ वे नौकाएँ जा रही थीं। सूर्यास्त का रंग-वैभव अद्‌भुत तेज से जगमगा रहा था। लेकिन सूर्यास्त का यह वैभवपूर्ण दृश्य हमारी सहज अपेक्षा के अनुसार पश्चिम में न होकर पूर्व की ओर था। मानो वह प्रति-सूर्यास्त था। सुन्दर भव्य मेघराजि इन्द्रधनुषी रंगों से चमक रही थी। वह दृश्य सचमुच कल्पनातीत था, विलक्षण था। सौन्दर्यातिशय से वह मानो मानवीय ग्रहण-शक्ति की मर्यादा को विच्छिन्न कर रहा था। उस समय तेजस्वी रंग को समुद्र-जल ने झेल लिया था और उसीमें से क्षितिज तक पहुँचनेवाला एक तेजस्वी मार्ग बन गया था।

कुछ थोड़े से मछुए शहर से अपने-अपने गाँव की तरफ लौट रहे थे। लेकिन कुल मिलाकर समुद्र-तट शान्त और निर्जन हो गया था। उधर बादलों के किंचित् ऊपर मात्र एक तारा चमकने लगा था। हम वापस लौटने के लिए निकले। एक स्त्री हमारे साथ-साथ चलने लगी और उसने गम्भीर विषय पर बोलना शुरू कर दिया। वह कहने लगी: "जहाँ ध्यान-धारणा की जाती है और महत्वपूर्ण सद्गुण का संवर्धन किया जाता है, उस एक संस्था के हम सदस्य हैं। इस संस्था में हर महीने एक सद्गुण का चयन किया जाता है और महीनेभर तक का उस सद्गुण का संवर्धन

करके आचरण में उतारा जाता है।" उस स्त्री की वृत्ति से और भाषण से ऐसा दिखाई दिया कि साधना के अनुशासन में वह कुशल है। किन्तु उसके साध्य और उसकी वृत्ति से जो लोग समरस नहीं थे, उनके बारे में एक प्रकार की अधीरता भी उसमें दिखाई पड़ी।

वस्तुतः सद्गुण हृदय का होता है, मन का नहीं। मन जब सद्गुणों का संवर्धन करना चाहता है, तब वह केवल चातुर्यपूर्ण लेखा-जोखा ही होता है। यह सद्गुण-संवर्धन उसका केवल आत्म-संरक्षण ही होता है। वह परिस्थिति से किया जानेवाला केवल कुशल गठ-बंधन होता है। वस्तुतः स्वतः को परमोच्च पद प्राप्त हो, इसके लिए गुणसंवर्धन करना सच्चे सद्गुण से दूर जा पड़ना है। जहां भय होता है, वहाँ सद्गुण का वास सम्भव भी है? भय मन की रचना होती है, हृदय की नहीं। यह आंतरिक भय प्रतिष्ठा, गठ-वन्धन एवं सेवा के आवरण के भीतर छिपा रहता है। मन के द्वारा निर्मित सारे सम्बन्धों, सारे रिश्तों और सम्पूर्ण व्यापारों—सबकी जड़ में भय हमेशा रहता ही है। वस्तुतः मन अपने व्यापारों से भिन्न नहीं होता। लेकिन वह स्वयं को अपने व्यापारों से अलग कर लेता है और इस तरह स्वयं के लिए सातत्य और शाश्वतता प्राप्त कर लेता है। जैसे बालक कोई वाद्य बजाना सीखने के लिए प्रतिदिन तालीम लेता रहता है, वैसे ही मन बड़ी धूर्तता से सद्गुणों की तालीम लेता है। क्योंकि, जीवन में सब प्रसंगों का मुकाबला करने के लिए और सर्वोच्च प्रतीत होनेवाले ध्येय के लिए उसे सातत्य और सामर्थ्य प्राप्त करना होता है। लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि जीवन के प्रसंगों का मुकाबला करने के लिए मन को पूरी तरह आघाताभिमुख अथवा सहजभेद्य होना चाहिए। लेकिन मन यदि अपने चारों ओर संकोचक सद्गुणों का प्रतिष्ठापूर्ण पर-कोटा सतत खड़ा करता रहेगा, तो कभी भी आघाताभिमुख या सहजभेद्य नहीं हो सकेगा। जो-जो सर्वश्रेष्ठ परमश्रेय है, वह किन्हीं भी प्रयत्नों से या साधनों से साध्य नहीं होता। वहाँ तक पहुँचने के लिए कोई भी पूर्वनिश्चित मार्ग नहीं है और न वह क्रमिक प्रगति से ही प्राप्त होनेवाला है। प्रयत्नों से बढ़ाया गया सद्गुण आपको वहाँ पहुँचाने में समर्थ सिद्ध नहीं होता। सत्य को ही हमारी ओर चलकर आना चाहिए। जो-जो उपलब्ध किया जा सकता है, वह सत्य नहीं होता, बल्कि वह तो केवल मन द्वारा विक्षेपित वासना की उपज होता है। केवल सत्य-दर्शन में ही यथार्थ सौख्य का वास है।

स्वतः का सातत्य कायम रखने के लिए मन हमेशा सब बातों से अपने को कुश-लतापूर्वक जोड़ लेता है और उसकी इस करामात के कारण अंतरतम में हमेशा भय पोषित होता रहता है। सत्यदर्शन के लिए गहराई में जाकर इस भय के मूल को पहले समझ लेना चाहिए। किन्तु सद्गुण-संवर्धन करते रहना उसका कोई उपाय नहीं

है। क्षुद्र मन से सद्‌गुण-संवर्धन की कितनी ही पराकाष्ठा कर ली जाय, आखिर वह क्षुद्र ही रहता है। क्योंकि, यह सद्‌गुण-संवर्धन क्षुद्र मन को अपनी क्षुद्रता से दूर ले जानेवाला केवल बहाना ही है। इसीलिए ऐसे मन द्वारा संवर्धित सद्‌गुण भी क्षुद्र ही होता है। इस वस्तुस्थिति के कारण उस क्षुद्रता को मूलसहित, समग्र रूप से समझे बिना सत्य का अनुभवन कैसे सम्भव है? मन जब तक ऐसा क्षुद्र, संकुचित और सद्‌गुणी रहेगा, तब तक उस असीम सत्य को स्वीकार करने में वह कैसे समर्थ साबित होगा?

मन के अर्थात् अहं के व्यापार की सम्पूर्ण प्रक्रिया को समझने से ही यथार्थं सद्‌गुण प्रकट होता है। किसीका भी सतत किया जानेवाला प्रतिकार सद्‌गुण नहीं है। जो जैसा है, वैसा ही उसका दर्शन होना और उसकी स्वयंस्फूर्त जानकारी होना, इसीमें यथार्थ सद्‌गुणों का सार निहित है। जो जैसा है, जो वास्तविक है, उसको वैसा ही समझने की सामर्थ्य मन को प्राप्त होना सम्भव नहीं। जो कुछ समझा गया है, उसे कृति में उतारना ही मन के वश की बात है। लेकिन जो जैसा है, उसे वैसा ही अवधानपूर्वक समझना मन के वश की बात नहीं है। जो जैसा है, उसको उसी रूप में समझने के लिए उसकी उत्कटतापूर्वक पहचान करनी होती हैं और उसके स्वागत के लिए हृदय भर आना चाहिए। मन जब पूरी तरह निस्तब्ध होता है, तब केवल हृदय के लिए ही उसका स्वागत करना सम्भव है। लेकिन मन की यह निस्तब्धता हिसाबी कुशलता से मूर्त होनेवाली स्थिति नहीं है। प्रयत्नपूर्वक निस्तब्धता मूर्त करने के लिए इच्छा का उद्भव होना साध्य-साधन के लिए शाप ही है। इसीमें से अनन्त संघर्षों और दुःखों का जन्म होता है। दुर्गुणों का निषेध करके या सद्‌गुणों का संवर्धन करके कुछ विशेष होने की हविस रखना हृदय के स्वयंभू सद्‌गुण से पराङ्मुख होना है। सद्‌गुण का मतलब संघर्ष और उस पर प्राप्त की जानेवाली विजय नहीं है, प्रदीर्घ साधना और उससे निष्पन्न होनेवाला परिणाम सद्‌गुण नहीं है, बल्कि सद्‌गुण सहजता की एक स्थिति है। वह स्थिति मनोनिर्मित और स्वविक्षेपित वासना से निर्माण होनेवाली नहीं है। जब तक कुछ विशेष होने के लिए मनुष्य दौड़-धूप करता रहता है, तब तक वह 'सहज होना' नहीं है। कुछ विशिष्ट होने के प्रयास में प्रतिकार, निषेध, आत्मक्लेश और त्याग का ही सिलसिला चलता रहता है। लेकिन इस सिलसिले पर विजय प्राप्त करना सद्‌गुण नहीं है। कुछ विशिष्ट होने की हविस से मुक्तता और इस मुक्तता से निर्माण होनेवाली सहज शान्ति ही सच्चा सद्‌गुण है। यह शान्ति हार्दिक होती है, मानसिक नहीं। साधना, बुद्धिपुरस्सर विरोध और प्रतिकार की सहायता से मन कृत्रिम शान्ति प्राप्त कर सकेगा। लेकिन इस प्रकार की अनुशासनबद्धता का ग्रास बनना हृदय के सद्‌गुणों की हत्या करना ही है। और हृदय के सद्‌गुणों के सिवा शान्ति और सत्यानुग्रह सम्भव ही नहीं। क्योंकि, हृदय की सहज सद्‌गुणमयता ही सत्य-दर्शन है। □

१४. हृदय की सादगी

स्वच्छ निरभ्र आकाश गूढ़ रहस्य से भरा था। एक घाटी से दूसरी घाटी की ओर सहज लहराते-लहराते जानेवाले, प्रशस्त पंखोंवाले विशाल मेघपक्षी आज आकाश में विलकुल नहीं थे। कहीं कोई नन्हा-सा मेघ-शिशु भी आकाश में नहीं था। वृक्ष निस्तब्ध थे और पर्वत के कोने-कोने में गहरी घनी छाया का साम्राज्य छाया था। एक हरिन कान खड़े करके कुतूहलपूर्वक हमारी ओर देख रहा था। लेकिन जैसे ही हम नजदीक पहुँचे, वह छलाँग मारकर भाग गया। एक झुरमुट के नीचे मिट्टी के ही रंग का एक चपटा-सा मेढक चुपचाप पड़ा था, लेकिन उसकी आँखें चमक रही थीं। डूबते हुए सूर्य की पार्श्वभूमि पर पश्चिम का पहाड़ स्पष्ट और सुन्दर नजर आ रहा था। उधर नीचे की ओर थोड़ी दूर पर एक बड़ा बंगला था। उसके आँगन में तैरने का तालाब था, जिसमें कुछ लोग तैर रहे थे। बँगले के चारों ओर रमणीय बाग था। कुल मिलाकर उस बँगले के चारों ओर एकान्त, श्रीमन्ती और समृद्धि का विशिष्ट वातावरण था। बँगले के बहुत नीचे एक धूलभरे रास्ते के किनारे उजड़े स्थान पर एक झोंपड़ी थी। इतनी ऊँचाई पर से भी उस झोंपड़ी का दैन्य, दारिद्रय और कष्ट साफ-साफ दीख रहा था। इस ऊँचाई पर से उस बँगले और उस झोंपड़ी में बहुत अन्तर नहीं प्रतीत हो रहा था। दोनों की सुन्दरता और कुरूपता मानो एक-दूसरे का स्पर्श कर रही थी।

अपनी मालिकी की वस्तुओं की सादगी की अपेक्षा हृदय की सादगी का अधिक महत्त्व और गरिमा है। थोड़ी-सी वस्तुओं में सन्तोष मानकर रहना सामान्यतः सरल बात है। सुख-सुविधाओं का त्याग करना, धूम्रपान या दूसरे व्यसनों को छोड़ना भी हृदय की सादगी का लक्षण नहीं है। कपड़े-लत्तों, सुख-सुविधाओं और मनोरंजन आदि में व्यस्त इस जगत् में केवल गमछा लगाकर विचरना भी मुक्तता का कोई खास लक्षण नहीं है। एक व्यक्ति ने जागतिक सुख-सुविधाओं का और जीवन-रीति का त्याग कर दिया था। लेकिन इस तथाकथित त्यागी को इच्छाएँ और वासनाएँ अहर्निश जला रही थीं। यह ठीक है कि संन्यासियों के भगवे परिधान धारण किये था, लेलिन उसके हृदय में शान्ति बिलकुछ नहीं थी। उसकी आँखें कुछ-न-कुछ खोज रही थीं वौर इसीके लिए बराबर घूम रही थीं। शंका-कुशंकाओं तथा आशा-इच्छाओं से उसका मन छिन्न-विच्छिन्न हो गया था।

जीवन को सादगीमय बनाने की मनुष्य की पद्धति सामान्यतः ऐसी ही होती है। आप अपने बाह्य जीवन को किसी अनुशासन में बाँध देते हैं, अपनी सुख-सुविधाओं का त्याग कर देते हैं और साध्य की प्राप्ति के लिए एक-एक कदम कैसे रखा जाय इसका नक्शा तैयार करते हैं। सद्गुणों के जो मानदण्ड माने जाते हैं, उनकी सहायता से आप स्वयं ही साध्य की प्रगति मापते हैं। आपने किन-किन वस्तुओं का और वृत्तियों का त्याग किया है, अपने आचरण में आपने कितना संयम साधा है, आपमें सहिष्णुता और दयाशीलता कितनी है, इत्यादि बातों से आप अपनी प्रगति का हिसाब लगाते हैं। चित्त एकाग्र करने की कला आपको सध गयी है। संसार छोड़कर आप अरण्य में, मठ में या किसी अँधेरी कन्दरा में रहने लगते हैं। प्रार्थना में और अहर्निश जागृत अवस्था में दिन व्यतीत करते हैं। इस तरह बाह्य रूप से आप अपने जीवन को सादगीमय बना डालते हैं और विचार तथा हिसाब द्वारा की गयी इस व्यवस्था से, इस जगत् के उस पार के परम सौख्य को आप साध सकेंगे, ऐसी भोली आशा रखते हैं।

लेकिन क्या मनुष्य के लिए यह कभी सम्भव है कि वह बाह्य और कृत्रिम नियंत्रणों के आधार पर और सिद्ध आदेशों के बल पर सत्य तक पहुँच जायगा? माना कि बाहरी बातों में सादगी रखना और सुख-सुविधाओं को त्याग देना आवश्यक है, लेकिन क्या केवल इन्हींकी सहायता से सत्य का द्वार खुल सकेगा? यह सही है कि सुख-सुविधा और यश-सम्पादन में ही उलझे रहने से मन और हृदय, दोनों पर बेहद भार पड़ता है। सत्य की तरफ के प्रवास के लिए मन का मुक्त होना आवश्यक है, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन वास्तविक प्रश्न यह है कि इन सारे बाह्य आविष्कारों के बारे में ही हमें इतनी चिन्ता क्यों होने लगती है। अपने आन्तरिक उद्देश्य को बाह्य अभिव्यक्ति देने के लिए हम इतने उत्सुक क्यों रहते हैं? क्या हमें भय नहीं लगता कि यदि बाह्य अभिव्यक्ति नहीं दी गयी तो हम आत्मवंचना करते रहेंगे? अथवा इसकी चिन्ता हमें सताती है कि दूसरे लोग क्या कहेंगे? अपने स्वयं के ही सच्चेपन के बारे में अपने को दिलासा देने की इच्छा हमें क्यों होती है? इन सब प्रश्नों के मूल में क्या है? हम प्रगतिपथ पर हैं इसका अपने को ही भरोसा देने की इच्छा, और जो साध्य प्राप्त करना हमने तय किया है, उस दिशा में हमारा महत्त्व बढ़ रहा है, इसका अपने-आपको भरोसा देने की अभिलाषा ही क्या उक्त प्रश्नों के मूल में नहीं होती?

वस्तुतः कुछ विशिष्ट होने की इच्छा ही सब प्रकार की उलझनों का मूल है। आंतरिक अथवा बाह्य दृष्टि से कुछ विशिष्ट होने की इस बढ़ती हुई आकांक्षा के आवेग के कारण हम चाहे जो संचय करते रहते हैं, चाहे जिसका संवर्धन करते रहते हैं और चाहे जिससे अपने को परावृत्त करते रहते हैं। काल सभी चीजों का हरण करता

है, यह बोध होने से हम कालातीत की कल्पना से चिपक जाते हैं। चाहे जो जोड़कर या चाहे जो त्यागकर विधायक या निषेधात्मक ढंग से, कुछ विशिष्ट होने के लिए हमारा अखण्ड प्रयास चलता रहता है लेकिन साधना के अनुशासन से अथवा कैसी भी तालीम जैसे वाह्य उपचारों से यह प्रयास कभी भी शान्त नहीं किया जा सकता। इसके लिए इस प्रयास का ही समग्र स्वरूप यथार्थता से जानना चाहिए। ऐसा करने पर ही बाह्य और आंतरिक उपायों से जो कुछ भी नित्य उपलब्ध करने की हमारी प्रवृत्ति होती है और उसमें से जो संघर्ष पैदा होता रहता है, उसके पास से सहजता और स्वयंस्फूर्तिपूर्वक हमारी मुक्ति होगी। केवल अनासक्ति से यह सत्य तक नहीं पहुँचा जाता। किन्हीं भी साधनों से सत्य साध्य नहीं होता। सब प्रकार के साधन और साध्य केवल आसक्ति के रूप हैं। उनके सम्पूर्ण लोप के बिना सत्य का दर्शन सम्भव नहीं।

१५. व्यक्ति के अनेक रूप

वह अपने शिष्य-समूह के साथ हमसे मिलने आया था। उन शिष्यों में तरह-तरह के लोग थे—सुखी और गरीब, बड़े सरकारी अधिकारी और एक विधवा। कुछ अति-आग्रही वृत्ति के थे, तो एक हँसमुख तरुण भी था। वह पूरा समूह प्रसन्न और खुश दिखाई दिया। उनके पीछे जो घर की सफेद-शुभ्र दीवाल थी, उस पर उनकी छाया नर्तन कर रही थी। पेड़ की घनी पर्णराजि में से तोतों की कर्कश ध्वनि सुनाई पड़ रही थी। इतने में एक लारी धड़धड़ आवाज करती हुई सामने से गुजर गयी। उन शिष्यों में से एक तरुण अपने गुरु के माहात्म्य का आग्रहपूर्वक प्रतिपादन कर रहा था। अपने कथन की पुष्टि में जैसे-जैसे वह एक-एक मुद्दा विशेष स्पष्टतापूर्वक और वस्तुनिष्ठ दृष्टि से रखता गया, वैसे-वैसे उससे सहमत होनेवाले उस शिष्य-समुदाय के चेहरों पर मुस्कान खेलने लगी। आकाश की नीलिमा अत्यन्त सुन्दर थी। एक शुभ्र-कंठ गरुड़ अपने पंखों की किंचित् भी आवाज न कर बिलकुल हमारे सिर पर, लेकिन खूब ऊँचाई पर, चक्कर काट रहा था। वह कितना सुन्दर था!

हम सब लोग एक-दूसरे का सतत कैसे नाश कर डालते हैं—शिष्य गुरु का और गुरु शिष्य का! हम एक विशिष्ट जीवन-प्रणाली से एकरूप होते रहते हैं, फिर उसे भंग कर देते हैं और फिर नये सिरे से नया जीवन-ढांचा स्वीकार कर लेते हैं।—उधर एक ओर एक पक्षी किसी लम्बे कीड़े को गीली जमीन में से खींचकर ऊपर निकाल रहा था।

हमारे एक नहीं, बल्कि अनेक रूप होते हैं। इन अनेक रूपों के मिटे बिना एक का जन्म ही नहीं हो सकता। कोलाहल करनेवाले इन अनेक रूपों का आपस में निरन्तर संघर्ष चलता रहता है और इसके कारण जीवन दुःखमय होता रहता है। हम एक संघर्ष का नाश कर ही नहीं पाते कि दूसरा उसके स्थान पर आकर खड़ा हो जाता है। यह अखण्ड-सी प्रतीत होनेवाली संघर्ष-शृंखला ही हमारा जीवन है। हम इनमें से अपना कोई भी एक रूप दूसरे रूपों पर जबरदस्ती लादने का प्रयत्न करते रहते हैं, लेकिन शीघ्र ही उस एक का भी अनेक रूपों में रूपान्तर हो जाता है। यह अनेक की आवाज वस्तुतः उस विशिष्ट एक की ही आवाज है और यह एक उन अनेक पर प्रभाव डालता रहता है। लेकिन प्रभाव डालनेवाली उनमें से यह एक आवाज भी आखिर व्यर्थ बकवास ही सिद्ध होती है। हम स्वयं इन अनेक आवाजों की गठड़ी होते हैं और उस असली एक की शान्त, निस्तब्ध आवाज को सुनने का प्रयत्न करते रहते हैं। लेकिन उस असली एक की आवाज सुनने के लिए वे अनेक सहज रूप से निस्तब्ध हो जाने चाहिए। तभी उन अनेक रूपों यानी उस असली एक की प्रतीति होती है। अनेक जब तक अनेक रहते हैं, तब तक उस एक का शोध लगना सम्भव ही नहीं।

हमारे सामने यह प्रश्न नहीं कि उस असली एक की आवाज कैसे सुनी जाय, बल्कि यह है कि हम जिस अनेक से मिलकर बने हैं, उनकी रचना को तथा उनके आपसी सम्बन्ध को कैसे जाना जाय। उन अनेक में से किसी एक रूप को अनेक रूपों का ज्ञान होना सम्भव नहीं। 'जिन अनेक से मिलकर हम बने हैं, उनका ज्ञान एक को होना अशक्य हैं। उन अनेक रूपों में से एक रूप यद्यपि दूसरे रूपों पर नियन्त्रण रखने का, उनमें अनुशासन लाने का अथवा उनको आकार देने का प्रयत्न करता है, तो भी उसका यह प्रयत्न अपने-आपको अधिक संकुचित बनानेवाला और आबद्ध करनेवाला ही होता है। वस्तुतः एक पूर्ण का आकलन उसके एक अंश के द्वारा कभी सम्भव नहीं होता। इसीलिए हमें उस असली एक का आकलन नहीं हो पाता, कभी दर्शन नहीं होता। वह हमारे अवधान में ही नहीं आता। क्योंकि उसके एकाध अंश से ही हम भ्रमित हो जाते हैं। एक अंश ही अपना विभाजन करके अनेक बनता रहता है, इसलिए पूर्ण का ज्ञान प्राप्त करने के लिए और उन अनेक के संघर्ष का अवधान करने के पहले अपनी वासना के स्वरूप को जानना चाहिए। इच्छा का और वासना का एक ही व्यापार होता है। हमारे विविध प्राप्तव्य और साध्य कितने ही प्रकार के तथा परस्पर-विरोधी प्रतीत हों, तो भी वस्तुतः वे सब वासना की ही उपज होते हैं। लेकिन वासना का अवरोध करना उपयुक्त नहीं। उसका उदात्तीकरण करना भी उचित नहीं। बल्कि जिसमें वासना उद्भूत होती है, वह अहं को एक ओर रखकर, यह जानना चाहिए कि वासना क्या है। वासना को जाननेवाले अहं को कायम रख-

कर अगर हम वासना के स्वरूप को जानना चाहेंगे, तो फिर यह अहं वासना की ही उपज होने से, वासना कायम ही रहेगी और उसके स्वरूप का आकलन नहीं हो सकेगा। उस अहंरूप अनुभविता के बिना ही वासना के स्वरूप को जानना अर्थात् वह एक और वे अनेक—इससे मुक्ति प्राप्त करना है।

सामाजिकता के समर्थन अथवा निषेध, उसके विश्लेषण अथवा उसकी स्वीकृति के सभी कार्यों द्वारा वह अहंरूपी अनुभविता अधिकाधिक पुष्ट ही होती है और इस अनुभविता को तो पूर्ण का आकलन होना सम्भव ही नहीं। यह अनुभविता संचयकी पोटली है। इस संचय की अर्थात् भूतकाल की परछाईं में रहकर उस पूर्ण का दर्शन कभी सम्भव नहीं। भूतकाल के आधार पर कर्म की दिशा दिखाई दे सकती है। यह कर्म साधनों पर आधृत होगा, लेकिन साधनों का संरक्षण करने का मतलब सत्य का यथार्थ आकलन नहीं है। यथार्थ आकलन मन या विचार की कोटि की वस्तु ही नहीं है। जो मन की कोटि में आता ही नहीं, उसे पाने के लिए विशिष्ट अनुशासन से हमने विचार को चुप भी कर डाला, तो भी उसके कारण जो अनुभव में आयेगा, वह भी भूतकाल द्वारा उत्पन्न विक्षेप ही होगा। इस समग्र प्रक्रिया का अवधान होते ही शान्ति सहज साकार होती है। किन्तु यह शान्ति अनुभूति द्वारा साकार नहीं होती। ऐसी सहज शान्ति में ही आकलनात्मक संविद् का उदय होता है। □

१९. निद्रा

कड़ाके की ठंड के कारण पेड़ों के पत्ते झड़ गये थे। पल्लव-विहीन डालियाँ आकाश में एकदम नंगी-नंगी दीख रही थीं। बारहों महीने हरे रहनेवाले पेड़ वहाँ बहुत कम थे और उनको भी ठंडी हवा का और बर्फीली रात्रियों की शीत का झटका शायद काफी लगा था। दूर तक फैले हुए उस ऊँचे पर्वत पर भी मालूम होता था कि काफी बरफ गिरी थी और लहरों जैसे धवल-शुभ्र मेघ उस पर मँडरा रहे थे। कई महीनों से वर्षा न होने से घास पर मैला-सा कत्थई रंग चढ़ गया था। वसन्ती वर्षा में अभी पर्याप्त विलम्ब था। धरती निद्रावस्था में पड़ी थी। हरे-हरे पेड़-पौधों पर वसेरा करनेवाले पक्षियों की वह सुखद हलचल अब कहीं दिखाई नहीं पड़ रही थी। छोटे-बड़े सब रास्ते धूलि-धूसरित और कंकरीले हो गये थे। दक्षिण की ओर जानेवाली कुछ बतखें जलाशय पर विश्राम कर रही थीं। पर्वत-श्रृंखला में आगामी वसंत का सुप्त संकेत दिखाई दे रहा था और पृथ्वी को वसंत के मीठे सपने आ रहे थे।

यदि हमें निद्रा से संपूर्णतया वंचित कर दिया जाय तो क्या होगा ? आपस में लड़ने-झगड़ने, एक-दूसरे के विरुद्ध कारंवाइयाँ करने अथवा गलत-सलत काम करने के लिए ही हमें अधिक समय मिलेगा न ? निद्रा समाप्त होने से हममें अधिक निष्ठुरता और अधिक निर्दयता नहीं आयेगी ? अथवा विनम्रता, दयाशीलता और मितव्ययतापूर्वक जीने के लिए हमें अधिक समय मिलेगा ? और इसी तरह क्या नव-निर्माण का भी समय मिलेगा ? निद्रा एक अद्भुत वस्तु है। उसकी महत्ता भी विशेष प्रकार की है। अनेक लोगों का दिन का सारा मनोव्यापार नींद में भी सुप्त-गुप्त रूप से चलता रहता है। निद्रावस्था का मतलब है—जागृत अवस्था के कष्टप्रद अथवा उत्तेजक ढंग के जीवन का सातत्य सुप्त-गुप्त रूप से जारी रहनेवाली अवस्था। निद्रा का मतलब है दिनभर के वेढंगे और निरर्थक जीवन-कलह का एक भिन्न-स्तरीय विस्तार।

वस्तुतः निद्रा से ही हमारा शरीर शक्ति से भरकर ताजा होता रहता है। हमारी जो देहांतर्गत सेंद्रिय व्यवस्था है, उसका एक स्वतन्त्र अस्तित्व है। निद्रावस्था में जब देह का जागृत व्यापार बन्द रहता है, तब इस स्वतन्त्र सेंद्रिय व्यवस्था को नित्य-नवीनता प्राप्त होती रहती है। कारण, निद्रावस्था में मनुष्य की वासना विश्रब्ध हो जाती है। अतः देह की इस सेंद्रिय व्यवस्था में वह कोई परिवर्तन नहीं होने देती। लेकिन निद्रा के कारण एक बार शरीर ताजगी से भर गया कि फिर वासना-व्यापारों को नये-नये आवेग-स्थान ढूँढ़ने और अपना विस्तार करने का अधि-काधिक अवसर मिलता है। यह स्पष्ट है कि देहान्तर्गत सेंद्रिय व्यवस्था में हम जितना कम परिवर्तन करेंगे, उतना ही हमारा हित है। इस स्वतन्त्र सेंद्रिय व्यवस्था पर मन की सत्ता जितनी कम चलेगी, उतने अंश में वह व्यवस्था अधिक नैसर्गिक और निरामय रहेगी। यों इस सेंद्रिय व्यवस्था में मन की विकृति के कारण या उसकी अंगभूत दुर्बलता के कारण कुछ विकृति उत्पन्न हो जाना अलग बात है।

निद्रा में अतीव अर्थगर्भता निहित रहती है। लेकिन वासनाएँ जितनी बलवती होंगी, निद्रा की अर्थगर्भता उतनी ही कम हो जायगी। वासनाएँ प्रवृत्तिशील हों या निवृत्तिशील, वे मूलतः प्रवृत्तिशील ही होती हैं। निद्रा के कारण यह प्रवृत्तिशीलता उतने समय के लिए स्थगित हो जाती है। निद्रा वासना-विरोधी स्थिति नहीं है। वह निवृत्तिशीलता भी नहीं है। बल्कि वह तो ऐसी स्थिति है, जिसमें वासना पैठ ही नहीं सकती। निद्रावस्था में बोध के ऊपर-ऊपर के स्तर पर स्तब्धता निर्माण होती है और इस कारण बोध के गहरे स्तर के सन्देश को ग्रहण करने की सामर्थ्य उस ऊपरी स्तर में आती है। लेकिन बोध के सम्पूर्ण प्रश्न का इसके कारण केवल आंशिक आकलन ही होता है। वस्तुतः जागते और सोते बोध के सम्पूर्ण स्तरों में

सहज रूप से परस्पर संवाद निर्माण हो सकता है। यह आवश्यक भी है। क्योंकि इस परस्पर संवाद के कारण, मन को अपना जो अवास्तविक महत्त्व प्रतीत होने लगता है, उससे वह मुक्त होता जाता है और फिर बोध के व्यापार में मन के महत्त्व का कोई स्थान शेष नहीं रह जाता। अपने ही संकोच को मूर्त करने के अपने व्यापार से मन सहज स्वाभाविक ढंग से मुक्त हो जाता है। इस प्रक्रिया में कुछ विशिष्ट होने की मन की प्रवृत्ति पूरी तरह लुप्त हो जाती है और अनुभवों को सतत संचित करते रहने का आवेग भी कतई नहीं बचता।

लेकिन निद्रावस्था में तो और भी बहुत-कुछ मूर्त होता रहता है। इस अवस्था में हमें अपनी समस्याओं का उत्तर मिलता है। ऊपरी स्तर की मन की बोधावस्था अथवा जानकारी उस समय शान्त हो जाती है। इस स्थिति में हमें अपनी समस्याओं का उत्तर मिलता है, यह आश्चर्य की बात नहीं है। लेकिन इससे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा अर्थगर्भ कुछ बात निद्रावस्था में मूर्त होती है। वह है मन को प्राप्त होनेवाली नूतनता। यह नूतनता बुद्धिपुरस्सर किये गये प्रयत्नों का फलित नहीं होता। हम एकाध नैसर्गिक देन अथवा क्षमता का बुद्धिपुरस्सर संवर्धन कर सकते हैं, एकाध तंत्र का विकास कर सकते हैं, अथवा अपने बरताव के एकाध विशिष्ट नमूने का भी विकास कर सकते हैं। लेकिन ऐसा संवर्धन या ऐसा विकास करना नूतनता प्राप्त करना नहीं है। बुद्धिपुरस्सर संवर्धन नवसर्जन नहीं है। कुछ विशिष्ट होने की तरंग और उसके लिए बुद्धिपुरस्सर प्रयत्न जब तक चलते रहते हैं, तब तक इस सर्जनशील नूतनता का उदय ही नहीं होता। उसके लिए समस्त संचयात्मक आवेगों और उद्रेकों का मनःपूर्वक सहज रूप से त्याग जरूरी है और आगे के अनुभवों के लिए और साध्य-उपलब्धि के लिए गतानुभवों का सँचय भी सहज रूप से छूट जाना चाहिए। क्योंकि, मन के इस संचयात्मक, स्वसंरक्षणात्मक उद्रेक में काल-श्रेणी उत्पन्न होती है और यह उद्रेक सर्जनशील नूतनता में सदैव बाधक साबित होता है।

हम जिसे मन की बोधावस्था या जानकारी समझते हैं, वह कालक्रम की कोटि में ही विचरनेवाली चीज है। इस जानकारी का काम यही है कि नित्य होनेवाले अनुभवों को मन के विभिन्न स्तरों पर दर्ज करके रखे और उनका संचय करती रहे। इस जानकारी की कक्षा में जो-जो घटित होता है, वह केवल उसीका विक्षेप होता है। इस विक्षेप की एक विशिष्ट प्रकृति होती है और सहज ही उसकी नाप-तौल की जा सकती है। निद्रावस्था में या तो यह जानकारी बलवती होती है अथवा उसके क्षेत्र में कुछ-न-कुछ भिन्न ही घटित होता है। हममें से बहुतों की निद्रावस्था में यह संचयशील जानकारी अधिक दृढ़तर ही बनती है। अनुभवों का लेखन और संचयन करते रहने की इस जानकारी की प्रक्रिया में केवल अहं-विस्तार ही

मूर्त होता है। उसमें नूतनता कतई नहीं होती। अनुभव के इस विस्तार के कारण सर्वसमावेशक जैसा कुछ-न-कुछ साध्य करने की और नया ज्ञान हाथ लगने की विशेष उल्लास-भावना मन में निर्माण होती है। लेकिन उल्लास की यह भावना सर्जनशील नूतनता नहीं है। नूतनता के निर्माण के लिए, कुछ विशिष्ट बनने के लिए दौड़-धूपवाली यह प्रक्रिया पूर्णतः विलुप्त हो जानी चाहिए। इस विलुप्तता का स्वरूप ऐसा न होना चाहिए कि वह अधिक अनुभव प्राप्त करने का एक साधन बने। बल्कि यह विलुप्तता केवल विलुप्तता के लिए ही, निर्हेतुक होनी चाहिए।

कुछ विशिष्ट होने की प्रवृत्ति जब पूरी तरह मिट जाती है, कार्यकारणभाव का अन्त हो जाता है, तभी निद्रावस्था में और अनेक बार जागृत अवस्था में भी, उस कालातीत का, उस कार्यकारणभावातीत का उदय होता है। □

१७. प्रीति और मानवीय सम्बन्ध

फार्म से सटकर जानेवाली वह पगडंडी निकट की पहाड़ी तक जाती थी। पहाड़ी पर से फार्म के आसपास के मकान, गाय-बछड़े, मुर्गियाँ, घोड़े और तरह-तरह के कृषि-उपकरण दीख रहे थे। झाड़-झंखाड़ों के बीच से मोड़ खाती हुई वह पगडंडी बहुत सुन्दर लग रही थी। उस पर से हरिण और जंगली पशु भी आते-जाते होंगे, क्योंकि उनके पैरों के निशान स्पष्ट रूप से उभरे हुए थे। उस फार्म के आसपास जब अतिशय निस्तब्धता होती थी, तब वहाँ की बातचीत और रेडियो की ध्वनि-तरंग काफी दूर तक सुनाई देती थी। उस फार्म की सार-सँभाल बढ़िया ढंग से की जाती थी और उसके भीतर की सारी वस्तुओं की सजावट में सफाई और व्यवस्थितता थी। बीच-बीच में क्रोधपूर्ण तेज आवाज सुनाई देती थी और फिर लड़के-बच्चों का शोरगुल शान्त होता मालूम होता था। आसपास के वृक्षों में एक प्रकार का संगीत निनादित हो रहा था, लेकिन रोने-चिल्लाने की आवाज उस संगीत को भी भेद कर सुनाई दे रही थी। इतने में घर के दरवाजे के झटके से खुलने की आवाज हुई और एक स्त्री तपाक से बाहर निकली। वह उसी तरह जोश में गोशाला की तरफ गयी और एक डंडे से गाय को जोर से मारने लगी। मारने की यह तीखी आवाज भी पहाड़ी पर सुनाई पड़ रही थी।

प्रिय व्यक्ति के प्रति अपने स्नेह का हम कितने सहज रूप से नाश कर डालते हैं! किसी शब्द के कारण, किसी हावभाव के कारण अथवा हँसी के कारण हममें दूरीभाव की दीवाल कितनी जल्दी खड़ी हो जाती है! स्वास्थ्य की स्थिति,

मनोवृत्ति और वासना—इन सबकी हमारी स्नेहभावना पर गहरी छाया पड़ती है और पहलेवाला तेजस्वी और चिन्मय स्वरूप निस्तेज और भारभूत बन जाता है। सब चीजों का अपने ही हित के लिए उपयोग करते रहने की वृत्ति के कारण हम अपने को बराबर दमित और श्रांत बना डालते हैं। इसके कारण जो उत्कट और स्पष्ट होता है, वह मन्द, निर्बुद्ध और धुंधला हो जाता है। व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों में सतत संघर्ष के कारण तथा आशा और विफलता के बीच के द्वन्द्व के कारण पहले का सहज और सुन्दर, भयानक और अपेक्षाव्याकुल बन जाता है। मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध बहुत उलझे हुए तथा कठिन होते हैं और आघात न होने देकर उसमें से बाहर निकलनेवाले कितने अल्प होते हैं। इस सम्बन्ध को स्थिर, शाश्वत और सातत्यशील रखने की हमारी इच्छा हो, तो भी सम्बन्ध (रिश्ता) तो गतिशील ही होता है—इसकी उपेक्षा करने से नहीं चलेगा। मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध में निहित सहज गतिशीलता की इस प्रक्रिया को पूरी तरह और गहराई से समझना आवश्यक है। किसी आंतरिक या बाह्य आदर्श के अवगुंठन में ही यह सम्बन्ध सतत रहे, इसका प्रयत्न उपयुक्त नहीं हैं। वस्तुतः पूरी समाज-रचना एक विशिष्ट स्वरूप का स्थितिशील आदर्श है। यह आदर्श जिन अधिकारों और आदेशों के बल पर चलता है, उनकी पकड़ से छूटना तभी सम्भव है, जब हृदय में उत्कट स्नेह हो। मानवीय सम्बन्धों का स्नेह भाव व्यक्तियों को अधिकाधिक शुद्ध बनाता है। स्नेह अखण्ड शुद्धिकरण की प्रक्रिया है। क्योंकि, उसके कारण व्यक्तियों को अपने अहं-व्यापारों का दर्शन होता रहता है। जब तक यह दर्शन नहीं होता, तब तक मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को सार्थकता प्राप्त नहीं होती।

लेकिन ऐसा स्पष्ट दर्शन न हो, इसके लिए हम अपने से ही निरन्तर कितना झगड़ते और खींचतान करते हैं! यह खींचतान विभिन्न स्वरूपों में व्यक्त होती है। लोगों के पारस्परिक सम्बन्ध कभी स्वामीभाव, तो कभी सेवकभाव धारण करते हैं, कभी भय के, तो कभी आशा के दास बनते हैं, और कभी मत्सर से ग्रस्त होते हैं, तो कभी परिस्थिति की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि हम स्नेह करते ही नहीं हैं। और अगर करते भी हैं तो हमारा आग्रह रहता है कि विशिष्ट रूप में ही वह प्रकट हो। स्नेह-भावना की सहज अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता हम कभी देते ही नहीं। क्योंकि, स्नेह हम हृदय से नहीं, मन और विचार से करते हैं। मन को चाहे जैसा मोड़ दिया जा सकता है। लेकिन स्नेह को मोड़ देना सम्भव नहीं। मन कठिन और दुर्भेद्य बन सकता है, लेकिन स्नेह के लिए यह सम्भव नहीं है। मन को चाहे जितनी जबरदस्ती से परावृत्त किया जा सकता है, मन अपना संकोच कर सकता है, वह व्यक्ति-सापेक्ष या व्यक्ति-निरपेक्ष बन सकता है। लेकिन

स्नेह की किसीके साथ तुलना नहीं की जा सकती अथवा उसके चारों ओर किसी प्रकार की बाड़ भी नहीं लगायी जा सकती। मुख्य कठिनाई यही है कि जो कुछ मन और विचार द्वारा निर्मित होता है, उसीको हम 'स्नेह' कहने लगते हैं। हम हृदय को मनोनिर्मित बातों के कूड़े-करकट से भर डालते हैं। इस तरह हम अपने हृदय को सदैव (स्नेह की दृष्टि से) रीता-रीता रहने देते हैं और आकांक्षाओं से व्याकुल बना डालते हैं। हमारा मन ही सम्बन्धों के विशिष्ट आविष्कार से चिपक जाता है, मत्सरग्रस्त हो जाता है, विशिष्ट सम्बन्ध को मजबूती से पकड़ लेता है अथवा उसका नाश कर डालता है। वस्तुतः हमारे जीवन पर हमारे शरीर तथा मन की ही सत्ता चलती है। एकाध व्यक्ति पर स्नेह करके हम संतोष नहीं मान लेते, बल्कि वह व्यक्ति भी हमसे स्नेह करे, यह हमारी अपेक्षा रहती है। दिया गया ब्याजसहित वापस प्राप्त करने के लिए हम स्नेह का दान करते रहते हैं। लेकिन यह औदार्य मन का होता है, हृदय का नहीं। मन हमेशा जो कुछ सुरक्षित और निश्चित है, उसीके शोध में रहता है। लेकिन स्नेह को निश्चितता का आकार देना क्या मन के लिए सम्भव है? काल-क्रम ही जिसका स्वभाव है, उस मन को स्वभावतः ही कालातीत और अनन्त स्नेह का कभी स्पर्श होगा?

यों तो हार्दिक स्नेह में भी कुछ छल-प्रपंच होता ही है। हमने अपने हृदय को इतना भ्रष्ट कर डाला है कि भयाकुलता के कारण वह संकुचित और उलझनभरी अवस्था में ही रेंगता रहता है। इसी कारण जीवन इतना अधिक यातनामय और क्लांतिकर बन जाता है। एक क्षण में तो लगता है कि हममें स्नेह है, लेकिन दूसरे ही क्षण वह खो जाता है। जिस क्षण स्नेह होता है, उस क्षण हममें एक विलक्षण और अकल्पित सामर्थ्य का संचार होता है। यह सामर्थ्य मन के द्वारा निर्मित नहीं होती। इस सामर्थ्य के अगाध मूलस्रोत की थाह पाना सम्भव नहीं। लेकिन दुर्भाग्य से मन पुनः इसी सामर्थ्य को नष्ट कर डालता है। क्योंकि, इस संग्राम में हमेशा मस ही विजयी होता हुआ दीखता है। हमारे भीतर चलनेवाला यह संघर्ष मन की विविध युक्तियों-प्रयुक्तियों से शान्त नहीं किया जा सकता। इस संघर्ष की समाप्ति के लिये कोई भी साधन और कोई भी मार्ग उपलब्ध नहीं है। साधनों का शोध करना मन की ही एक उत्कट लालसा है। मन स्वामित्व दर्शाना चाहता है। संघर्ष रोककर शान्ति प्राप्त करने अथवा कुछ विशिष्ट बनने के लिए ही मन ऐसा करता है।

स्नेह मन का कल्पित साध्य नहीं है। इसलिए स्नेह के साधन का प्राप्त होना भी शक्य नहीं रहता, यह वस्तुस्थिति है। लेकिन हमारी मुख्य कठिनाई यही है कि हम निश्चित रूप से इसे समझते ही नहीं। इस वस्तुस्थिति का जब सम्पूर्ण और गहरा आकलन होता है, तभी इस सांसारिकता के उस पार रहनेवाले का स्पर्श होता है। उस गूढ़

अज्ञात के स्पर्श के बिना हम चाहे जो करें, मानवीय रिश्तों में चिरन्तन सौख्य का उदय सम्भव नहीं। यदि आपको इस स्पर्श का अनुभव प्राप्त हो गया हो और मुझे न हुआ हो, तो दोनों में सहज ही संघर्ष शुरू हो जायगा। आपके अनुग्रहीत हो जाने से आपमें संघर्ष नहीं रहेगा, लेकिन मुझमें वह चलता ही रहेगा। मेरी यह यातना और मेरा यह दुःख मुझे आपसे तोड़ डालेगा। क्योंकि, सुख की भाँति दुःख भी स्व-संकोचक ही होता है। मेरे स्वयं के कर्तृत्व से जो कभी निर्माण नहीं किया जा सकता, उस स्नेह का जब तक मुझे लाभ नहीं मिलता, तब तक हमारा आपसी सम्बन्ध यातनामय ही रहनेवाला है। आपको यदि इस स्नेह का अनुग्रह प्राप्त हो गया है, तब मैं कैसा भी क्यों न होऊँ, आप मुझसे स्नेह किये बिना रह नहीं सकेंगे। क्योंकि, तब आपके स्नेह का स्वरूप मेरे बर्ताव पर अवलम्बित नहीं रहेगा। मन कितना ही फँसाने का प्रयत्न करे तो भी आप और मैं वस्तुतः अलग-अलग ही रहते हैं। किसी-किसी क्षण में और किसी-किसी स्थान में हमारा जीवन-प्रवाह भले ही एक-दूसरे को स्पर्श करे, तो भी एकात्मता होनी चाहिए, वह आपमें और मुझमें नहीं। बल्कि मेरे ही अन्तःकरण में वह एकात्मता मूर्त होनी चाहिए। इस एकात्मता का निर्माण करना मन के लिए कभी सम्भव नहीं। उल्टे, जब मन के सारे प्रयत्न समाप्त हो जाते हैं और वह पूर्ण शान्त हो जाता है, तभी इस एकात्मता का उदय होता है। तभी कहा जा सकता हैं कि मानवीय सम्बन्धों में दुःख शेष नहीं रहा। □

८. ज्ञात और अज्ञात

उस प्रशान्त जल प्रवाह पर सायंकालीन लम्बी-लम्बी परछाइयाँ पड़ी हुई थीं। दिनभर के प्रवाह से श्रान्त नदी शान्त हो रही थी। मछलियाँ पानी में बाहर को उचक रही थीं। बड़े-बड़े पक्षी रैन बसेरे के लिए किनारे के विशाल वृक्षों की तरफ जा रहें थे। आकाश में बादल नहीं थे और चान्द्र-नीलिमा उल्लसित थी। नदी के ऊपरी भाग से एक नौका आ रही थी। उसमें लोग खचाखच भरे थे और वे हथेलियों से ताल देते हुए गीत गा रहे थे। कुछ दूरी पर एक गाय रँभा रही थी। सायंकाल के परिमल से वातावरण भर गया था। डूबते हुए सूर्य-प्रकाश में नदी का जल चमक रहा था। उसमें गेंदें के फूलों की एक माला बही जा रही थी। वह सारा दृश्य कितना विलक्षण, रमणीय और चैतन्यपूर्ण था—वह नदी, वे पक्षी, और वे ग्रामीण जन!

हम नदी तट पर एक ऊँची-सी जगह पर पेड़ के नीचे बैठे थे। पास ही एक छोटा-सा मन्दिर था और उसके आसपास कुछ मायें विचर रही थीं। वे अत्यन्त कृश-

काय थीं। मन्दिर साफ-सुथरा था। उसके पास की वह लता पानी दे-देकर विकसित की गयी थी। एक आदमी मन्दिर में सायंकालीन आरती कर रहा था। उसकी वाणी में कातरता थी। डूबते हुए सूर्य की अन्तिम किरणों के कारण पानी मानो नव-विकसित फूलों के रंग से रँग गया था। कुछ ही देर बाद एक आदमी हमारे बीच आकर बैठ गया और अपने अनुभव के बारे में बोलने लगा कि उसने ईश्वर की खोज में आयु के अनेक वर्ष खपा दिये, नाना प्रकार की कठिन साधनाएँ कीं और अनेक प्रिय बातों का त्याग किया। वह सामाजिक कार्यों में भी बहुत हिस्सा ले चुका है और एक विद्यालय के निर्माण में भी बहुत मदद की है। उसने आगे कहा कि उसे अनेक बातें अच्छी लगती हैं, लेकिन ईश्वर की खोज उसका प्रमुख प्राप्तव्य है और विगत अनेक वर्षों की साधना के उपरान्त अब उसे ईश्वर की आवाज सुनाई पड़ रही है और वही छोटी-बड़ी सब बातों में उसका मार्गदर्शन कर रही है। उसने यह भी कहा कि अब वह अपनी इच्छा से कुछ नहीं करता, बल्कि अन्तर की ईश्वरीय आवाज के आदेश का अनुसरण करता है। यद्यपि उस आवाज की शुद्धता उससे कभी-कभी दूषित होती रहती है, तथापि वह उसे लगातार मिलती रहती है। उस आवाज द्वारा दिये गये संदेश को ग्रहण करने का पात्र बनने की पवित्रता शरीर में आये, यह उसकी प्रभु से प्रार्थना है।

जो असीम है, वह हमारी समझ में आना सम्भव है? जो काल के द्वारा रचित हैं, उसके माध्यम से कालातीत का शोध लगना क्या सम्भव है? बड़ी दक्षतापूर्वक साधना करने के बाद भी क्या वह हमें उस अज्ञात की ओर पहुँचाने में कभी समर्थ हो सकती है? जिसका न आदि है, न अन्त, वह प्राप्त करा देना किसी भी साधना का सध सकता है? क्या अपनी इच्छा-आकांक्षाओं के जाल में उस असीम सत्य को हम पकड़ सकते है? जो कुछ हमारी समझ में आता है और इसलिए जिसे पकड़कर रख सकते हैं ऐसा प्रतीत होता है, वह सब वही होता है, जो मन को पहले से ज्ञात है। वह उस गत ज्ञान का ही विक्षेप होता है। उस अज्ञात को पकड़ना ज्ञात के लिए कभी सम्भव नहीं। जिसका नामकरण किया जाता है अथवा जिसकी व्याख्या की जाती है, वह नामरूपातीत नहीं है, अव्याख्येय नहीं है। जब वस्तु का या भावना का नामकरण किया जाता है, तब हम केवल उसीको जागृत करते रहते हैं, जो पहले से ज्ञात है। और यह जागृत गतानुभव, गतार्थ या पूर्वघटित के आधार पर मन के द्वारा दिये गये उत्तर ही होते हैं। ये उत्तर कितने ही उदात्त या सुखद प्रतीत हों, उनका वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। आन्तरिक या बाह्य उत्तेजना मिलते ही हम उसका उत्तर देने लगते हैं। लेकिन सत्य किसीको भी और कैसी भी उत्तेजना नहीं देता। वह केवल 'होता' है।

मन की गति ज्ञात से ही प्रारम्भ होती है और उसका अन्त भी ज्ञात में ही होता है। उस अज्ञात तक पहुँचना मन के लिए कभी सम्भव नहीं। जो अज्ञात है, उसका

विचार तक बिलकुल असम्भव है। आप जिस-जिसका विचार करते हैं, वह ज्ञात में से, उस भूतकाल में से ही निष्पन्न होता है, फिर वह दूर का भूतकाल हो अथवा क्षणपूर्व का भूतकाल हो। विचार का मतलब है नाना तरह की प्रभावशाली बातों से निर्मित भूतकाल। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों तथा दबावों के अनुसार वह अपना स्वरूप बदलता है। लेकिन अंततः यह सारी काल-क्रम की ही प्रक्रिया है। किसीका भी निषेध या आग्रह रखना ही विचार के लिए सम्भव है। नूतन की खोज करना विचार के वश की बात नहीं। विचार की भेट उस नित्य-नूतन से हो नहीं सकती। लेकिन जब विचार पूरी तरह निस्तब्ध हो जाता है, तब कदाचित् उस नूतन का उदय होता है। हाँ, इस तरह उदय होते ही, विचार देखते-देखते नूतन को पुरातन में, गतानुभूति में बदल डालता है। अनुभूति का विशिष्ट नमूना आगे रखकर, जो-जो सामने आता है, उसे विचार सतत आकार देता रहता है, उसमें परिवर्तन करता रहता है अथवा उस पर गतानुभूति का रंग चढ़ाता रहता है। निवेदन करना और उसे दूसरों तक पहुँचाना वस्तुतः विचार का कार्य है, साक्षात् अनुभवन की अवस्था में प्रवेश करना बिलकुल नहीं। हाँ, जब साक्षात् अनुभवन समाप्त होता है, तब विचार प्रवेश करता है और ज्ञात अनुभव के आधार पर, इस नये अनुभवन का नामकरण करता है। विचार का अज्ञात में संचार सर्वथा असम्भव है, इसलिए सत्य की खोज अथवा सत्य का अनुभवन विचार के लिए कभी सम्भव नहीं।

विशिष्ट प्रकार का अनुशासन, त्याग, अनासक्ति, कर्मकाण्ड, सद्गुण-साधना आदि सब बातें कितनी ही उदात्त क्यों न हों, ये सब विचार-प्रक्रिया की ही उपज हैं। एकाध विशिष्ट साध्य प्राप्त कर लेना अथवा एकाध हेतु को पूर्ण कर लेना – बस यहीं तक विचार पहुँच पाता है। और यह सब भी केवल ज्ञात की कक्षा में ही। वस्तुतः हेतु को पूरा करना, यानी अपने-आपको सुरक्षित कर लेना, स्वरक्षण सिद्ध करना और ज्ञात की कक्षा में आनेवाली निश्चिन्तता प्राप्त करना है। जो नामरूपातीत है, जो अव्याख्येय है, उसके नाम पर सुरक्षितता प्राप्त करने का प्रयत्न करना यानी उस नामरूपातीत से दूर जा पड़ना है। यह सुरक्षितता-प्राप्ति उस ज्ञात का, भूतकाल का केवल विक्षेप ही होती है। इसलिए मन का पूरी तरह और गहराईपूर्वक निस्तब्ध हो जाना आवश्यक है। यह निस्तब्धता त्याग, उदात्तीकरण अथवा बुद्धिपुरस्सर विरोध की कीमत चुकाकर नहीं खरीदी जा सकती। बल्कि जब मन कुछ भी साधने का प्रयास पूरी तरह छोड़ देता है और कुछ विशिष्ट होने की प्रक्रिया में रंचमात्र भी नहीं अटकता, तभी इस निस्तब्धता का उदय होता है। यह निस्तब्धता संग्रहात्मक नहीं होती। विशिष्ट साधनों से वह निर्मित भी नहीं हो सकती। मन के लिए वह कालातीत जितना अज्ञात है, उतनी ही अज्ञात निस्तब्धता भी रहनी चाहिए। क्योंकि, मन यदि इस निस्तब्धना का अनुभव करने लगेगा, तो वह अनुभवी तत्काल वहाँ

उपस्थित हो जायगा। यह अनुभवी गतानुभूति का परिपाक होता है। और पहले की निस्तब्धता का उसे ज्ञान होता है। अतः अनुभवी उसका अनुभव लेता रहता है। वह केवल स्व-विक्षेप की पुनरावृत्ति ही साबित होती है। नूतनता का अनुभव करने के लिए मन अथवा अनुभवी कभी समर्थ नहीं होता। इसलिए मन का सम्पूर्ण रूप से निस्तब्ध हुए बिना चारा नहीं है।

ऐसी निस्तब्धता की प्राप्ति के लिए मन की अनुभव लेने की क्रिया रुकनी चाहिए। अर्थात् अनुभवों का नामकरण करना, उनका आलेखन करना और स्मृति में उनका संग्रह करना—ये सारी क्रियाएं सम्पूर्ण रूप से रुकनी चाहिए। ये क्रियाएँ मन के ऊपरी स्तरों में ही नहीं, किन्तु बोध के अलग-अलग स्तरों में अखण्ड जारी रहती हैं। लेकिन जब ऊपरी, उथला मन निस्तब्ध बनता है, तब मन का गहरा स्तर अपना सन्देश बाहर भेजता रहता है। और यह भी जब विराम पा जाता है और इस प्रकार सब स्तरोंसहित सम्पूर्ण बोध जब शान्त और निस्तब्ध हो जाता है, कुछ विशिष्ट होने की आकांक्षा से वह सर्वथा विमुक्त हो जाता है, तभी स्वयंस्फूर्तता को अवकाश मिलता है और तभी उस असीम का उदय होता है। लेकिन यदि यह इच्छा हो गयी कि यह विमुक्तता सतत ऐसी ही बनी रहे, तो वह अहं की, उस इच्छा करनेवाले की स्मृति जाग्रत करती है और उसे सातत्य दिलाती है। तब यह स्मृति-सातत्य ही सत्यदर्शन में बाधक साबित होता है। सत्य में सातत्य नहीं होता, वह क्षण-क्षण नित्य-नूतनता में विचरता है। सातत्यवान् कभी भी सर्जनशील नहीं हो सकता।

ऊपरी स्तर पर मन केवल निवेदन का, केवल संवाद का ही साधन है। इसलिए जो असीम, अथाह है, उसकी थाह पाना मन के लिए सम्भव नहीं है। सत्य अनिर्वचनीय होता है और जब वह वाणीमें उतारा जाता है, तब वह सत्य रहता ही नहीं।

इसका नाम है 'यथार्थ ध्यान'।

१६. सत्य की खोज

वह बहुत दूर से आया था। जहाज और वायुयान की हजारों मील की यात्रा करके वह यहाँ पहुँचा था। वह केवल अपनी ही भाषा जानता था। अनेक प्रकार की असुविधाएँ बरदाश्त करके यहाँ के नये वातावरण से मेल बैठाने में वह पराकाष्ठा ही कर रहा था। यहाँ के जलवायु और यहाँ के भोजन की उसे कतई आदत नहीं थी। उसका जन्म और विकास अत्यन्त ऊँचे और ठंढे प्रदेश में हुआ था। इसलिए

यहाँ की उष्ण तथा व्याकुल करनेवाली हवा से उसे कष्ट हो रहा था। वह उत्तम अध्ययनशील व्यक्ति था, एक अच्छा वैज्ञानिक भी था और उसने थोड़ा-बहुत लेखन भी किया था। उसने पूर्व के और पश्चिम के तत्त्वज्ञान का भी अच्छा अध्ययन किया था और वह रोमन-कैथोलिक था। वह कह रहा था कि इन सब बातों से पिछले अनेक वर्षों से उसे समाधान नहीं हो पा रहा है, लेकिन केवल परिवार के लिए अब तक परम्परागत जीवन-पद्धति के अनुसार चलता आया है। आगे उसने बताया कि उसका वैवाहिक जीवन भी एक प्रकार से .सुखी है, अपने दोनों लड़कों पर उसका स्नेह है, वे लड़के विदेश में पढ़ रहे हैं और उनका भविष्य उज्ज्वल है। यह सब होने पर भी जीवन में और अपने काम के विषय में असमाधान प्रतिवर्ष बढ़ता ही गया और इधर कुछ महीनों पूर्व तो यह चोटी पर पहुँच गया, इसलिए पत्नी और बच्चों की समुचित व्यवस्था करके उसने कुटुम्ब छोड़ दिया और अब यहाँ आ पहुँचा है। उसने यह भी बताया कि उसके पास आवश्यकताभर धन है और अब वह ईश्वर की खोज में यहाँ आया है, उसका मानसिक सन्तुलन बिलकुल नहीं बिगड़ा है और वह अपने ध्येय के प्रति निःशंक है।

मन का सन्तुलन बिगड़ा है या नहीं, इस विषय का निर्णय जैसे असन्तुष्ट और असफल व्यक्ति नहीं दे सकता, वैसे ही यशस्वी लोग भी नहीं दे सकते। यशस्वी मनुष्यों का भी सन्तुलन बिगड़ा हो सकता है और असफल और अयशस्वी व्यक्ति तो वृत्ति से कटु और वैफल्यवादी होते ही हैं। अथवा वस्तुस्थिति से दूर जाने के लिए एकाध-स्व-विक्षेपित बहाना ढूँढ़ते रहते हैं। मनुष्य सन्तुलित है या नहीं—इसका निर्णय करना अथवा सन्तुलन प्राप्त करा देना, मनोविज्ञान-शास्त्रियों के लिए भी सम्भव नहीं। समाज-रचना के प्रतिष्ठित आदर्शों से व्यक्तियों का बर्ताव मेल खाता है या नहीं, यह सन्तुलन का कोई विश्वस्त लक्षण नहीं है। क्योंकि, यह प्रतिष्ठित आदर्श सन्तुलन बिगड़ी हुई संस्कृति का भी निदर्शक हो सकता है। सत्ता, सम्पत्ति, प्रतिष्ठाभिलाषा और उन पर आधृत यह जो समाज रचना है वह तथा उसके विविध प्रकार और आदर्श मूल्य सब वस्तुतः बिगड़े हुए सन्तुलन की समाज-रचना ही है। फिर वह बायीं ओर की और पुरोगामी हो अथवा दायीं ओर की तथा प्रतिगामी हो। और इस समाज-रचना की आधारभूत लोभ-प्रवृत्ति भी शासन-संस्था में केन्द्रीभूत हो गयी हो अथवा नागरिकों में बिखरी हुई हो। वस्तुतः निर्लोभत्व में ही सन्तुलन है। सन्तुलन और सन्तुलन-विचलितता, इन दोनों के विषय में हमारी जो कल्पना रहती है, वह विचार की कक्षा में ही विचरनेवाली होती है। इसलिए यह कल्पना सन्तुलन का निर्णय देने में असमर्थ ही होती है। स्वयं विचार भी, अपने सब मानदण्डों और निर्णयों के साथ, गतानुभूतियों द्वारा ही निर्मित होता है। इसलिए उनमें सत्य नहीं होता। क्योंकि, सत्य कल्पना भी नहीं है, निर्णय भी नहीं है।

ईश्वर क्या कभी खोज करने से उपलब्ध होता है? जो अज्ञेय ही होता है, उसकी खोज करना क्या कभी सम्भव है? वस्तुतः किसी उपलब्धि के लिए हमें यह जानना चाहिए कि हम क्या खोज रहे हैं। अपनी खोज की वस्तु हमें आरम्भ में ही मालूम रहती है। तो जो मिलेगा वह केवल हमारे मन का विक्षेप ही होगा। वह हमारी अभिलाषा की ही उपज होगी। और यह सत्य नहीं है। वस्तुतः सत्य की खोज में निकलने का मतलब सत्य से दूर जा पड़ना ही है। सत्य का कोई निश्चित स्थान नहीं है। इसलिए सत्य तक ले जानेवाला कोई मार्ग सम्भव नहीं है और न मार्गदर्शक ही। 'सत्य' शब्द सत्य वस्तु नहीं है। सत्य क्या किसी विशिष्ट स्थान में, विशिष्ट वातावरण में या विशिष्ट लोगों में आसन जमाकर बैठा होता है? वह अमुक स्थान में है और दूसरे स्थान में नहीं है, क्या ऐसा कहना सम्भव है? कोई एक अमुक सत्य का मार्गदर्शक है और दूसरा नहीं है, ऐसा कहने का भी कोई अर्थ है? सत्य का कोई मार्गदर्शक सम्भव भी है क्या? जब सत्य की खोज की जाती है, और जो हाथ लगता है, वह केवल अज्ञान की ही संतान होता है। क्योंकि, खोज मूलतः अज्ञान के पेट में ही होती है। सत्य खोज द्वारा प्राप्त होनेवाली वस्तु ही नहीं है। खोज करनेवाले जब शून्यवत् हो जायेंगे, तभी सत्य का उदय होगा।

"लेकिन वह अनाम, वह अव्याख्येय क्या मुझे उपलब्ध नहीं होगा? मैं खास तौर से इस देश में आया हूँ, क्योंकि यहाँ के लोगों में सत्य की खोज की भावना अधिक दिखाई देती है। शारीरिक और भौतिक दृष्टि से भी यहाँ अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक और खुले रूप में विचरण किया जा सकता है। वहाँ की तरह नाना सुख-सुविधाओं के साधनों का भार यहाँ ढोना नहीं पड़ता। अन्य स्थानों की तरह सुख-सुविधाओं के भार के नीचे यहाँ का आदमी दबता और कुचलता नहीं है। मुझे लगता है कि मनुष्य मठ या आश्रम में इसलिए जाते हैं कि अंशतः इस दबाव से छुटकारा मिले। लेकिन मठ में जाना मानसिक दृष्टि से पलायन ही है और ऐसे स्व-संकोच को मूर्त करनेवाले किसी सुरक्षित पलायन का सहारा लेने की मेरी इच्छा नहीं है। इसीलिए मैं यहाँ आया हूँ। किसी भी पलायन के जाल में न उलझते हुए जीना तथा उस अनाम—उस अव्याख्येय की खोज करते रहना—यही यहाँ आने का मेरा ध्येय है। लेकिन उसकी खोज की क्षमता मुझमें है भी?" उसने पूछा।

यह क्या मनुष्य की क्षमता की बात है? 'क्षमता' कहते ही उसमें से क्या यह अर्थ नहीं निकलता कि उसमें विशिष्ट प्रकार की कार्यपद्धति होगी, पूर्वनिश्चित मार्ग से प्रवास करना होगा और इस प्रक्रिया से अपनी सारी वृत्ति-प्रवृत्तियों को जोड़ते रहना होगा? अतः जब आप अपनी क्षमता के बारे में पूछते हैं, तब उस विचार के पीछे क्या यही अर्थ नहीं होता? "मैं एक सर्वसामान्य व्यक्ति हूँ, तब अपने प्राप्तव्य को प्राप्त करने के लिए आवश्यक क्षमता मुझमें है या नहीं?"

आपके इस प्रश्न का यही अर्थ है कि जिनमें विशेष क्षमता है, ऐसे अपवादस्वरूप व्यक्तियों को ही सत्य की उपलब्धि सम्भव है, सर्वसाधारण मनुष्य को नहीं। वस्तुस्थिति क्या सचमुच ऐसी ही है कि सत्य का अनुग्रह बहुत थोड़े लोगों पर, विलक्षण बुद्धिमान् लोगों पर ही होता है? आप यह क्यों पूछते हैं कि सत्य प्राप्त करने की क्षमता आपमें है या नहीं? इसका कारण यह है कि यह प्रश्न करते समय उस व्यक्ति का आदर्श हमारे सामने रहता है, जिसके बारे में हमने मान लिया है कि उसे सत्य का साक्षात्कार हो गया है। और यह आदर्श हमसे अत्यन्त ऊँचे स्तर का होने के कारण हमें अपनी क्षमता के बारे में भरोसा नहीं प्रतीत होता। इस तरह हमारी दृष्टि में इस आदर्श को अतिशय महत्त्व प्राप्त हो जाता है। इस कारण हममें और उस आदर्श में स्पर्धा पैदा हो जाती है। उस आदर्श की तरह हमें भी उच्चाँक तक पहुँचना चाहिए, यह आशा हम लगा बैठते हैं। अपनी वर्तमान स्थिति और उस आदर्श की कल्पित अत्युच्च स्थिति, दोनों की हम जान-अनजान में जो तुलना करते रहते हैं उसीमें से यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या मुझमें यह क्षमता है। क्या सचमुच यही वस्तुस्यिति नहीं है?

हम किसी आदर्श के साथ अपनी तुलना क्यों करते हैं? इस तुलना से हमें वस्तुस्थिति का क्या कभी यथार्थ आकलन होता है? फिर, क्या यह आदर्श वस्तुतः हमसे भिन्न भी होता है? क्या यह आदर्श स्वविक्षेपित और स्वर्तिमित वस्तु ही नहीं होती? वस्तुतः हम जैसे हैं, वैसा ही हमारा ज्ञान हमे होने के मार्ग में यह आदर्श क्या बाधा ही निर्माण नहीं करता? वस्तुतः जैसे हम होते हैं, वैसा अपना दर्शन हमें न हो, इसीके लिए तुलना का बहाना हम करने हैं। आदर्श की कल्पना करने का क्या यही अर्थ नहीं होता? स्वतः से दूर भागने के लिए हम अनेक प्रकार के बहानों की खोज करते हैं। तुलना करने की वृत्ति भी वैसा ही एक बहाना है। वस्तुतः हम जैसे होते हैं, वैसा ही अपना दर्शन हुए बिना अर्थात् आत्मदर्शन के बिना, उस तथाकथित 'सत्य' की खोज करते रहना सदैव अपने से दूर भागना ही है। आत्म-दर्शन हुए बिना जिस ईश्वर का आप शोध करेंगे, वह भ्रमनिर्मित ही होगा और भ्रम में से अपरिहार्य रूप से संघर्ष और दुःख ही उत्पन्न होगा। आत्मदर्शन के बिना सम्यक् विचार का प्रारम्भ ही नहीं हो सकता। उसके बिना सब प्रकार का ज्ञान वस्तुतः अज्ञान ही है और वह गड़बड़ और विनाश का ही कारण बनता है। लेकिन आत्मदर्शन कोई अन्तिम साध्य नहीं है। बल्कि उस अव्यय-अक्षय वस्तु के दर्शन के आड़े आनेवाली दीवाल में इस आत्मदर्शन के कारण दरार पड़ती है, यह उसका महत्त्व है।

"लेकिन आत्मदर्शन करना क्या अत्यन्त कठिन नहीं है? और उसके लिए क्या बहुत लम्बी अवधि अपेक्षित नहीं है?" उसने दूसरा प्रश्न किया।

आत्मदर्शन करना कठिन है, यह धारणा ही मूलत: आत्मदर्शन में बाधक हो जाती है। वह कठिन है अथवा उसमें काफी समय लगेगा, ऐसा मानकर चलने का कोई कारण नहीं है। इस तरह वह क्या है और क्या नहीं है, इसका पहले से निश्चय कर लेने की आवश्यकता नहीं है, ऐसा मेरा सुझाव है। आप आत्मदर्शन की केवल शुरुआत ही करें। विविध प्रकार के सम्बन्धों में आप किस तरह का बर्ताव करते रहते हैं उसके अवलोकन से ही आत्मदर्शन होता रहता है। क्योंकि हमारी प्रत्येक कृति किसी-न-किसी सम्बन्ध का आविष्कार ही होती है। संकोच कर लेने से और सब सम्बन्धों से परावृत्त हो जाने से आत्मदर्शन कभी नहीं होता। सब प्रकार के सम्बन्धों से दूर हो जाने का मतलब मरण ही हैं। वस्तुस्थिति यह है कि हम सदैव आत्मदर्शन का प्रतिकार ही करते रहते हैं और मरण उनमें से अन्तिम प्रतिकार ही होता है। बुद्धिपुरस्सर निरोध करता अन्य वस्तु की प्रतिष्ठापना करना और उदात्तीकरण करना—इनमें से किसी एक को स्वीकार करना वस्तुत: प्रतिकार ही है। यह प्रतिकार ही आत्मदर्शन के प्रवाह में बाधक है। अपते विविध प्रतिकारों के अस्तित्व को और स्वरूपों को हमें अपने सम्बन्धों और कृतियों के माध्यम में खोजना होता है। प्रतिकार, चाहे वह प्रवृत्तिशील हो चाहे निवृत्तिशील, तुलनात्मक हो या समर्थनात्मक, अधिक्षेपात्मक हो या वृत्तिसारूप्यात्मक,—यह प्रतिकार नित्य चिन्मय का निषेध ही करता रहता है। यह नित्य चिन्मय अखिल वस्तुमात्र में गर्भित है। रुचि-अरुचि दूर रखकर, नितान्त शून्यरूप से इस गर्भिता का केवल अवधान रखना ही इस चिन्मय के आविष्कार का मार्ग खोल देना है।

इस प्रकार सहज मूर्त होनेवाला, चिन्मय का आविष्कार ही सम्यक्बोध का प्रारम्भ है। उस अज्ञात के, उस अव्यय, अक्षर के उदय के लिए ऐसे सम्यक्बोध की आवश्यकता है। ●

२०. संवेदन-क्षमता

वह बगीचा अत्यन्त रमणीय था। उसकी वह मुलायम हरियाली और ऊँचे-ऊँचे छायादार वृक्ष—सब अतीव सुन्दर थे। उस बगीचे की कोठी खासी विशाल थी और उसके कमरे प्रशस्त हवादार और ठीक आकार के थे। बगीचे के वे छायादार वृक्ष अनेक पक्षियों और गिलहरियों के आश्रय-स्थान थे। उस बगीचे के फौआरे के पास तरह-तरह के छोटे-बड़े पक्षी प्रतिदिन जमा होते थे। कभी-कभी गरुड़ भी वहाँ आते थे। लेकिन प्राय: कौए, चिड़ियाँ और कर्कश कूजन करनेवाले तोते ही वहाँ उतरते थे। वह कोठी और वह बगीचा शहर से काफी दूर था। उसके चारों ओर की सफेद

ऊँची दीवाल के कारण तो यह दूरी और भी अधिक प्रतीत हो रही थी । इस दीवाल के भीतरी परिसर में प्रसन्नता खेल रही थी । लेकिन बाहर राहगीरों का और गाँव का शोर-गुल ही सुनाई दे रहा था । कोठी के बाहरी फाटक से सटकर ही वह रास्ता जाता था । और उसके किनारे थोड़ी ही दूर पर, एक बड़े शहर के बाह्य परिसर में वह गाँव था, जो बहुत गन्दा था । उसकी मुख्य गली में से खुली नाली बह रही थी । घरों के छप्परों पर घास फैली हुई थी । द्वार के आगे की सीढ़ियाँ अल्पना से सुशोभित थीं । गली में बच्चे खेल रहे थे । कुछ जुलाहे अपने घरों के आगे आँगन में कपड़ा बुनने के नाना रंग के धागों के ताने कर रहे थे । कुछ बच्चे उनका यह काम बड़े कुतूहल से निखरते हुए खड़े थे । गली में काफी कोलाहल था और कोई तेज गंध भी वहाँ व्याप्त थी । फिर भी सब मिलाकर उस दृश्य में एक प्रकार का आनन्द और ताजगी थी । गाँव के लोग स्नान किये हुए स्वच्छ दीख रहे थे । हवा में भरपूर गरमी होने से उनके अंगों पर कपड़े लगभग नहीं जैसे ही थे । शाम को कुछ लोग शराब पीकर मत्त हो जाते और जोर-जोर से बड़बड़ाते ।

सजीवता के रस से भरे हुए उस गाँव को और नाजुकता से भरे हुए उस रमणीय बगीचे को केवल एक पतली सी दीवाल ने एक-दूसरे से तोड़ दिया था । वस्तुत: जब हम कुरूपता का निषेध करते हैं और सौन्दर्य से चिपक जाते हैं, तब हम अपने को संवेदन-शून्य बना डालते हैं । किसी भी बात या वृत्ति का विरोध पालते रहने से मन संकुचित बनता जाता है । हमारी सहृदयता की भी मर्यादा बँध जाती है । सद्‌गुण वस्तुत; किसीका भी विरोधी नहीं होता । किसी के विरीध पर यदि वह पोषित होता रहेगा, तो वह सद्‌गुण रहेगा ही नहीं । जब हमें उस गाँव के सौन्दर्य का बोध होगा, तभी हरियाली से व्याप्त और फूल-पौधों से प्रफुल्लित उस बगीचे का सौन्दर्य भी हम तरलतापूर्वक ग्रहण कर सकेंगे । सामान्यत: हमें सौन्दर्य का ही आस्वाद लेना अच्छा लगता है । जो असुन्दर है, उसका स्पर्श तक न होने देने के लिए हम अपने को कैद कर लेते हैं और असुन्दर को, कुरूप को दृष्टि से ओझल कर लेते हैं । तब हमारी संवेदनशीलता ही बधिर हो जाती है । इस तरह सौन्दर्य-रस-ग्रहण के लिए दूर जा पड़ते हैं । गाँव से अपने को दूर रखनेवाले बगीचे में शिवत्व नहीं व्याप्त रहता । बल्कि वह गाँव और वह बगीचा दोनों के उस पार रहनेवाली संवेदनशीलता में ही वह व्याप्त होता है । किसीका भी निषेध करने से और किसीसे भी सारूप्य पाने से केवल संकुचितता ही पैदा होती है और यही संवेदनशून्यता है । संवेदनक्षमता ऐसी वस्तु नहीं है कि हम सावधानीपूर्वक उसे बड़ा सकें । क्योंकि मन केवल इतना ही कर सकता है कि किसीका विभाजन कर दे या किसी पर स्वामित्व स्थापित कर दे । वस्तुत: भला और बुरा, शिव और अशिव दोनों का अस्तित्व है । लेकिन यदि हम दोनों में से एक के ही पीछे लगेंगे और दूसरे को टालते रहेंगे, तो हममें उत्कट

संवेदनक्षमता कभी आयेगी ही नहीं। सत्य के स्पर्श के लिए तो इस उत्कट संवेदन-क्षमता की ही आवश्यकता है।

हम समझते हैं कि माया, भ्रम अथवा असत् के जो विरुद्ध है, वही सत्य है। लेकिन सत्य कभी किसीके विरुद्ध नहीं होता। और यदि आप यह कल्पना करके उसकी ओर जाना चाहेंगे कि वह विरोधी है, तो वह कभी उपलब्ध नहीं होगा। वस्तुतः द्वन्द्वात्मकता और परस्पर-विरोध जब खतम हो जाते हैं, तभी सत्य का उदय होता है। किसी बात का निषेध करने से अथवा किसी बात से एकरूप होने से तत्काल परस्पर-विरोधी संघर्ष हो जाता है। और इस संघर्ष से संघर्ष की ही अखण्ड श्रृंखला निर्माण होती है। इसलिए जब हम किसीका भी निषेध, या किसीका समर्थन, न करके तथा किसी भी तरह की भावुकता के ग्रास न बनकर केवल वस्तु-स्थिति का निरीक्षण करेंगे तब संघर्ष के निर्माण का अवसर ही नहीं रहेगा। किसी भी वस्तु के लिए, वस्तु की दृष्टि से विरोधी जैसी बात नहीं होती। लेकिन यह वस्तु जब हमें सुखदायक प्रतीत होने लगती है और दुःखद प्रतीत होने पर उससे अपनी रक्षा करने की बात मन में आती हैं, तब इस सुखद या दुःखद वृत्ति के कारण ही उस वस्तु का विरोधी भाव पैदा होता है। ऐसी यह सुखद या स्वरक्षणात्मक वृत्ति ही हमारे चारों ओर संवेदनशून्यता की दीवाल खड़ी करती है और हमारी सहज कृति नष्ट करती है। यदि बगीचे में रहना अधिक अच्छा लगता है, तो उस गाँव के विषय में विरोधी वृत्ति अथा प्रतिकार-वृत्ति हमारे मन में उत्पन्न होगी। एक बार यह प्रतिकार-वृत्ति पैदा हुई कि फिर क्या तो बगीचे के बारे में या क्या गाँव के बारे में, कोई भी सहज कृति करना हमारे लिए सम्भव नहीं रह जायगा। यह ठीक है कि इस स्थिति में हमारी ओर से कुछ न कुछ क्रिया होती रहेगी, लेकिन उपयुक्त एवं सहज कृति तो कभी घटित नहीं होगी। वस्तुतः मनुष्य की सारी क्रिया-प्रतिक्रियाएँ कल्पना पर आधृत होती हैं। लेकिन सहज कृति ऐसी नहीं होती। 'कल्पना' कहते ही विरोधीं कल्पनायें आ जाती हैं। परस्पर विरोधी कल्पनाओं के बीच के आन्दोलन, यह निरी क्रिया है। कृति नहीं है, फिर यह क्रिया दीर्घकाल तक टिके या उसमें थोड़ा-बहुत बदलाव होता रहे। वस्तुतः क्रिया कभी भी मनुष्य को मुक्ति तक नहीं ले जा सकती।

क्रिया भूतकाल पर आधृत होती है और भविष्य-काल की ओर जाती है। लेकिन सहज कृति न भूतकाल को जानती है और न वह भविष्य काल की ओर बढ़ती हैं। सहज कृति केवल वर्तमान में रहती है। और इसीलिए वह सहज और तत्काल घटित हो जाती है। जिसे सुधार माना जाता हैं, वह वास्तव में क्रिया-प्रतिक्रियात्मक ही होता है, उसमें कृति नहीं होती। इसलिए जिसमें एक बार सुधार किया जाता है, उसमें बार-बार सुधार करते रहना पड़ता है। किसी वर्तमानकालीन

चीज के विरुद्ध की जानेवाली क्रिया अर्थात् प्रतिक्रिया, यही सुधार का स्वरूप है। अतएव, वास्तव में वह कृति-शून्यता ही साबित होती है। इसके विपरीत, सहज कृति क्षण-क्षण पर घटित होती है। आश्चर्य यह है कि उसमें अन्तर्विरोध कतई नहीं होता। इससे उल्टी घटित होनेवाली क्रिया अविरत चालू दिखाई दे, तो भी वह असंख्य विरोधों का कुरुक्षेत्र बन जाती है। तथाकथित क्रान्ति की क्रिया में विरोध खचाखच भरा होता है। इसलिए इस क्रिया के कारण, इस तथाकथित क्रान्ति के कारण, यथार्थ मुक्ति की प्राप्ति कभी सम्भव नहीं। संघर्ष होने देना या किसी भी चीज का चुनाव करना यह वृत्ति मुक्ति के लिए कभी भी पोषक नहीं है। क्योंकि, जहाँ चुनाव किया जाता है, वहाँ निरी क्रिया-प्रतिक्रिया ही घटित होती है। यह सहज कृति नहीं। चुनाव किसी कल्पना पर ही आधृत होता है। हमारा मन इस तरह की क्रिया में चाहे जितना रम सकता है, लेकिन सहज कृति करना उसके लिए सम्भव नहीं। क्योंकि, सहज कृति का मूल स्रोत सर्वथा भिन्न होता है।

उस गाँव की दिशा में अभी-अभी चन्द्रोदय हुआ था और पेड़ों की परछाइयाँ उस बगीचे में पड़ रही थीं।

२१. व्यक्ति और समाज

हम एक भीड़वाले रास्ते से जा रहे थे। अगल-बगल की पगडंडी पर भी काफी भीड़ थी। मोटरों और बसों के पाइपों से निकलनेवाले धुयें की तेज गन्ध से दम घुट रहा था। बाजू की दूकान में तरह-तरह की कीमती और बेढब वस्तुएँ सजी रखी थीं। आकाश का चंदेरी रंग कुछ फीका-सा था। जब हम बगीचे में पहुँचे, तब जान में जान आयी। काफी भीतर जाकर हम एक स्थान पर बैठ गये।

मिलने के लिए आया हुआ वह मनुष्य कह रहा था कि वर्तमान राज्य-संस्था सैनिकीकरण तथा व्यापक कानूनों के कारण व्यक्ति को चारों ओर से घेरने लगी है, ईश्वर की पूजा का स्थान अब राज्य-संस्था ने ले लिया है, अधिकांश देशों की राज्य-संस्था अब व्यक्ति के अत्यन्त निजी क्षेत्र में भी प्रवेश करने लगी हैं। व्यक्ति को क्या पढ़ना चाहिए और क्या विचार करना चाहिए, यह भी अब राज्य-संस्था ही तय करती है। अपने नागरिकों पर आज की राज्य-संस्था की गुप्तचर जैसी नजर रहती है, पहले की धर्मसंस्थाओं का कार्य आज की राज्य-संस्था ने अपने हाथ में ले लिया है और व्यक्ति के बर्ताव पर उसकी दैवी-दृष्टि सतत जमा रहती है। यही अब नया धर्म बन बैठा है। पहले मनुष्य धर्म-संस्था का गुलाम था, अब राज्य-संस्था का गुलाम

है। पहले धर्म-संस्था उसके शिक्षण का नियन्त्रण करती थी, अब राज्य-संस्था कर रही है। परन्तु मनुष्य की मुक्ति की चिन्ता किसीको भी नहीं है।

व्यक्ति का समाज के साथ कैसा सम्बन्ध होता है? यह बात साफ है कि व्यक्ति के लिए समाज होता है, न कि समाज के लिए व्यक्ति। समाज व्यक्ति के विकास के लिए है। व्यक्ति को अपनी अत्युच्च प्रज्ञा, जागृत करने का मौका मिले, इसलिए उसे स्वतन्त्रता दिलाने के लिए ही वस्तुतः समाज का अस्तित्व है। यह अत्युच्च प्रज्ञा किसी विशिष्ट यन्त्र या ज्ञान का संवर्धन मात्र नहीं है। यह प्रज्ञा सर्जनशील सत्य का स्पर्श है। यह प्रज्ञा मन के ऊपरी उथले स्तर में कभी नहीं रहती। किन्हीं भी गत अनुभवों के संग्रह का परिपाक नहीं होती। यह प्रज्ञा, अपना साध्य क्रम-क्रम से संपादन करने की अथवा यश संपादन करने की प्रक्रिया से पूर्ण विमुक्त होती है, और कभी स्थितिशील नहीं होती। उसके निश्चित छाप की प्रतिकृति नहीं बनायी जा सकती और उसके मूल्यांकन का मानदण्ड भी निश्चित नहीं किया जा सकता। इसलिए वह सिखायी भी नहीं जा सकती। केवल स्वातन्त्र्य में ही इस प्रज्ञा का शोध लगता है।

व्यक्ति को समाज से यह स्वातन्त्र्य कभी नहीं मिलता, क्योंकि सामुदायिक इच्छा और तदनुसार कृति से ही समाज बनता है। समाज सजीव और सेन्द्रिय न होने के कारण हमेशा स्थितिशील रहता है। वस्तुतः व्यक्ति की सुविधा के लिए ही समाज का निर्माण हुआ है। समाज को स्वतन्त्र और स्वयंसंचालित यन्त्रणा नहीं होती। व्यक्ति ही अपनी विशिष्ट मनोभूमिका के अनुसार समाज पर स्वामित्व कायम करते हैं, उसका नियन्त्रण करते हैं। उसे विशिष्ट आकार देते हैं, अथवा उस पर सत्ता चलाते हैं। समाज व्यक्तियों पर स्वामित्व कायम नहीं कर सकता। यह ठीक है कि समाज का व्यक्ति पर थोड़ा-बहुत प्रभाव पड़ता है, लेकिन व्यक्ति इस प्रभाव को बार-बार छिन्न-विच्छिन्न कर डालता है। व्यक्ति और समाज के बीच के इस संघर्ष का कारण यही है कि स्वयं व्यक्ति के भीतर ही संघर्ष चलता रहता है। एक ओर स्थितिशील है और दूसरी ओर जीवन्त और गतिशील है—इन दोनों में संघर्ष चलता रहता है। समाज व्यक्ति का बाह्य आविष्कार है। इसलिए समाज और व्यक्ति का संघर्ष वास्तव में व्यक्ति के मन का ही है। अतएव जब तक मनुष्य की वह अत्युच्च प्रज्ञा जगायी नहीं जाती, तब तक व्यक्ति के अन्तरंग का और बाहर का यह संघर्ष अखण्ड चलता ही रहेगा।

जैसे हम समाज के एक अंश हैं, वैसे ही भिन्न-भिन्न और स्वतन्त्र व्यक्ति भी हैं। जैसे हम नागरिक हैं, वैसे ही पृथगात्म मानव भी हैं। और इस पृथगात्मता के कारण हम कुछ विशिष्ट होने के लिए सुखमय या दुःखमय दौड़धुप सतत करते रहते हैं। अगर हम चाहते हैं कि समाज में और मानवीय मन में शान्ति फैले, तो व्यक्ति की मानवता और उसकी नागरिकता—इन दोनों के सम्यक्-सम्बन्धों का सबसे पहले

आकलन कर लेना चाहिए। हम सब व्यक्ति के रूप में ही नहीं, किन्तु नागरिक के रूप में रहें, यह राज्य-संस्था के लिए अधिक सुविधाजनक है। लेकिन यह राज्य-संस्था की निरी मूर्खता है। यों स्वयं हमें भी ऐसा लगता है कि व्यक्ति की दृष्टि से अपने अस्तित्व को नागरिक की दृष्टिवाले अपने अस्तित्व से एकरूप कर दिया जाय। क्योंकि, नागरिक के रूप में रहना स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में जीने की अपेक्षा अधिक सरल होता है। उत्तम नागरिक होने का मतलब है प्रस्थापित समाज-रचना के अवगुण्ठन में कार्यक्षमता से कार्य करना। कार्यक्षमता और समाज-रचना से जुड़ जाने की सिद्धता, इन्हीं दो बातों की नागरिकों से अपेक्षा की जाती है। क्योंकि, इन दोनों बातों से ही वह अधिकाधिक कठोर और निर्दय बनता है और फिर वह अपने में निहित मनुष्यत्व का नागरिकता की वेदी पर बलिदान करने के लिए सहज तैयार हो जाता है। अच्छा नागरिक अच्छा मनुष्य होगा ही, ऐसी बात नहीं है। लेकिन अच्छा मनुष्य निश्चित ही अच्छा नागरिक होता है। हाँ, उसकी यह नागरिकता विशिष्ट समाज अथवा विशिष्ट देश की नहीं होती। मूलतः वह अच्छा मनुष्य होता है, इसलिए उसकी क्रांति समाज-विरोधी होगी ही नहीं और वह दूसरों का विरोध भी नहीं करेगा। दूसरे अच्छे लोगों से वह सहयोगी भूमिका का ही बरताव करेगा, वह अधिकार-प्राप्ति के पीछे नहीं पड़ेगा। क्योंकि, वह जानता है कि उसके पास अधिकार जमाने जैसा कुछ भी नहीं है। वह कार्यक्षमता से कार्य करेगा, लेकिन उसके साथ आनेवाली निष्ठुरता उसमें नहीं होगी। जो नागरिक होता है, वह मनुष्यता का बलिदान करने का ही प्रयत्न करता है। लेकिन सही माने में जो अच्छा मनुष्य होता है, वह उस अत्युच्च प्रज्ञा का शोधक होता है। इस कारण नागरिक के हाथों जो मूर्खतापूर्ण कार्य होते हैं, उनको वह सहज रूप से टालता है। अतएव ऐसे अच्छे मनुष्य का, प्रज्ञाशील मनुष्य का राज्य-संस्था विरोध ही करती है। किन्तु वह तो सब प्रकार की शासन-संस्थाओं से तथा सब राष्ट्रों से मुक्त ही रहेगा।

यह प्रज्ञाशील मनुष्य उत्तम समाज का निर्माण करेगा, लेकिन मनुष्य की अत्युच्च प्रज्ञा का विकास जिस समाज में हो सकेगा, वैसा समाज निर्माण करने में अच्छा नागरिक कभी समर्थ नहीं होगा। मनुष्य में यदि नागरिकता की भावना विशेष प्रबल हो जाय, तो नागरिकता और मनुष्यता मे अपरिहार्य रूप से संघर्ष पैदा होगा। जो समाज अपने व्यक्तियों की जान-बूझकर उपेक्षा करता है, उस समाज का विनाश अटल है। मनुष्य का मानसिक व्यापार किस प्रकार चलता है, इसका जब उसे आकलन होगा, तभी मनुष्य की नागरिकता और मनुष्यता में परस्पर सामंजस्य रहेगा। आज की राज्य-संस्था और समाज-संस्था दोनों मनुष्य के आन्तरिक जीवन की बिलकुल परवाह नहीं करतीं। नागरिक मनुष्य के बाह्य जीवन पर ही उनका ध्यान केन्द्रित रहता है। यों राज्य-संस्था और समाज मनुष्य के आन्तरिक जीवन की ओर

कितना ही दुर्लक्ष्य करे, तो भी आखिर यह आन्तरिक मनुष्य ही बाह्य मनुष्य को मात देता रहेगा और राज्य-संस्था द्वारा नागरिकों के लिए बड़ी धूर्तता से निर्मित योजना को धूल में मिला देगा। राज्य-संस्था सदैव भविष्य के लिए वर्तमान का बलिदान करती है। क्योंकि, भविष्य में स्वतः का हित-सम्बन्ध सुरक्षित रहे, यही उसका लक्ष्य रहता है। इसीलिए उसे भविष्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है, वर्तमान नहीं। लेकिन प्रज्ञाशील मनुष्य को तो वर्तमान और वर्तमान क्षण ही सर्वोच्च महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है, अतीत अथवा भविष्य नहीं। कल का विचार जब ओझल हो जाता है, तभी उस चिन्मय वर्तमान का आकलन सम्भव होता है। जो आज है, उसका सम्पूर्ण आकलन जब हो जाता है, तभी उसमें तत्काल मूलभूत स्वरूप का परिवर्तन होता है। नागरिक और मनुष्य में सामंजस्य कैसे पैदा किया जाय, यह बात बिलकुल महत्त्व की नहीं है। क्योंकि, जब यह संपूर्ण परिवर्तन घटित होता है, तब नागरिकता और मनुष्यता के संघर्ष का स्वतः अन्त हो जाता है। ●

२२. अहम्

मेरे सामने की सीट पर बैठा हुआ मनुष्य सम्भवतः उच्च अधिकारी था और उसे अपने पद का पूरा-पूरा भान भी था। क्योंकि, उसके चेहरे के भाव, उसकी प्रवृत्ति और उसकी वृत्ति—इन सबसे यह व्यक्त होता था। शासन-संस्था में उसका पद काफी ऊँचा था। उसके आसपास के लोग काफी दबकर व्यवहार करते थे। वह ऊँची आवाज में किसीसे कह रहा था कि किसी छोटे-से सरकारी काम के लिए उसे परेशान करना बड़ी विचित्रता और मूर्खता है। अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के बर्ताव के विषय में वह ऊँची आवाज में आलोचना कर रहा था। उसके श्रोता बेचारे घबराये और डरे हुए दीख रहे थे। हमारा वायुयान बादलों के खूब ऊपर, अठारह हजार फुट पर उड़ रहा था। बीच-बीच में बादलों की दरारों से नीचे का नीला सागर दीख रहा था। जब बादल बहुत छँट गये, तब हिमाच्छादित पर्वत, छोटे-छोटे द्वीप और विस्तृत खाड़ियाँ दीखने लगीं। बीच-बीच में अकेले-दुकेले घर और दूरवर्ती छोटे-छोटे देहात कितने सुन्दर दीख रहे थे। उस पर्वत से बहनेवाली एक नदी समुद्र में मिली हुई दीख रही थी। धुएँ से भरे हुए एक बड़े शहर के पास से वह नदी बह रही थी और वहाँ उसका पानी गंदा था। लेकिन थोड़ा आगे बढ़ने पर उसका पानी स्वच्छ और निर्मल दीख रहा था, सूर्य-प्रकाश में चमक रहा था। दूसरी तरफ की एक सीट पर सैनिक वर्दी में एक अधिकारी बैठा था। उसके सीने पर अनेक सम्मानसूचक फीते लगे हुए थे। उसका आत्मविश्वास और पृथकत्व सहअ

ही दिखाई दे रहा था। वह सारे संसार में फैले हुए एक विशिष्ट वर्ग का प्रतिनिधि था।

मान्यता प्राप्त करने के लिए हम सदैव इतने आतुर क्यों रहते हैं? हमारा सदा जयजयकार किया जाय और लोग हमें हमेशा प्रोत्साहित करते रहें, यह आशा हमें बराबर क्यों लगी रहती है? हम इतने लब्ध-प्रतिष्ठित क्यों बनते रहते हैं? अपने नाम से, अपने पद से और स्वयं द्वारा सम्पादित बातों से तथा सारे जगत् से अपने को जोड़ने की अहं-भावना से हम इतने क्यों चिपके रहते हैं? अनामिका क्या सचमुच मनुष्य में क्षुद्रता लानेवाली होती है? अज्ञात होना तिरस्करणीय क्यों है? जो-जो सुप्रसिद्ध और जो-जो लोकप्रिय व्यक्ति हैं, उनके पीछे हम क्यों पड़े रहते हैं? वस्तुतः हम जैसे भी हैं, वैसे ही रहने में हमें समाधान क्यों नहीं होता? हमारा जो वास्तविक रूप है, उसे दिखाने में हमें लज्जा क्यों होती है? उसमें हमें भय क्यों लगता है? और क्या इसीलिए हमें नाम, प्रतिष्ठा और गुणसम्पादन का इतना अद्भुत महत्त्व मालूम होता है? लोग हमें जानें, हमें आदरमान दें और हमारा कौतुक करें—यह लालसा मनुष्य में कितनी प्रबल होती है! युद्ध के प्रक्षुब्ध वातावरण में ऐसे भयंकर काम मनुष्य कर जाता है कि जिन पर विश्वास नहीं बैठता और इसके लिए उसका मान-सम्मान भी किया जाता है। इसी तरह युद्ध में दूसरे लोगों को, अपने ही बन्धुओं की हत्या करने के लिए सैनिकों को 'वीर' पुरुष की उपाधि भी मिलती है। इसी प्रकार कोई विशेष सुविधा प्राप्त, होशियार अथवा कार्यक्षम मनुष्य यश के शिखर के निकट पहुँच सकता है, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन यह यशःशिखर अत्युच्च साबित नहीं होता। क्योंकि, यश के उन्माद में मनुष्य को अधिकाधिक की हविस होती है। फिर इन लोगों को ऐसा लगने लगता है कि देश हम ही हैं, विशिष्ट उद्योग-धन्धे भी हम ही हैं, हम पर ही सब कुछ अवलम्बित है। सारी सत्ता हमारे ही पास है। कुछ लोग धर्म-संस्थाओं में विशेष पद, मान्यता और प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेते हैं। इससे उन्हें प्रतीत होने लगता है कि वे दूसरों से भिन्न, विशेष महत्त्व के, पुरुष-विशेष हैं। कुछ लोग किसी गुरु के शिष्य बन जाते हैं अथवा गुरु की प्रवृत्तियों में भाग लेने लगते हैं। लेकिन ऐसा करते हुए भी उनमें ऐसे आत्मगौरव की भावना सतत बनी रहती है कि हम विशेष महत्त्वपूर्ण हैं, गुरु के प्रतिनिधि हैं, उन्हींकी जवाबदारी हम पूरी कर रहे हैं, गुरु के नाम पर ही क्यों न हो, लेकिन दूसरों को कुछ दे रहे हैं और वे लोग उसे ग्रहण कर रहे हैं। वस्तुतः गुरु के नाम पर कुछ भी करते रहें, तो भी आप गुरु के केवल साधन हैं। किन्तु इस बोध के अनुसार ही आप चलते रहते हैं। यह करते हुए आप कभी पंचा पहन कर रहेंगे अथवा संन्यासियों के वस्त्र धारण करेंगे, लेकिन आपकी यह भावना सतत बनी रहती है कि हम यह कार्य कर रहे हैं, हम त्याग कर रहे हैं।

तब इस या उस तरह से खुले या गुप्त रूप में आपका स्व-अहं ही सतत पोषित होता रहता है और उसीको स्थायित्व मिलता है। मनुष्य की समाजविरोधी और हानिकारक समस्त कृतियों के मूल में तो यह अहं रहता ही है, लेकिन इन कृतियों को तनिक अलग रख दें, तो भी दूसरे कामों में मनुष्य अपने अहं का बराबर पोषण क्यों करना चाहता है? वास्तव में हमारा जीवन किस चीज से भरा होता है? यदि तात्कालिक सुखद बातों की उजली चादर को हम एक ओर रख दें, तो हमारा सारा जीवन क्षोभ और दुःख से ही भरा होता है, इसका हमें ज्ञान होगा। ऐसा होते हुए भी जिनके कारण दुःख और आपत्ति अपरिहार्य रूप से आती रहेंगी, उन साध्यों की प्राप्ति से और प्राप्तव्यों से और बाह्य तथा आंतरिक स्वार्थपूर्ण बातों से यह अहं क्यों चिपका रहता है? निवृत्ति का विरोध करके प्रवृत्तिशील कार्य करते रहने की हमारी जो हविस होती है, उसके कारण कुछ विशिष्ट होने के लिए हम बराबर दौड़-धूप करना चाहते हैं। इसके कारण हमें प्रतीत होने लगता है कि हम सचमुच जीवित हैं और हमारे जीवन का कुछ विशिष्ट हेतु है। इसी प्रकार अपने प्रयत्नों से संघर्ष और दुःख के कारणों को हम क्रमशः दूर कर सकेंगे, ऐसा भी हमें लगने लगता है। हमारी यह दौड़-धूप और हमारे ये कार्य रुक जायेंगे, तो हम शून्यवत् हो जायेंगे, हम अपना सब-कुछ खो बैठेंगे और हमारे जीवन का कोई अर्थ नहीं रह जायगा, ऐसा भय भी हमें लगता है। इसीलिए संघर्ष चलते हुए भी, गड़बड़ी पैदा होने पर भी, हम अपनी दौड़-धूप बराबर जारी रखते हैं। किन्तु यह सब करते हुए भी इन सब बातों से सर्वथा भिन्न कुछ है, इन सब संघर्ष दुःखादि के उस पार दूसरा कुछ वह है, इसका हमें भान रहता है। इसीलिए हमारे अन्तरंग में रात-दिन संघर्ष चलता रहता है।

बाहरी दिखावा जितना अधिक, भीतरी दीनता भी उतनी ही अधिक। पंचा लपेटने से अथवा गेरुवा वस्त्र धारण करने से भीतरी दीनता से मुक्ति नहीं मिल जाती है। क्योंकि, कुछ विशिष्ट होने की अभिलाषा ही भीतरी रिक्तता का मूल कारण होती है। इसलिए आप कुछ भी करते रहेंगे, तो भी इस रिक्तता का भरना संभव नहीं है। इस रिक्तता से दूर जाने के लिए आप कोई स्पष्ट बहाना करेंगे अथवा वस्तुतः बहाना है किन्तु दीखने में अलग जो पथ दिखाई देगा, उसीको स्वीकार करेंगे। लेकिन आप इस रिक्तता से कभी दूर नहीं जा पायेंगे, क्योंकि वह परछाईं की तरह हमेशा आपके साथ रहेगी। इस रिक्तता को भलीभाँति समझने के बारे में आप कितनी ही टालमटोल करें, वह आपके भीतर आसन जमाकर बैठी रहेगी। वस्तुस्थिति यह है कि भीतरी दैन्य को ढँकने के लिए अहं जो-जो अलंकार धारण करता रहता है और त्याग के जो-जो वस्त्र धारण करता रहता है, उनसे यह दैन्य कभी भी ढँका नहीं जाता। हमारी इन सारी आन्तरिक और बाह्य दौड़-धूप से अहं अपने को ही समृद्ध करने का प्रयत्न करता रहता है और इस दौड़-धूप को अपनी

सुविधा या रुचि के अनुसार 'अनुभूति' का नाम देता रहता है अथवा दूसरे नाम प्रदान करता है। क्योंकि, अहं कभी भी अनामिक अवस्था में नहीं रह सकता। वह नित्य नवीन वस्त्र तथा नित्य नये नाम धारण करता रहता है। अहं के रूप में अपना अस्तित्व कायम रखना ही आखिर उसके इन सारे कृत्यों के पीछे का अधिष्ठान है। भिन्न-भिन्न वृत्तियों से सारूप्य पाने की अहं की यह प्रक्रिया उसे अपने स्वभाव का आकलन नहीं होने देती। इस विविध वृत्ति-सारूप्य के साकल्य में से ही अहं की मूर्ति खड़ी होती है, फिर यह वृत्ति-सारूप्य प्रवृत्तिशील हो या निवृत्तिशील। इस अहं का व्यापार कैसा भी हो और उसका विस्तार कितना ही बड़ा हो, तो भी वह आखिर अहंकेन्द्रित ही होता है और अहं के चारों ओर बाड़ ही खड़ी करता है। कुछ विशिष्ट होने के लिए अथवा किसीसे भी परावृत्त होने के लिए अहं का यह जो प्रयत्न अहर्निश चलता है, वह उसे अपने स्वरूप से सतत दूर ले जाता है। वास्तव में देखा जाय तो व्यक्ति का नाम, उसका गुण, उसका भाँति-भाँति का स्वभाव-विशेष और उसके द्वारा सम्पादित सारी बातों से, उसके स्वामित्व की वस्तुओं से भिन्न अहं नामक किसी वस्तु का अस्तित्व भी है? अहं की सारी उपाधियों और गुणों को निकाल दें, तो अहं के रूप में क्या कोई वस्तु बचेगी भी? अपने अस्तित्व के मिट जाने का भय ही अहं को अखण्ड क्रियाशील बनाता है। लेकिन वास्तव में अहं का शून्य के सिवा कोई पृथक् अस्तित्व ही नहीं है, वह केवल रिक्तता ही है।

यदि हम अपनी इस रिक्तता की ओर सूक्ष्म दृष्टि से देख सकें और उस यातनामय एकाकीपन में रह सकें, तो हमारा भय पूरी तरह मिट जायगा। इससे हममें मूलभूत परिवर्तन होता जायगा। इसके लिए हमें अपनी शून्यता का, अपनी रिक्तता का साक्षात् अनुभव करना चाहिए। लेकिन यदि वहाँ अहंरूपी अनुभव रहेगा, तो ऐसे साक्षात् अनुभव के लिए प्रतिबन्ध ही निर्माण होगा। इसी प्रकार इस रिक्तता को; इस शून्यता को मात देने के लिए और उनसे परे जाने के लिए इस रिक्तता का साक्षात् अनुभव करने की अभिलाषा यदि हममें उत्पन्न हो गयी, तब तो उस रिक्तता का साक्षात् अनुभव करना असम्भव हो जायगा। क्योंकि, इस अभिलाषा के रूप में वह अनुभवी, वह विशिष्ट उपाधियुक्त अहं उपस्थित ही रहेगा। अनुभवी को जब अनुभव होता है, तब विशुद्ध अनुभव की अवस्था विलुप्त हो जाती है। इसलिए जो जैसा है वैसा ही, नामकरण किये बिना, उसका साक्षात् अनुभव किया जाय, तभी जो है उससे मुक्ति प्राप्त होती है।

२३. निष्ठा

हमारा निवास उस पर्वत की ऊँची समतल भूमि पर था। कई महीनों से वर्षा न होने से आसपास का क्षेत्र सूख गया था। छोटे-छोटे झरने निस्तब्ध हो गये थे। पाइन वृक्षों के पत्ते झुलस रहे थे। कुछ वृक्ष तो पूरी तरह सूख गये थे। लेकिन उनकी डालियों में हवा की सरसराहट थी। पर्वत-शृंखला दूर क्षितिज पर फैली हुई थी। उस सूखे क्षेत्र के जंगली जानवर हरियाली के ठंढे प्रदेशों की ओर चले गये थे। केवल गिलहरियाँ और 'जे' पक्षी ही रह गये थे। और भी कुछ छोटे-छोटे पक्षी आस-पास थे, लेकिन दिन में सब निस्तब्ध रहते थे। एक सूखा, निर्जीव पाइन वृक्ष अनेक गर्मियों की धूप खाकर सफेद बन गया था। लेकिन इस मृत-अवस्था में भी वह सुन्दर दीख रहा था। उसके उस सौष्ठवपूर्ण और समर्थ शरीर में भाव-विवशता लेशमात्र नहीं थी। जमीन कठोर बन गयी थी और पर्वत का मार्ग भी धूल से भर गया था।

वह महिला बता रही थी कि वह पहले विभिन्न धार्मिक संस्थाओं में कार्य करती थी, फिर एक ही संस्था में स्थिर हो गयी थी। इस संस्था के प्रचारक के रूप में वह लगभग सारी दुनिया में व्याख्यान देती हुई घूमती थी। इस संस्था के लिए उसने कुटुम्ब का, सुख-सुविधाओं का और अनेक अन्य बातों का त्याग किया था। उस धर्म-संस्था के तत्त्वों, प्रमेयों और निष्ठा को उसने पूरी तरह स्वीकार कर लिया था, उस संस्था के प्रमुखों का मार्गदर्शन लिया था, और ध्यान-धारणा का अभ्यास भी किया था। वह यह भी कह रही थी कि इस संस्था के सदस्यों का ही नहीं, प्रमुखों का भी उसके प्रति खूब आदर था। वह आगे कहने लगी : "लेकिन सब प्रकार की निष्ठाओं तथा संगठनों के विषय में और आत्म-वंचना से पैदा होनेवाले धोखे के बारे में आप अपने भाषणों में बार-बार जो कहते रहते हैं, उसे सुनकर मैंने अपने को इस संस्था तथा उसके कार्यों से अलग कर लिया है। जगत् का उद्धार करने के इस कार्य में अब मेरी रुचि समाप्तप्राय हो गयी है। अब मैंने अपने को अपने छोटे-से कुटुम्ब और उसकी समस्याओं में गूँथ लिया है और इस समस्याग्रस्त जगत् की ओर मैं अब दूरस्थ की दृष्टि से ही देखती हूँ।"

ऊपर-ऊपर से वह महिला उदार और दयालु दीखती थी, फिर भी जीवन-विषयक कटुता उसकी बात में बीच-बीच में टपकती थी। क्योंकि, उसे ऐसा प्रतीत होने लगा था कि उसका सारा जीवन व्यर्थ चला गया। "पहले हममें कितना उत्साह था, हम

कितना-कितना कार्य करते थे और वह अब कहाँ चला गया है? हमें क्या हो गया है? हम इतने श्रांत-क्लांत और निरुत्साही कैसे बन गये हैं? इतनी उम्र होने के बाद अब क्षुद्र बातों में अपना मन क्यों उलझा बैठे हैं?" ऐसे प्रश्न उस महिला के समक्ष मुँह बाये खड़े थे।

अपनी स्वभावगत कोमल संवेदनशीलता को हम कितनी सहजता से नष्ट कर डालते हैं? पता नहीं, किस चीज के लिए हम अखण्ड दौड़-धूप करते रहते हैं। अपने संघर्षों से बाहर निकलने के लिए हम चिन्ताग्रस्त वृत्ति से सदैव बहाना खोजते रहते हैं और भय के शिकार बनते रहते हैं। इन सबके कारण हमारे मन और हृदय जल्दी ही बधिर बन जाते हैं। ऐसा होते ही हमारा धूर्त मन पहले की संवेदनशीलता के स्थान पर नयी बात की तत्काल प्रतिष्ठापना कर डालता है। मनोरंजन, कौटुम्बिक जीवन, राजनीति, निष्ठा, देवी-देवता जैसी विविध बातों में मन को उलझा लेने से हम प्रीति और निर्मल प्रतीति से दूर जा पड़ते हैं। ज्ञान-सम्पादन के पीछे लगने से और निष्ठाओं में मन को उलझा देने से एक ओर निर्मल प्रतीति का नाश होता रहता है और दूसरी ओर इन्द्रियनिष्ठ संवेदन के पीछे लगने से प्रीति का नाश होता रहता है। निष्ठा के कारण क्या कभी भी निर्मल प्रतीति मूर्त हो सकती है? निष्ठा की दीवालें चारों ओर खड़ी कर देने से क्या कभी सत्यदर्शन सम्भव है? जीवनदर्शन को निष्ठा की आवश्यकता ही कहाँ है? पहले से ही असंख्य वृत्तियों से ठसाठस भरे मन में यह निष्ठा क्या अधिक तिमिर ही पैदा नहीं करती? वस्तुतः जो 'है' उसके आकलन के लिए निष्ठाओं की आवश्यकता नहीं है, बल्कि साक्षात् दर्शन की आवश्यकता है। अर्थात् किसी भी अभिलाषा की बाधा बीच में न आने देकर वस्तु का तत्काल दर्शन। अभिलाषा के कारण ही मन में चंचलता उत्पन्न होती है। निष्ठा अभिलाषा का ही विस्तार है। अभिलाषा की युक्ति-प्रयुक्तियाँ अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं। जब तक उनका यथार्थ आकलन नहीं होता, तब तक निष्ठा अधिकाधिक संघर्ष, उथल-पुथल और वैमनस्य की वृद्धि के लिए ही कारणीभूत बनती है। निष्ठा का ही नाम 'श्रद्धा' है। श्रद्धा भी अभिलाषा का ही आश्रयस्थान होती है।

वस्तुतः कार्य के प्रेरक साधन की दृष्टि से ही हम निष्ठा का आश्रय लेते हैं। दूसरों की अपेक्षा हम भिन्न और कुछ विशेष हैं, इस भावना में से कार्य करने की जो अपूर्व सामर्थ्य पैदा होती है, वह हमें ऐसी निष्ठा के कारण ही मिलती रहती है, कम-से-कम हमारी ऐसी कल्पना होती है। और अनेक लोग कार्य ही चाहते हैं, अतः निष्ठा हमारी एक आवश्यकता बन बैठती है। किसी विशिष्ट निष्ठा के बिना हम कार्य कर ही नहीं सकेंगे, ऐसा हमें लगता रहता है। क्योंकि, जिसके लिए जीवित रहना और कार्य करना है, वह सब निष्ठा ही प्राप्त करा देती है, ऐसा हम सोचते हैं। अनेक लोगों को लगता है कि निष्ठा के बिना जीवन व्यर्थ है। निष्ठा से ही

जीवन को सार्थकता प्राप्त होती है, ऐसी हमारी धारणा होती है। अतएव जीवन की अपेक्षा निष्ठा को ही अधिक महत्त्व प्राप्त हो जाता है। निष्ठा के विशिष्ट आदर्श के परदे में ही जीना चाहिए, ऐसा हमें महसूस होता है। हम समझते हैं कि ऐसा कोई विशिष्ट आदर्श समक्ष रहे बिना कार्य होना सम्भव ही नहीं। इस प्रकार हमारी सारी कृतियाँ ऐसी समझ पर अर्थात् एक कल्पना पर खड़ी की जाती है। इसलिए वे वास्तविक कृतियाँ ही नहीं होतीं। क्योंकि, यहाँ कल्पना को ही प्राधान्य दिया जाता है, कृति को नहीं।

मन की यह कल्पना कितनी ही तरल और तेजस्वी हो, तो भी क्या वह यथार्थ और सम्पूर्ण कृति को मूर्त करने में कभी भी समर्थ रहेगी? ऐसी यथार्थ और संपूर्ण कृति का मतलब है, अपने में मूलभूत परिवर्तन हो जाना और समाज-रचना में भी। लेकिन कल्पनाओं के आधार पर ऐसे परिवर्तन का मूर्त होना सम्भव नहीं। कल्पना क्या कभीं यथार्थ कृति का साधन हो सकती है? कल्पना के कारण कार्य की एक विशिष्ट शृंखला निर्मित हो सकती है। लेकिन इसका मतलब है निरी क्रिया-प्रतिक्रिया की ही शृंखला। ये क्रिया-प्रतिक्रियाएँ यथार्थ कृति से सर्वथा भिन्न प्रकार की होती हैं। इनके जाल में मनुष्य सतत उलझता जाता है। और जब किसी-न-किसी कारण से यह क्रिया रुकती है, तब मनुष्य को अपना सब कुछ खो जाने जैसा लगता है, जीवन निरर्थक और रिक्त लगता है। वस्तुतः यह रिक्तता हममें आरम्भ से ही रहती है, और अनजान में उसकी जानकारी भी होती रहती है। इस रिक्तता को भरने के लिए ही कल्पना और उस पर आधारित क्रिया को हमारी दृष्टि में महत्त्व प्राप्त हो जाता है। अपनी इस रिक्तता को हम किसी-न-किसी निष्ठा से भरते रहते हैं। इसलिए निष्ठा के नशे को सतत टिकाये रखने के लिए हमें कार्य करते रहने की आवश्यकता प्रतीत होती रहती है। इस प्रकार के कार्य में मग्न रहने के लिए हम नाना प्रकार का त्याग करते रहते हैं, चाहे जैसी कठिनाई और असुविधा सहन करते हैं, और चाहे जैसे श्रम के साथ सहज अपने को जोड़ लेते हैं।

वस्तुतः निष्ठा पर आधृत कार्य अव्यवस्थित और विनाशकारी ही होता है। प्रारम्भ में यह कार्य व्यवस्थित और विधायक प्रतीत होता है। लेकिन अन्ततः इस कार्य में से संघर्ष और दुःख ही उत्पन्न होते हैं। मानवीय सम्बन्धों के रहस्य के यथार्थ आकलन के मार्ग में निष्ठा ही रोड़ा बनती है, फिर वह धार्मिक हो या राजनीतिक। मानवीय सम्बन्धों के रहस्यों का यथार्थ आकलन हुए बिना यथार्थ कृति का उदय नहीं होता।

२४. निस्तब्धता

वह मोटर बड़ी शक्तिशाली थी। उसके यन्त्रों में सुसंवाद था। पहाड़ की कठिन चढ़ाई पर भी बिना आवाज किये आसानी से चली जा रही थी। घाटी में से होकर जानेवाले उस रास्ते की चढ़ाई काफी विषम थी। उसके दोनों ओर सन्तरों और अखरोट के बाग थे। ये बाग, पहाड़ की ठेठ तलहटी तक, लगभग चालीस मील की दूरी में फैले हुए थे। तलहटी से रास्ता सीधा जाता था और छोटे-छोटे दो-तीन गाँवों को लाँघकर आखिर खुले मैदान तक पहुँच गया था। यहाँ आसपास की हरियाली विशेष सजीव थी। इसके आगे अनेक पहाड़ियों से मोड़ लेते-लेते वह रास्ता ठेठ मरुभूमि तक चला गया था।

आगे का मार्ग सीधा और सपाट था। मोटर की आवाज अब स्थिर और मंद हो गयी थी। आवागमन बहुत कम था। आसपास के क्षेत्र की सभी बातों का यहाँ उत्कृष्ट अवधान था। बीच-बीच में पास से गुजरनेवाली एकाध अन्य मोटर का, मार्ग के संकेतकों का, ऊपर के स्वच्छ नीले सुन्दर आकाश का और मोटर में बैठे हुए लोगों का पूर्ण अवधान वहाँ था। परन्तु मन पूर्ण निस्तब्ध था। वह निस्तब्धता थकान अथवा चुपचाप पड़े रहने के कारण आनेवाली नहीं थी, बल्कि अत्यन्त तरल और जागरूक थी। यह मन के किसी भी केन्द्र से पैदा नहीं हुई थी। इस निस्तब्धता और इस प्रशान्तता का अवलोकन करनेवाला द्रष्टा वहाँ नहीं था, अनुभविता का वहाँ सम्पूर्ण अभाव था। बीच-बीच में पास बैठे व्यक्ति से बातचीत जारी थी, तो भी इस नीरव निस्तब्धता में कोई लहर तक नहीं उठ रही थी। मोटर की गति तेज होते ही हवा की जोर की सरसराहट कानों में पड़ती थी। लेकिन हवा की उस सरसराहट से, मोटर की तरह-तरह की ध्वनियों से और उस बातचीत से यह निःशब्दता अलग या पृथक् नहीं थी। पहले की निःशब्द अवस्था की, पूर्व अनुभव की शांति की स्मृति मन में शेष नहीं थी। 'यह शान्ति है' यह शब्द भी मन नहीं बोल रहा था। पहले अनुभव में आये हुए की पहचान होना ही वस्तुतः शब्दांकन कार्य है। लेकिन यहाँ ऐसे किसी अनुभव का शब्दांकन नहीं था। अतः विचार का भी अभाव था। क्योंकि, यहाँ अनुभव का आलेखन नहीं हो रहा था, इसलिए विचार के लिए यह संभव ही नहीं था कि इस निःशब्दता का विचार किया जा सके या उसे पकड़कर रखा जा सके। 'निःशब्दता' शब्द निःशब्दता नहीं है। जब शब्द का अस्तित्व नहीं होता, तब मन किसी प्रकार का व्यापार नहीं

करता। इसलिए भावी सुखों के एक साधन के रूप में इस अनुभव को कोई अनुभविता संचित करके नहीं रख सकता। इस निःशब्दता में संग्रह की क्रिया जारी नहीं थी। किसी आदर्श अनुभव के निकट पहुँचने की अथवा अनुभव को आत्मसात् करने की क्रिया तक वहाँ नहीं थी। यहाँ मन के सम्पूर्ण व्यापारों का सर्वथा अभाव था।

घर के निकट पहुँचते ही मोटर रुक गयी। कुत्ते के भूँकने से, मोटर से सामान उतारने की आवाज से और सब मिलाकर आसपास की सारी अस्त-व्यस्तता के कारण भी वह असाधारण निःशब्दता भंग नहीं हुई। व्यत्यय नाम की वस्तु ही वहाँ नहीं थी, अतः वह निस्तब्धता अभंग ही रही। पाइन वृक्षों में हवा की सरसराहट थी। जमीन पर लम्बी-लम्बी परछाइयाँ पड़ने लगी थीं, एक बनबिलाव चुपके-चुपके पास के झुरमुट में घुस रहा था। इस निस्तब्धता में हलचल थी, लेकिन उस निस्तब्धता में व्यत्यय नहीं पड़ रहा था। वहाँ किसी भी विशिष्ट बिन्दु पर मन एकाग्र नहीं हुआ था। इसलिए किसीसे भी विचलित होने का प्रश्न ही नहीं था। जब एक ओर केन्द्रित लक्ष्य दूसरी ओर मुड़ता है, तभी व्यत्यय उत्पन्न होता है लेकिन इस निस्तब्धता में किसी भी लक्ष्य का सम्पूर्ण अभाव था। इसलिए वहाँ लक्ष्य से भटकना भी नहीं था। चारों ओर की सारी हलचल उस निस्तब्धता से भिन्न नहीं थी, बल्कि उस निस्तब्धता के अंग-अंग में मानो वह हलचल थी। यह निस्तब्धता न तो मृत्यु की थी न क्षय की, बल्कि वह ऐसे चिन्मय की थी, जिसमें संघर्ष का नितांत अभाव था। अनेक लोगों को ऐसा महसूस होता है कि हम सुख-दुःख की दौड़-धूप और कर्मों के आवेग के कारण ही सचमुच जीवित हैं। इस कारण हमें ऐसा भी भास होता है कि यदि यह आवेश किसी भी कारण नष्ट हो जाय, तो हमारा सब कुछ खो जायगा और जीवन प्रलय की राह पर चल पड़ेगा। यहाँ लेकिन ऐसा कुछ नहीं था। यहाँ जो निस्तब्धता थी, उसका जो स्पन्दन था, वह सर्जनशील तथा प्रतिक्षण नवीनता धारण करनेवाला था। इस निस्तब्धता का आदि नहीं था, अतः अन्त भी नहीं था। लेकिन वह सातत्यशील भी नहीं था। गति कहते ही, उसके साथ काल आ ही जाता है। लेकिन इस स्पन्दन की गति में काल नहीं था। कम या अधिक, निकट या दूर, बीता कल और आनेवाला कल – इन उपाधियों के कारण ही काल जाना जाता है। लेकिन इस निस्तब्धता में तो ऐसी किसी भी तुलना का नितांत अभाव था। यह निस्तब्धता एक बार समाप्त होकर पुनः आरम्भ होनेवाली नहीं थी। उसमें पुनरावर्तन को अवकाश नहीं था। क्योंकि, वहाँ चालाक मन की सम्पूर्ण युक्ति-प्रयुक्तियों का अभाव हो गया था।

यदि यह निस्तब्धता केवल भ्रम ही होती, तो मन का उसके साथ सम्बन्ध जुड़ ही जाता। या तो मन इस भ्रम को छोड़ ही देता अथवा उससे चिपक गया होता,

या तो उसे विवेकपूर्वक दूर फेंक देता या फिर आंतरिक समाधान से उससे सारूप्य पा लेता। लेकिन इस विशिष्ट निस्तब्धता से मन को किसी प्रकार का सम्बन्ध जोड़ना नहीं आता, न वह इसे स्वीकार ही कर सकता था, न अस्वीकार ही कर सकता था। मन का अधिकार केवल अपनी ही वृत्तियों एवं विक्षेपों पर चल सकता है। लेकिन जो चीजें मनोनिर्मित नहीं होतीं अथवा उसके घेरे में नहीं आतीं, उनके साथ मन कोई नाता नहीं जोड़ सकता। ऐसी निस्तब्धता मनोनिर्मित नहीं होती और मन के घेरे में भी नहीं आ सकती। इसलिए मन के लिए उसको सँभालकर रखना भी सम्भव नहीं है और न सारूप्य ही पाना सम्भव है। क्योंकि, इस निस्तब्धता का गूढ़ रहस्य शब्दों के मापतौल से परे होता है।

२५. सम्पत्ति का त्याग

हम एक विशाल वृक्ष की छाया में बैठे थे। सामने की सुन्दर घाटी में हरियाली फैली थी। पक्षियों का सदा का उद्योग चल रहा था। दो पेड़ों पर चींटियों की लम्बी-लम्बी कतार फैली हुई थी और बराबर आ-जा रही थीं। समुद्र की ओर से आनेवाली हवा में दूर स्थित कोहरे का स्पर्श हो रहा था। आसपास का नीला-नीला पर्वत स्वप्न जैसा लग रहा था। पहले कभी-कभी वह एकदम निकट-निकट-सा लगता था। लेकिन आज तो वह लगता था मानो बहुत दूर चला गया है। एक फटी हुई नली में से गिरनेवाले पानी का एक छोटा-सा जलाशय वहाँ बन गया था और एक छोटा-सा पक्षी वह पानी पी रहा था। भारी झब्बेदार पूंछवाली दो भूरी-भूरी गिलहरियाँ एक-दूसरी का पीछा करते हुए एक पेड़ पर बराबर ऊपर-नीचे दौड़ रही थीं। दोनों झपाटे से पेड़ के सिरे तक चढ़ जातीं और फिर दुगने वेग से सर्र से नीचे उतर जातीं और फिर चढ़ने लगतीं।

वह व्यक्ति किसी समय अत्यन्त सम्पन्न था। लेकिन अब उसने अपनी सम्पत्ति का त्याग कर दिया था। पहले उसके पास बहुत-कुछ स्थावर-जंगम जायदाद थी। अपनी सारी जायदाद की जवाबदारी निभाने में भी उसे रस आता था। क्योंकि, वह दानवीर था और हृदय से निष्ठुर नहीं था। वह हाथ रोककर दान नहीं करता था और एक बार दे चुकने के बाद उसे भूल भी जाता था। अपने सहायकों के साथ वह अच्छा बर्ताव करता था और उनकी सुख-सुविधाओं का भी ध्यान रखता था। सम्पत्ति के पीछे पड़े हुए इस जगत् में वह मनचाही सम्पत्ति सहज प्राप्त कर लेता था। वह उन धनवानों में से कतई नहीं था, जिनकी बैंकों में जमा धनराशि खुद उन

धनवानों से अधिक वजनदार होती है। ऐसे धनवान् बिलकुल एकांगी होते हैं, जनता तथा उसकी माँगों के बारे में उन्हें निरन्तर भय बना रहता है, और अपनी सम्पत्ति के संकुचित दायरे में वे अपने को कैद कर लेते हैं। लेकिन यह व्यक्ति ऐसे धनवानों में नहीं था। उसके परिवारवालों को उसका डर नहीं लगता था। लेकिन वह अपना लाभ किसी ऐरेगैरे को उठाने नहीं देता था। उसके मित्र बहुत थे, किन्तु उनका बाहुल्य इसलिए नहीं कि वह धनी था। वह कह रहा था कि एक दिन वह कुछ पढ़ रहा था तभी उसके मन में एकाएक यह विचार आया कि उसकी यह इतनी विशाल सम्पत्ति और सतत धन प्राप्त करते रहने की अभिलाषा, सब कुछ मूर्खता है, निरर्थकता है। इस विचार का स्पर्श होते ही उसने अपनी सम्पूर्ण संपत्ति का त्याग कर दिया। अब उसके पास बहुत कम धन बचा था। अब बिलकुल सादा जीवन अपनाकर इस शोध में वह जुटा हुआ था कि यह सब क्या है और शारीरिक तथा भौतिक वासनाओं में भटकनेवाले जीवन से भी परे क्या कुछ है?

थोड़े में सन्तुष्ट होना सामान्यत: आसान है। किसी भी खोज के लिए प्रवास पर निकलने पर अपने पास की अनेक चीजों का भार उतार देना और उनसे मुक्त हो जाना विशेष कठिन नहीं है। आन्तरिक शोध के आवेग के कारण संग्रहीत वस्तुओं का अम्बार अपने आप ही कम हो जाता है। लेकिन बाह्य वस्तुओं से इस तरह मुक्ति प्राप्त करना आन्तरिक शान्ति और निर्दोषिता नहीं है। बाह्य सादगी यों तो अच्छी ही है। क्योंकि, उसके कारण हम अनेक बन्धनों से छूट जाते हैं। अपनी जीवन-दृष्टि के प्रति ईमानदार रहने का वह एक चिह्न होता है। लेकिन आन्तरिक सादगी के स्थान पर बाह्य सादगी से ही हम अपने सादे जीवन की शुरूआत क्यों करते हैं? क्या हम सादा जीवन जीने के अपने हेतु का दूसरों को और अपने को विश्वास दिलाने के लिए ही ऐसा करते है? स्वयं को ही इसका विश्वास दिलाने की आवश्यकता क्यों प्रतीत होती है? वास्तव में किसी भी पदार्थ से मुक्त होने के लिए बाह्य चिह्नों अथवा निष्ठाओं की आवश्यकता नहीं, उसके लिए चाहिए बुद्धि, प्रज्ञा। यह प्रज्ञा व्यक्तिगत नहीं होती। वस्तुस्थिति यह है कि अपने आसपास जमा किये हुए नाना प्रकार के परिग्रह के वास्तविक अर्थ का अवधान जब जाग्रत होता है, तभी हम सारे परिग्रह से मुक्त होते हैं। फिर अपने निश्चय को व्यक्त करनेवाले नाटकीय विधान की और उनकी पुष्टि के लिए बाह्य चिह्नों की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। यह प्रज्ञायुक्त अवधान जब जाग्रत नहीं रहता, तभी हम नाना तरह के अनुशासनों और त्यागों का आश्रय लेते हैं। वास्तव में यह बात महत्वपूर्ण नहीं है कि हमारा संग्रह कम या ज्यादा हैं, बल्कि प्रज्ञा का जाग्रत रहना ही महत्व की बात है। जाग्रत प्रज्ञावाला मनुष्य थोड़े में सन्तुष्ट रहता है। इसलिए वह नाना प्रकार के परिग्रह से सहज ही मुक्त हो जाता है।

लेकिन समाधान एक चीज है और सादगी बिलकुल दूसरी चीज। समाधान की अथवा सादगी की अभिलाषा मनुष्य को बन्धन में डालती है। अभिलाषा उलझनें पैदा करती है। वास्तव में जो जैसा है, उसका वैसा ही दर्शन यदि हो जाय, तो उससे समाधान उत्पन्न होता है और वस्तुतः जो जैसा है, उससे मुक्ति मिलने पर सादगी आती है। बाह्य सादगी तो अच्छी ही है। किन्तु आन्तरिक सादगी और वास्तविकता का स्पष्ट दर्शन ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। मन ने कोई विशिष्ट ध्येय रख लिया अथवा निश्चय कर लिया, तो भी ऐसे मन की मदद से स्पष्ट दर्शन का लाभ कभी संभव नहीं। कारण, ऐसे स्पष्ट दर्शन से कभी मन की संरचना हो ही नहीं सकती। अपने विचारों को व्यवस्थित रूप से रखना और भिन्न-भिन्न विचारों से अपने को जोड़ना मन खूब जानता है। लेकिन इसका नाम स्पष्ट दर्शन या सादगी नहीं है।

इच्छाजन्य कृति हमेशा गड़बड़ी सी उत्पन्न करती है। इच्छा का कितना ही उदात्तीकरण किया जाय, तो भी वह आखिर अभिलाषा का ही साधन होता है। कुछ विशेष बनने की इच्छा कितनी ही उदात्त और मूल्यवान् हो, वह उलझन में से ही अपनी राह निकालती है और ऐसी राह निकालने का आदेश देने का काम ही वह करती है। इच्छा की इस प्रक्रिया से बेमेलपन और पृथकपन ही निर्माण होता है। लेकिन ऐसे पृथक्पन और बेमेलपन से स्पष्ट दर्शन का लाभ कभी नहीं मिलता। ऐसी इच्छाजन्य कृति के कारण कार्य करने के लिए नितान्त आवश्यक केवल सामने का थोड़ा-सा क्षेत्र कुछ देर के लिए चमक उठता है। लेकिन सारी पृष्ठभूमि को स्वच्छ करना उसके लिए कभी संभव नहीं। क्योंकि इसी पृष्ठभूमि में से इच्छा का जन्म होता है। यह पृष्ठभूमि ही इच्छा का भरण-पोषण करती है। इस पृष्ठभूमि को अधिक तीक्ष्ण और पैनी बनाने का तथा उसकी सुप्त शक्तियों को बढ़ाने का काम इच्छा ही कर सकती है, लेकिन वह कभी पृष्ठभूमि को स्वच्छ नहीं कर सकती।

सादगी मन के चौखटे में समानेवाली चीज नहीं है। योजनाबद्ध सादगी सुख-दुःख से अपना बचाव करने तथा परिस्थिति के साथ मेल बैठाने के लिए चालाकीभरा समन्वय होती है। इस तरह की सादगी से स्वयं का ही संकोच निर्मित होता है और अपने ही चारों ओर बाड़ खड़ी की जाती है। इससे अनेक प्रकार के संघर्ष और उलझनें उत्पन्न होती हैं। इस संघर्ष के कारण ही भीतर-बाहर सर्वत्र अन्धकार छा जाता है। संघर्ष और स्पष्ट दर्शन का एक साथ रहना सम्भव नहीं। संघर्ष से मुक्ति प्राप्त होने पर ही सादगी आती है, संघर्ष पर विजय प्राप्त करने से नहीं। क्योंकि, एक बार जिस पर विजय प्राप्त की जाती है, उस पर बार-बार विजय प्राप्त करते रहना पड़ता है। इस प्रकार संघर्ष की खतम न होनेवाली शृंखला निर्माण होती रहती है। संघर्ष का आकलन ही अभिलाषा का आकलन है। यह अभिलाषा कभी

द्रष्टा का तो कभी ज्ञाता का रूप धारण करती है। लेकिन अभिलाषा का ऐसा उदात्तीकरण करना उसके जीवन को लम्बाना ही है, उसका आकलन नहीं। वस्तुतः द्रष्टा और दृश्य की संघटना द्वन्द्वात्मक न होकर एकात्मक ही होती है। इस एकात्मक प्रक्रिया का स्वानुभवात्मक सम्पूर्ण दर्शन होने पर ही अभिलाषा एवं संघर्ष से मुक्ति प्राप्त होती है।। लेकिन यह स्वानुभवात्मक दर्शन कैसे होगा, ऐसा प्रश्न कभी उठना ही नहीं चाहिए। क्योंकि, यह खुला अनुभव अपने-आप ही होगा। जागरूकता तथा तटस्थ सावधानी रहने पर ही यह सहज घटित होता है। विषैले सर्प से चार आँखें होने का प्रत्यक्ष अनुभव, आराम से अपने कमरे में बैठकर केवल कल्पना द्वारा आकलन में नहीं आ सकता। विषैले सर्प को देखने के लिए कृत्रिम दीपों से चमचमाती पक्की सड़कों से बहुत दूर जाने का साहस चाहिए।

मन अथवा विचार अनुभवों का आलेखन कर सकता है। लेकिन संघर्ष से पूर्ण मुक्ति का अनुभव मन नहीं कर सकता, क्योंकि सादगी या स्पष्ट दर्शन मन या विचार के चौखटे में समानेवाली चीज नहीं है। ●

२६. पुनरावृत्ति और संवेदन

खुली खिड़की में से शहर के कोलाहल के साथ-साथ उसकी गंध भीतर आ रही थी। सामने के प्रशस्त उद्यान में पेड़ों की छाँह में बैठे हुए कुछ लोग समाचारपत्र पढ़ रहे थे और दुनियाभर की गप-शप कर रहे थे। कई कबूतर इस आशा में उन लोगों के पैरों के पास चक्कर काट रहे थे कि कुछ खाने को मिलेगा। हरियाली पर बच्चे खेल रहे थे। सूर्य के प्रकाश से पेड़ों की परछाइयाँ सुन्दर-सुन्दर आकारों में दीख रही थीं।

वह संवाददाता फुर्तीला और बुद्धिमान था। वह केवल मुलाकात करने ही नहीं आया था, अपनी कुछ समस्याओं के बारे में चर्चा भी करने आया था। अपना अखबारी काम निपटाकर वह अपने व्यवसाय तथा उसके महत्व के बारे में बात करने लगा। उसने कहा कि केवल पैसे की दृष्टि से ही पत्रकारिता का महत्व नहीं है, बल्कि संसार की दृष्टि से भी इस व्यवसाय का एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह होशियार और कार्यक्षम तो था ही, एक बड़ा आदमी भी था। उसका आत्म-विश्वास भी प्रखर था। पत्र-जगत् में वह तेजी से उन्नति करता जा रहा था। इस क्षेत्र में अभी उसे और भी उज्ज्वल भविष्य दिखाई दे रहा था।

हमारे मन संग्रहीत जानकारियों से इतने ठसाठस भरे होते हैं कि प्रत्यक्ष अनुभवन क्या चीज है, यह हमारे ध्यान में आना लगभग असम्भव ही हो जाता है। यह रही

है कि प्रत्येक के सुख-दुःख का अनुभव प्रत्यक्ष और व्यक्तिगत स्वरूप का होता है, लेकिन इस अनुभव का आकलन हम दूसरों के यानी धार्मिक अथवा सामाजिक अधिकारी पुरुषों के द्वारा अपनाये ढर्रे के अनुसार ही करते हैं। हम दूसरों के विचारों और प्रभावों के परिपाक वन जाते हैं। धार्मिक और राजनीतिक प्रचार हमें प्रभावित करते रहते हैं। देवालयों, मन्दिरों और मसजिदों का विचित्र और छिछला प्रभाव हमारे जीवन पर पड़ा होता है। राजनीतिक विचारधाराएँ हमारे विचारों को एक ठोस रूप प्रदान करती हैं। प्रचार ही हमें घड़ता है और वही हमारा विनाश करता है। संगठित धर्म उत्कृष्ट प्रकार के प्रचारक होते हैं। मन को फुसलाकर अपनी ओर लाने के लिए और फिर उसे अपने पंजे में फँसाये रखने के लिए वे चाहे जैसे साधनों का उपयोग करते हैं।

हमारा स्वरूप वस्तुतः ऐसा है कि हम एक प्रकार से धुँधली, अस्पष्ट और भ्रामक ढंग की नाना प्रतिक्रियाओं की एक खासी बड़ी राशि हैं। और हम, जो इस राशि के केन्द्र होते हैं, भविष्य के लिए दिये जानेवाले आश्वासनों की तरह ही अनिश्चितता में भटकते रहते हैं। हमें कोरे शब्दों का ही असाधारण महत्त्व प्रतीत होता है। शब्दों का दिमाग पर असर होने से जो संवेदनाएँ उत्पन्न होती हैं, उन्हींका हमें विशेष महत्त्व लगता है। शब्द केवल जिसका प्रतीक है, उस शब्दातीत वस्तु का हमें उतना महत्त्व नहीं लगता। विशिष्ट प्रतीक, विशिष्ट प्रतिमा, विशिष्ट ध्वज अथवा विशिष्ट ध्वनि ही हमें सर्वोच्च और महत्वपूर्ण लगती है। सत्य हमारी सामर्थ्य का आधार नहीं होता, बल्कि जो सत्य-वस्तु का स्थान लेकर बैठ जाता है, वही हमारी सामर्थ्य का आधार है, ऐसा हमें लगता है। हम सदैव दूसरों के अनुभवों का वर्णन पढ़ते हैं, दूसरों का खेल देखते हैं, दूसरों के आदर्श का अनुकरण करते हैं, दूसरों के ही वचन उद्धृत करते हैं। अपने अन्तस् में हम बिलकुल रीते रहते हैं। शब्दों, संवेदनों, आशाओं और कल्पनाओं से हम इस रिक्तता को भरने का प्रयत्न करते रहते हैं। फिर भी यह रिक्तता बनी ही रहती है।

पुनरावृत्ति में से उत्पन्न होनेवाली संवेदनाएँ कितनी ही सुखद और उदात्त हों, तो भी वे प्रत्यक्ष अनुभवन नहीं हैं। किसी विधि की, शब्द की अथवा प्रार्थना की सतत पुनरावृत्ति करते रहने से सुखद संवेदनाओं का अनुभव होता रहता है, जिसे कोई उदात्त नाम भी दे दिया जाता है। लेकिन केवल इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होनेवाला यह संवेदन साक्षात् अनुभवन नहीं है। इन संवेदनाओं की उत्तेजना देने की शक्ति सीमित ही होती है। वह जब समाप्त हो जाती है, तब यह इन्द्रियजन्य संवेदन यथार्थ अनुभवन नहीं है, इसकी साक्ष्य मिल जाती है। इसी प्रकार जो वस्तुतः 'है', उसके यथार्थ आकलन में यह संवेदन असमर्थ होता है, इसकी भी साक्ष्य मिल जाती है।

इन्द्रियों का कार्य मर्यादित ही होता है। प्रयत्न अनुभवन अथवा प्रत्यक्ष आकलन इन्द्रियों के परे की बात है। प्रत्यक्ष अनुभवन समाप्त होने पर ही एन्द्रिय संवेदनाओं को महत्त्व प्राप्त होता है। फिर शब्द ही महत्वपूर्ण बन जाते हैं और प्रतीक ही हावी हो जाते हैं। पुनरावृत्ति का यह ग्रामोफोन-संगीत मन पर मोहिनी डालने लगता है। साक्षात् अनुभवन कभी भी सातत्यशील नहीं होता। क्योंकि, जिसका सातत्य होता है वह सारा ऐन्द्रिय संवेदन होता है—फिर उसका दरवाजा ऊपर का हो या नीचे का। संवेदना की पुनरावृत्ति के कारण नये अनुभवन का केवल भास होता है। लेकिन संवेदन कभी नया नहीं होता। संवेदनों की पुनरावृत्ति में नवीन का शोध लगना कभी सम्भव नहीं। जहाँ संवेदनों के उस पार का साक्षात् अनुभव होता है, वहीं नवीन का उदय होता है। संवेदनों की ललक और उनका अनुगमन जब छूट जाता है तभी साक्षात् अनुभवन सम्भव होता है।

अनुभव की पुनरावृत्ति की अभिलाषा संवेदन का गुण है, वही मनुष्य को बद्ध किये रखता है। स्मृति का समृद्ध होते रहना संवेदनों का विस्तार है। स्वयं अपने अथवा दूसरों के अनुभवों की पुनरावृत्ति की अभिलाषा मनुष्य को संवेदन-शून्यता की ओर अर्थात् मृत्यु की ओर ले जाती है। सत्य की पुनरावृत्ति असत्य ही है। सत्य की पुनरावृत्ति नहीं हो सकती। सत्य का न तो प्रचार हो सकता है और न उसका उपयोग। जिसका उपयोग अथवा जिसकी पुनरावृत्ति की जाती है, वह निर्जीव होता है, यान्त्रिक और स्थितिशील होता है। किसी मृत वस्तु का उपयोग किया जा सकता है, लेकिन सत्य का उपयोग करना असम्भव ही है। सत्य का उपयोग करना हो, तो पहले उसका निषेध करना होगा, उसकी हत्या करनी होगी। तभी उसका उपयोग कर सकेंगे। लेकिन तब वह सत्य रहेगा ही नहीं। प्रचारकों के लिए प्रत्यक्ष अनुभवन का कोई महत्त्व नहीं है। धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक अथवा व्यक्तिगत स्वरूप की संवेदनाएँ संगठित करने में ही उनका सारा ध्यान लगा रहता है। इसलिए प्रचारक धार्मिक हो या अन्य किसी प्रकार का, वह सत्यभाषी हो ही नहीं सकता।

संवेदनाओं की अभिलाषा के अभाव में ही, साक्षात् अनुभवन अस्तित्व में आता है। लेकिन इसके लिए संवेदनाओं का नामकरण करने की प्रक्रिया पहले रुकनी चाहिए। क्योंकि, शब्दों के आधार पर ही विचार-प्रक्रिया अस्तित्व में आती है। इस प्रकार शब्दों के जाल में उलझना अभिलाषा द्वारा निर्मित भ्रमों के बन्दीगृह में पड़े रहना ही है।

२७. रेडियो और संगीत

यह बात सर्वथा स्पष्ट है कि रेडियो-संगीत जीवन से दूर जाने का एक आश्चर्यं-जनक बहाना हैं। पड़ोस के घर में दिनभर ही नहीं, बहुत रात तक रेडियो बजता रहा। गृहस्वामी सबेरे जल्दी ही दफ्तर चले गये और माँ-बेटी घर में या बगीचे में काम करती रहीं। वे जब बगीचे में काम करती रहीं तब रेडियो खूब तेज बोलता रहा। रेडियो का संगीत और उसके विज्ञापन शायद बच्चे को भी अच्छे लगते हैं। क्योंकि वह जब घर पर था, तब भी रेडियो बराबर बजता रहा।

रेडियो के द्वारा शास्त्रीय संगीत से लेकर आधुनिकतम संगीत तक, कोई भी संगीत अनन्तकाल तक सुना जा सकता है। इसी प्रकार रहस्यपूर्ण नाटक, रूपक, दुनियाभर के समाचार और ध्वनिक्षेपित सब प्रकार के कार्यक्रम भी लगातार सुने जा सकते हैं। और फिर मनुष्य को किसीसे बोलने की और विचार-विनिमय करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। क्योंकि हमारी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति रेडियो करता रहता है। ऐसा भी कहा जाता है कि रेडियो से विद्यार्थियों को अपनी पढ़ाई में सहायता मिलती है, और दुहते समय संगीत सुनाया जाय तो गायें भी अधिक दूध देती हैं।

यह सब होते हुए भी अपने जीवन-प्रवाह को परिवर्तित करने की दृष्टि से सतत रेडियो सुनते रहने का बहुत कम उपयोग है। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है? यह ठीक है कि रेडियो के कारण कुछ बातों की सुविधा बढ़ जाती है। सारी दुनिया के समाचार बहुत शीघ्र मिल जाते हैं, हत्याओं आदि के प्रसंगों का सामने ही घटी घटना की तरह सजीव और विस्तृत वर्णन सुनने को मिल सकता है। लेकिन ऐसी जानकारी से हम कोई अधिक बुद्धिमान् नहीं बन जाते। अणुबम से होनेवाले संहार, अंतर्राष्ट्रीय संधियाँ, क्लोरोफिल विषयक अन्वेषण आदि बातों की रेडियो के द्वारा ऊपर-ऊपर की जानकारी मिल जाने से हमारे जीवन में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं होता। हम आज भी पहले की तरह ही युद्ध-कामी हैं। किसी विशिष्ट जन-समुदाय के प्रति हमारा द्वेष ज्यों का त्यों कायम है। किसी राजकीय नेता का हम तिरस्कार करते हैं तो दूसरे किसीका समर्थन। संगठित धर्म आज भी हमें फँसा रहे हैं। हमारी राष्ट्रवादी भावना वैसी ही बनी हुई है। और हमारा दुःख-दौर्मनस्य भी वैसा ही जारी है। इन सारे दुःखों से दूर भागने के लिए हम बहाने खोजते रहते हैं। और ये बहाने जितने ही अधिक प्रतिष्ठित और अधिक संगठित हों, उतना ही हमें अच्छा लगता है। हमें

अपने दुःखों से दूर ले जानेवाला कोई संगठित बहाना मिल जाय तो यह सुरक्षितता का सर्वोच्च लक्षण माना जाता है। लेकिन वस्तुस्थिति का प्रत्यक्ष सामना हो तो हम उसके सम्बन्ध में कुछ कर सकते हैं। पर इसके विपरीत, यदि उससे दूर भागने के लिए हम किसी बहाने का सहारा लेते हैं तो हम मूर्ख और मंदबुद्धि बनते हैं और उथले संवेदनों तथा संभ्रमों के गुलाम बन बैठते हैं।

क्या हमें ऐसा नहीं लगता कि प्रत्यक्ष वस्तुस्थिति से हमारा छुटकारा और वह भी सुखद रूप में कर देने का कार्य संगीत अत्यन्त सूक्ष्म ढंग से करता है? श्रेष्ठ संगीत हमें अपने से, अपने दैनंदिन दुःखों से, क्षुद्रताओं और चिन्ताओं से दूर ले जाता है, इन सबको विस्मृत कर देता है, अथवा जीवन का सामना करने की सामर्थ्य देता है, स्फूर्ति और उत्साह देता है और एक प्रकार का समाधन भी प्राप्त कराता है। इस तरह अपने को भूल जाने के लिए कहिये या प्रेरणा और स्फूर्ति प्राप्त करने के लिए कहिये, संगीत हमारे जीवन की एक आवश्यकता ही बन जाता है। किन्तु सौंन्दर्य पर अवलंबित रहना और कुरूपता से दूर भागना एक बहाना ही है। जब हमारा यह सौन्दर्यावलम्बन का आधार टूट जाता है, तब वह हमारे लिए अत्यन्त क्लेश-दायक रूप धारण कर लेता है। हमारे जीवन के कल्याण के लिए जब सौन्दर्य का आधार इतना अनिवार्य हो जाता है, तब साक्षात् अनुभव समाप्त हो जाता है और केवल संवेदन-पिपासा जाग्रत हो जाती है। साक्षात् अनुभवन का क्षण संवेदनाओं के पीछे दौड़ने से सर्वथा भिन्न होता है। साक्षात् अनुभवन में अनुभविता का और संवेद-नाओं का बोध होता ही नहीं। लेकिन जब यह साक्षात् अनुभवन समाप्त होता है, तभी अनुभवी के अहं की संवेदनाएँ प्रारम्भ होती हैं। फिर अनुभवी को, अहं को, इन्हीं संवेदनाओं का आकर्षण होने लगता है। उन्हींके पीछे वह बराबर दौड़ता है। इस प्रकार एक बार तरह-तरह की संवेदनाओं का चसका लगने पर संगीत अथवा विभिन्न कलाओं के सुन्दर आविष्कार अधिकाधिक संवेदनाएँ प्राप्त करते रहने के साधनमात्र बन जाते हैं। इसके कारण साक्षात् अनुभवन एक ओर रह जाता है और जीवन पर केवल संवेदन-लोलुपता ही हावी हो जाती है। वस्तुतः सुखद अनुभवों की पुनरावृत्ति के आकर्षण का मतलब है अधिकाधिक संवेदनाओं की लालसा। संवेदनाओं की पुनरा-वृत्ति तो सम्भव है, पर साक्षात् अनुभवन की पुनरावृत्ति सम्भव नहीं।

संवेदनाओं की यह लालसा ही हमें संगीत से और सौन्दर्य के विविध आविष्कारों से चिपकने और उस पर अपना स्वामित्व स्थापित करने को विवश करती है। लेकिन सौन्दर्य की बाह्य रेखाओं पर और आकृतियों पर इस प्रकार अवलंबित रहना हमारे जीवन की आंतरिक रिक्तता का ही निदर्शक है। इस रिक्तता को हम संगीत, कला, जान-बूझकर लिये हुए मौन आदि की सहायता से भर देना चाहते हैं। हमारी सदा

की रिक्तता इस प्रकार तात्कालिक रूप से भरती रहती है अथवा संवेदनाओं की सहायता से ढँक दी जाती है। इसी कारण वस्तुस्थिति क्या है और हम क्या हैं, इस सम्बन्ध में एक स्थायी भय हमारे मन में भरा रहता है। संवेदनाओं का जैसे प्रारम्भ है, वैसे ही अन्त भी। जैसे उनकी पुनरावृत्ति की जा सकती है, वैसे ही उनका विस्तार भी किया जा सकता है। किन्तु साक्षात् अनुभवन काल की परिधि में कभी नहीं आ सकता। वस्तुतः साक्षात् अनुभवन ही महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक है। लेकिन संवेदनाओं के पीछे दौड़ने में हम उलझ जाते हैं तो साक्षात् अनुभवन से वंचित हो जाते हैं। वस्तुतः संवेदनाओं का स्वरूप वैयक्तिक और मर्यादित ही होता है। उनसे संघर्ष और दुःख ही निर्मित होता है। परन्तु किसी अनुभव की पुनरावृत्ति से सर्वथा भिन्न, जो साक्षात् अनुभवन है, उसमें क्रमवद्धता नहीं रहती। इस साक्षात् अनुभवन में ही नित्य-नवीनता और मूलभूत परिवर्तन का निवास है। ●

२८. विशिष्टता की लालसा

हरी घास के मैदान पर परछाइयाँ नर्तन कर रही थीं। सूर्य प्रखर था, फिर भी नभ-नीलिमा स्वच्छ और कोमल दीख रही थी। वाड़ के उस पार से एक गाय हरी घास के मैदान तथा उस पर खड़े लोगों की ओर देख रही थी। इतने लोग यहाँ क्यों जमा हैं, यह शायद उसकी समझ में नहीं आ रहा था, लेकिन उस हरी-हरी घास से वह खूब परिचित थी। वर्षा को वीते काफी समय हो गया था। गर्मी से तपकर जमीन का रंग पीला पड़ गया था, फिर भी उस घास का रंग काफी हरा था। पास के ओक वृक्ष के एक तने पर गिरगिट मक्खियाँ और कीड़े पकड़ रहा था। दूर स्थित पर्वत का दृश्य कुछ अस्पष्ट और धुँधला दीख रहा था, किन्तु उसमें भी एक निराली मोहकता थी।

प्रवचन समाप्त होने पर जब हम पेड़ों की छाया में खड़े थे, तो एक महिला कहने लगी : "आज मैं खास तौर से इसलिए आयी कि शायद उस 'गुरुओं के गुरु' का, उस 'विश्वगुरु' का प्रवचन होगा।" उस महिला के हृदय में अतिशय आन्तरिकता थी। लेकिन अब वह आन्तरिकता दुराग्रह में बदल गयी थी। अपने दुराग्रहीपन को उसने ऊपरी मुसकान और तर्कसंगत प्रतीत होनेवाली सहिष्णुता से ढँक दिया था। यह सहिष्णुता बड़ी कुशलतापूर्वक सोची हुई और अभ्यास द्वारा विकसित की गयी थी, किन्तु आखिर वह थी तो मनोनिर्मित ही? इस कारण किसी प्रसंग पर इस सहिष्णुता का रूपान्तर क्षोभ की तेजी में और तीव्र असहिष्णुता में हो जाना सहज सम्भव था। देखने में वह महिला ऊँची, पूरी और बोलचाल में मृदुभाषिणी थी।

लेकिन अपने मतों और निष्ठाओं के कड़ेपन के कारण उसके मन में काफी तिरस्कार भर गया था, जो उसके व्यवहार तथा बोल-चाल में अस्पष्ट रूप में झलक भी जाता था। भावनाओं को विवेकपूर्वक दवाते रहने के कारण उसमें एक प्रकार की कठोरता आ गयी थी। परन्तु उसने अच्छा मानकर जो काम स्वतः स्वीकार किया था, वह विश्वबन्धुत्व बढ़ाने का था। कुछ देर रुककर वह कहने लगी : "वह 'गुरुओं का गुरु' जब अपने प्रवचन में स्वयं का स्वरूप प्रकट करेगा, तब वह मुझे निश्चित रूप से समझ में आयेगा। क्योंकि जगद्‌गुरु के आविष्कारों से सम्बद्ध रहस्य और गुप्तज्ञान मुझे और मेरी मण्डली के व्यक्तियों को ही थोड़ा-बहुत मालूम होता हैं। दूसरों को इस बारे में कुछ भी पता नहीं है।"—यह विशिष्ट और गुप्त ज्ञान केवल उसीको है, इस बोध से उत्पन्न होनेवाला आनन्द उसके उद्‌गारों से, हाव-भाव से और विशिष्ट प्रकार के सिर हिलाने से स्पष्ट प्रकट हो रहा था।

किसी महत्त्वपूर्ण और गुप्त बात का ज्ञान केवल अपने को ही है, यह बोध मनुष्य को एक प्रकार की गहरी और सुखद संतुष्टि देता है, जो दूसरों को प्राप्त नहीं है, वह विशिष्ट ज्ञान अपने को है, इस बोध के कारण मनुष्य को एक प्रकार का समाधान सतत प्राप्त होता रहता है। इस बोध के कारण वह सोचने लगता है कि उसे जीवन के गहन गूढ़ स्तरों का स्पर्श प्राप्त हो गया है। और इस भावना के कारण उसे एक निराली ही प्रतिष्ठा, सत्ता और हैसियत मिल जाती है। उस गुप्त, अज्ञात ज्ञान का अपने को प्रत्यक्ष स्पर्श हो गया है, जो दूसरों के पास नहीं है, ऐसा कुछ अपने हाथ लग गया है, ऐसी भावना उस व्यक्ति के मन में उत्पन्न होती रहती है। इसलिए केवल अपनी ही दृष्टि से नहीं बल्कि दूसरे की दृष्टि से भी ऐसे व्यक्ति को एक विशिष्ट माहात्म्य प्राप्त होता रहता है। दूसरे लोग उस व्यक्ति को कुछ भयमिश्रित आदर की भावना से देखने लगते हैं। क्योंकि उस व्यक्ति को जो गूढ़ ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसका थोड़ा-सा अंश हमें भी मिल जाय, यह आशा उनके मन में लगी रहती है। लेकिन वह व्यक्ति हाथ का बचाकर ही अपने गूढ़ ज्ञान का दान करता है। ऐसा व्यक्ति फिर नेता बनने लगता है, विशिष्ट क्षेत्र का अधिकारी बन जाता है। और यह हैसियत उसे सहज ही प्राप्त हो जाती है। क्योंकि सर्वसाधारण लोग यही चाहते हैं कि दूसरे लोग हमारा मार्गदर्शन करें, नेतृत्व करें। हम कहीं के नहीं रह गये हैं और हमारा सारा जीवन अस्तव्यस्त हो गया है, इस बात का जितना तीव्र बोध लोगों को होता है, उतना ही तीव्रता से वे दूसरों से मार्गदर्शन के लिए आतुर होते है। इस प्रकार शासन-तन्त्र के नाम पर, धर्म के नाम पर, किसी गुरु, उपदेष्टा अथवा किसी दल के नेता के नाम पर अधिकार-शाही की प्रतिष्ठापना होती रहती है।

सत्ता की पूजा करना और विशेषतः धार्मिक क्षेत्र में अधिकारशाही की पूजा करना अत्यन्त घातक है। फिर यह पूजा छोटी बातों की हो या बड़ी बातों की। वस्तुतः सत्य और आपके बीच किसीका भी मध्यस्थ बनना सम्भव नहीं। यदि कोई मध्यस्थ बनकर ऐंठ दिखाने लगे, तो निश्चित समझिये कि वह सत्य का विपर्यास करनेवाला है, भ्रम निर्माण करनेवाला है। फिर भले ही वह सर्वश्रेष्ठ उद्धारकर्ता माना गया पुरुष हो या हाल में ही स्वीकार किया गया आपका गुरु हो। जो समझता है कि उसे सत्य का ज्ञान हो गया है, वह वास्तव में सत्य से दूर है। उसे यदि किसी चीज का ज्ञान है तो वह है उसके पूर्वग्रहों का, स्वयं ही प्रक्षेपित की हुई अपनी निष्ठाओं और अपनी संवेदनाओं की आवश्यकताओं का। ऐसे मनुष्य को सत्य का, उस असीम का ज्ञान होना सम्भव ही नहीं। मनुष्य प्रतिष्ठा, हैसियत और सत्ता पा सकता है और धूर्ततापूर्वक उसका संवर्धन भी कर सकता है। लेकिन नम्रता प्रयत्न द्वारा आचरण में नहीं लायी जा सकती और उसका संवर्धन भी नहीं किया जा सकता। स्वयंभू सद्‌गुण ही मनुष्य को मुक्ति प्रदान करता है। लेकिन विशेष रूप से संवर्धन करके आचरण में लायी हुई नम्रता सच्चा सद्‌गुण नहीं है। ऐसी नम्रता निरी संवेदना होती है। अत· वह घातक और विनाशक होती है। ऐसी नम्रता मनुष्य के लिए बन्धनकारी होती है और यह बन्धन उसे बार-बार तोड़ना पड़ता है।

वस्तुतः गुरु कौन है, सन्त सत्पुरुष कौन है अथवा नेता कौन है—इसकी खोज करने की अपेक्षा अधिक महत्त्व की बात यह खोज निकालना है कि हम इनका अनुयायित्व अथवा शिष्यत्व क्यों स्वीकार करते हैं। इसलिए स्वीकार करते हैं कि इनकी सहायता से हम अपनी प्रतिष्ठा बढ़ा सकें, अथवा उनसे कुछ प्राप्त कर सकें, अथवा अपना मन शुद्ध और संशयरहित बना सकें। लेकिन मन की निर्मलता और प्रांजलता कोई किसीको दे नहीं सकता। हमारे मन में जो भ्रम या संशय है, वह हमारा ही पैदा किया हुआ है और हम ही उसे दूर कर सकते हैं। भले ही हम सुखदायी प्रतिष्ठा प्राप्त कर लें, या कोई आन्तरिक संरक्षण प्राप्त कर लें या संगठित धर्मों की अथवा पथों की अधिकार-श्रृंखला में कोई स्थान प्राप्त कर लें, लेकिन इन सारी बातों से हम अपने चारों ओर बाड़ ही खड़ी करेंगे, जिससे संघर्ष और दुःख ही पैदा होंगे। भले ही आपको थोड़ी देर के लिए कुछ विशिष्ट साध्य सिद्ध होने का आनन्द मिल जाय, यह सोचकर आप प्रसन्न हो लें कि हमें कोई अपरिहार्य स्थान मिल गया है, यह हमारा सौभाग्य है। परन्तु जब तक, किसी भी स्तर पर, कुछ विशिष्ट बनने की लालसा आपके मन में उठती रहेगी, तब तक उसमें से उलझन और दुःख के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं निकलेगा, यह निश्चित है। हम कुछ भी नहीं हैं, इस वस्तुस्थिति को पहचानकर उसीमें रहना अर्थशून्य होकर बैठ जाना नहीं है। हमारी इच्छाजन्य

निवृत्तिशील या प्रवृत्तिशील कृति तीव्र और उत्कट लालसा या वासना ही होती है। ऐसी कृति का अन्त सदैव ही संघर्ष और कलह में होता है। ऐसी कृति कभी भी अवबोध का साधन नहीं हो सकती। अधिकारशाही खड़ी करना और फिर उसका अनुगमन करना अवबोध से वंचित होना है। जब सत्य-दर्शन होता है, तभी वास्तविक स्वतन्त्रता का उदय होता है। यह स्वतन्त्रता कोई किसीको दे भी नहीं सकता और कोई किसीसे खरीद भी नहीं सकता। क्योंकि, जो खरीदा जा सकता है, वह नष्ट भी हो सकता है, चुराया भी जा सकता हैं। इसी तरह जो दूसरों का दिया हुआ होता है, वह वापस भी लिया जा सकता है। अधिकारशाही तथा उसका भय इसी तरह पनपता है। यह भय किसी भी अनुनय-पद्धति से अथवा मन्दिर में धूप-दीप जलाने से नष्ट नहीं होता। यह भय तो तभी नष्ट होता है, जब कुछ विशिष्ट होने की लालसा मन से बिलकुल निकल जाती है।

२६. ध्यान

उसने अपनी दृष्टि से ध्यान की साधता कई वर्षों तक की थी। इस विषय के अनेक ग्रन्थ पढ़े और उनमें वर्णित अनुशासनों के अनुसार बहुत कुछ साधनाएँ की थीं। वह एक ऐसे मठ में भी कुछ समय तक रह चुका था, जहाँ प्रतिदिन कई घण्टे ध्यान की साधना की जाती थी। अपनी इन विविध साधनाओं के विषय में बोलते हुए उसमें भावुकता कतई नहीं थी। उसी प्रकार त्याग-तपस्याजन्य अश्रुओं के कारण उसकी दृष्टि धूमिल भी नहीं हुई थी। वह कह रहा था कि इतने वर्षों की साधना के कारण उसने अपने मन पर काबू पा लिया है, फिर भी कभी-कभी उसका मन उसके नियंत्रण से बाहर निकल जाता है। उसके कहने का आशय यह था कि ध्यान-धारणा द्वारा उसे आनन्द की प्रतीति नहीं हुई थी 'और अपने पर लादे गये साधना के अनुशासनों के कारण उसका मन कुछ रुक्ष और कठोर बनता गया। जो हो, इन सबके प्रति अब उसे अत्यधिक असन्तोष था। अनेक तथाकथित धार्मिक संस्थाओं में वह रह चुका था। और अब उसने उन सबसे नाता तोड़ लिया था और जिस ईश्वर की उपलब्धि का आश्वासन उसे सबने दिया था, उस 'ईश्वर' की खोज में वह स्वतन्त्र रूप से निकल पड़ा था। अब उसकी उम्र ढल रही थी और एक प्रकार की थकान भी महसूस होने लगी थी।

चित्त-शुद्धि के लिए सही प्रकार का ध्यान आवश्यक होता ही है। क्योंकि, पूरी तरह रिक्त हुए बिना चित्त में नूतनता का उदय संभव ही नहीं। केवल सातत्य का अर्थ है ह्रास। किन्हीं बातों की सतत पुनरावृत्ति के द्वारा गलत व्यवहारों के

परिणामों के द्वारा और चित्त को बोदा करने और थकानेवाली संवेदनाओं के द्वारा हमारा चित्त मुरझा जाता है। चित्त की वृत्तियों का निरोध करना महत्त्व की बात नहीं है, महत्त्व की बात यह शोध निकालना है कि मन को किस-किस बात में रुचि है। परस्पर विरुद्ध अनेक रुचि-अरुचियों का समुच्चय ही मन का स्वरूप है। अन्य सारी रुचियों को एक ओर रखकर किसी एक ही रुचि को बढ़ाते रहने को सामान्यतः एकाग्रता अथवा योगानुशासन की प्रक्रिया कहा जाता है। ऐसा भी समझा जाता है कि अपनी प्रतिकार-शक्ति बढ़ाते रहना ही अनुशासन अथवा साधना है। लेकिन हाँ प्रतिकार होता है, वहाँ अबोध कभी सम्भव नहीं। अनुशासित किया हुआ अथवा अनुशासनबद्ध मन विमुक्त नहीं है। किसी भी बात का शोध विमुक्त अवस्था में ही लग पाता है। अहं के किसी भी स्तर के व्यापारों का शोध करने के लिए अनुशासन की नहीं, स्वतःस्फूर्ति की आवश्यकता है। इस शोध के चलते कभी-कभी कुछ अप्रिय आविष्कार हमारे हाथ लगते हैं। फिर भी अहं के सारे व्यापारों को प्रकाश में लाना ही चाहिए और उनको समझ लेना चाहिए। परन्तु अनुशासन उस स्वतः स्फूर्ति को नष्ट कर देता है, जिसमें ऐसे आविष्कार होते हैं। क्योंकि अनुशासन कितना ही नपा-तुला हो, तो भी वह मन को एक विशिष्ट साँचे में ढालने का ही काम करता है। मन को जिस बात की ट्रेनिंग दी जाती है, उसीसे वह अपना मेल बैठा लेता है। परन्तु जिससे मन अपना मेल बैठा लेता है, वही तो सत्य नहीं होता। समस्त अनुशासन बाहर से ही लादे जाते हैं। अतः उनकी सहायता से मन का पूरी तरह रिक्त होना अशक्य ही है। अहंबुद्धि से किये जानेवाले ऐसे सब अनुशासनों से पूर्वनियोजित साध्य के लिए ही मन को अधिकाधिक बल मिलता है, यह सही है। लेकिन जिस साध्य के लिए यह किया जाता है, वह वस्तुतः हमारे ही मन द्वारा विक्षेपित किया हुआ होता है और वह सत्य नहीं होता। कारण, स्वयंनिर्मित प्रतिमा के अनुसार ही मन सत्य के स्वरूप की कल्पना करता है और अनुशासन के द्वारा इस कल्पित प्रतिमा को बल मिलता है।

वास्तव में, नये-नये शोधों में ही — अहं के व्यापारों के बारे में क्षण-क्षण पर होनेवाले नये-नये शोधों में ही सच्चा आनन्द निहित होता है। हमारा अहं किसी भी स्तर पर विचरता रहे, आखिर वह मनोनिर्मित ही होता है। जो मनोनिर्मित नहीं होता, उसके विषय में विचार करना मन के लिए सम्भव नहीं है। अज्ञात का विचार वह कैसे करेगा ? अहं किसी भी स्तर पर हो, वह ज्ञात की कोटि में ही होता है। और अहं के कुछ ऐसे स्तर हो सकते हैं, जो ऊपरी मन को ज्ञात न हों, तो भी आखिर वे सारे स्तर ज्ञात की ही परिधि में आते हैं। अहं का सारा व्यापार उसके भिन्न-भिन्न नातों और सम्बन्धों में व्यक्त होता रहता है। जब ये नाते और सम्बन्ध

किसी भी विशिष्ट जीवन-प्रणाली से बद्ध नहीं होते, तभी अहं के यथार्थ दर्शन का अवसर प्राप्त होता है। विभिन्न नातों और सम्बन्धों के द्वारा ही अहं की कृतियों का आविष्कार होता रहता है। इन कृतियों को समझने के लिए हमारा अवधान रुचि-अरुचि-शून्य ही होना चाहिए। क्योंकि जहाँ चुनाव करने वैठे कि फिर अहं की अन्य रुचिपूर्ण वातों के प्रति दुर्लक्ष्य करके किसी एक रुचि पर ही जोर देना पड़ेगा। इसलिए रुचि-अरुचि शून्य अवधान रखा जाय तो अहं की सम्पूर्ण कृतियों का और अहं के सारे व्यापारों का अनुभव होता है। इस साक्षात् अनुभवन में न अनुभवी होता है, न अनुभूति, न द्रष्टा होता है, न दृश्य। इस प्रकार मन का सारा परिग्रह नष्ट होकर मन रीता बन जाता है, अनुभवों को संचित करनेवाला अहं अब वहाँ रह नहीं जाता वस्तुतः सारी संचित अनुभूतियाँ और सारी स्मृतियाँ ही तो 'मैं' है, 'अहं' है। अनुभूति-स्मृति के संचय से भिन्न ऐसी 'अहं' या 'मैं' वस्तु ही नहीं होती। समस्त गुण-विशेषों से 'अहं' अपने को अलग करके अपना रक्षण करने के लिए और इस अशाश्वत के फैलाव में अपना सातत्य बनाये रखने के लिए स्वयं को द्रष्टा, अवलोकिता, नियंत्रक मानने लगता है। वोध की एकसरीखी, एकात्मक प्रक्रिया की अनुभूति द्वारा मन का यह द्वैत नष्ट होता है। इससे समस्त मनोव्यापारों की व्यक्त और अव्यक्त सम्पूर्ण प्रक्रिया का आकलन होता है और उसकी एक-एक अंशात्मक कृति का नहीं, उसकी समग्रता का दर्शन होता है। ऐसा होने पर दैनंदिन कर्म और स्वप्न भी मन को रिक्त करनेवाली प्रक्रिया ही वन जाते हैं। ग्रहण करने के लिए मन का सम्पूर्ण रूप से रिक्त हो जाना आवश्यक है। लेकिन ग्रहण करने के लिए मन रिक्त हो, ऐसी लालसा रखने से, मन की रिक्तता में गहरी बाधा आती है। इसको भी किसी विशेष स्तर पर नहीं, बल्कि सम्पूर्णता से स्पष्टतापूर्वक समझ लेना चाहिए। अनुभवन की लालसा सम्पूर्ण रूप से मिट जानी चाहिए। जब अनुभविता अपने को अनुभूतियों और स्मृतियों से परिपुष्ट करना छोड़ देता है, तभी अनुभवन की लालसा पूरी तरह मिट पाती है।

मन को पूरी तरह रिक्त करने की प्रक्रिया मन के केवल ऊपर-ऊपर के स्तर में ही नहीं, उसके गुप्त, गहरे स्तर में भी होनी चाहिए। लेकिन यह तभी होगा, जब वस्तुओं का नामकरण करने की प्रक्रिया पूरी तरह शांत हो जाय। क्योंकि नामकरण करते रहने से अनुभविता, उसकी शाश्वतता की लालसा, विभिन्न स्मृतियों को यत्नपूर्वक सँजोकर रखने की प्रवृत्ति—सबको अधिकाधिक वल मिलता रहता है। इसलिए इस नामकरण-प्रवृत्ति की ओर शाँति और सावधानी से देखना चाहिए। तभी इसका सहज रूप में आकलन होता है। वस्तुतः हम वस्तुओं और वृत्तियों का जो नामकरण करते हैं, वह केवल इसलिए नहीं कि आपस में एक-दूसरे की बात समझ में आये, बल्कि इसलिए भी करते हैं कि किसी अनुभूति को शाश्वतता और गौरव प्रदान

करते रहें और उस अनुभूति ने पहले जो संवेदनाएँ उत्पन्न की हैं उनका पुनः प्रत्यय हो। यह नामकरण-प्रक्रिया मन के केवल ऊपरी स्तर से ही नहीं, अनेक स्तरों में घटित सम्पूर्ण मनोव्यापारों से निकल जानी चाहिए। यह कार्य अत्यन्त कठिन है। उसका आशय सहज रूप में न तो समझा ही जा सकता है और न उथली वृत्ति से उसका अनुभव ही लिया जा सकता है। क्योंकि, हमारी सम्पूर्ण प्रत्यय-प्रक्रिया अनुभवों का नामकरण करने की, अनुभवों को संग्रहीत करने की अथवा उनको आलेखित करके रखने की ही होती है। इस प्रक्रिया के कारण ही अनुभूति से निराला और सर्वथा भिन्न काल्पनिक अनुभविता मूर्त होता है और वही सतत परिपुष्ट होता रहता है। वस्तुतः विचार-प्रक्रिया से भिन्न विचारकर्ता का अथवा ज्ञाता का अस्तित्व ही नहीं है। विचार ही विचारकर्ता को निर्मित करता है और ऐसा भास कराता है कि वह विचार से भिन्न है। अपने को शाश्वतता प्रदान करने के लिए यह कल्पित विचारकर्ता विचारों से स्वयं को अलग कल्पित करता है, लेकिन वस्तुतः विचार सदैव अशाश्वत होते हैं, अतः यह विचारनिर्मित विचारकर्ता भी अशाश्वत ही होता है।

जब ऊपर-ऊपर के स्तर पर ही नहीं, सुप्त-गुप्त स्तर पर भी हमारा सम्पूर्ण जीवन गतानुभूति से सर्वथा मुक्त हो जाता है, तभी सच्ची मुक्तता का उदय होता है। इच्छा-शक्ति का यहाँ कोई उपयोग नहीं। वस्तुतः इच्छा तो वासना ही है। इसलिए इस इच्छा द्वारा निर्मित कृति अथवा विमुक्ति के लिए उसके द्वारा किया गया प्रयत्न जब तक अस्तित्त्व में रहता है, तब तक मन की सम्पूर्ण रिक्तता अथवा सम्पूर्ण विमुक्तता सम्भव नहीं। जब प्रत्यय-प्रक्रिया के सभी स्तरों में पूरी तरह शांति छा जाती है, तभी वह असीम, वह कालातीत आनन्द, वह नवसर्जन उदित होता है। ●

३०. क्रोध

उतनी ऊँचाई पर भी काफी गर्मी लग रही थी। खिड़कियों के तावदान भी गरम थे। वायुयान की घर्र-घर्र आवाज सुखद लग रही थी। और शायद इसी कारण बहुत-सारे यात्री ऊँघ रहे थे। नीचे दूर तक दिखाई देनेवाली धरती गर्मी से तपकर पीली पड़ गयी थी। लेकिन बीच में ही कहीं एकाध हरियाली का टुकड़ा भी दिखाई दे जाता था। जल्दी हीं हमारा वायुयान नीचे उतर गया। अब तो चारों ओर की असह्य उष्णता पराकाष्ठा को पहुँच गयी थी। वह उष्णता हमें अक्षरशः झुलसा दे रही थी। इमारत की छाया में भी ऐसा लग रहा था, मानो सिर फट जायगा। गर्मी

के कारण आसपास का सारा क्षेत्र वीरान-सा बन गया था। थोड़ी ही देर में हमारा वायुयान पुनः चल पड़ा और मानो ठंडी हवा की खोज में वह तेजी से ऊपर उठने लगा। सामने की सीटों पर दो नये यात्री बैठे थे। वे आपस में इतने जोर-जोर से बोल रहे थे कि उनकी बातों को न सुनना असम्भव था। उनकी बातचीत धीमी आवाज से शुरू हुई, लेकिन जल्दी ही उसमें तेजी और गरमागरमी आ गयी। ऐसा लग रहा था कि उनका यह क्रोध अति परिचय और आक्रोश की देन है। पूरी तरह क्षुब्ध होने के कारण वे शायद दूसरे यात्रियों को भूल ही गये थे। वे दोनों एक-दूसरे पर इतने अधिक चिढ़ गये थे कि उन्हें यह भान ही नहीं रहा कि वहाँ उनके अलावा और भी लोग हैं।

सबसे टूटकर अलग पड़ जाना क्रोध का विशेष गुण-धर्म है। दुःख की तरह क्रोध भी हमें सबसे तोड़कर अलग कर देता है। कुछ समय के लिए तो सारे रिश्तों और सम्बन्धों को वह मिटा ही देता है। सबसे टूटकर अलग हो जाने की भावना में जो तात्कालिक सामर्थ्य या ताकत रहती है, वह क्रोध में भी रहती है। उसमें एक प्रकार की विलक्षण विकलता भी होती है। सबसे टूट जाने की भावना ही विकलता है। आशाभंग, मत्सर अथवा दूसरों को पीड़ा पहुँचाने की लालसा के कारण क्रोध का जो भभका होता है, उससे भीतरी क्षोभ को अपने-आप खुली राह मिल जाती है। इस भभके द्वारा मनुष्य को अपना औचित्य सिद्ध करने का सुख मिलता है। हम दूसरों को धिक्कारते हैं और यह धिक्कार ही यह बताता है कि हम जो कुछ कर रहे हैं सो ठीक है। सामान्यतः हममें दो में से एक भावना प्रबल होती है—या तो आत्मप्रशंसा की अथवा आत्मनिंदा की। अपने अहंभाव को अधिकाधिक प्रतिष्ठा दिलाने के लिए हम प्रत्येक बात का साधन के रूप में उपयोग करते हैं; घृणा की भाँति क्रोध भी उसकी अभिव्यक्ति का सरलतम साधन है। क्रोध दो प्रकार का होता है—तत्काल उफननेवाला और शीघ्र ही भुला दिये जानेवाला क्रोध साधारण होता है। दूसरा होता है असाधारण क्रोध। यह क्रोध खास तौर पर पुष्ट किया जाता है, मद्यार्क की तरह उबाला-छाना जाता है, दूसरों को पीड़ा पहुँचाने के लिए अथवा उनका सर्वनाश करने के लिए समझ-सोचकर संवर्धित किया जाता है। यह क्रोध पहले से भिन्न होता है। साधारण क्रोध का कारण प्रायः दैहिकीय होता है जिसे देखा भी जा सकता है और उसका इलाज भी किया जा सकता है। लेकिन मानसिक कारणों से उत्पन्न क्रोध का स्वरूप अधिक सूक्ष्म होता है और उसका निराकरण करना बड़ा कठिन होता है। हममें से अधिकांश लोग क्रोध को चिन्ता का विषय नहीं मानते। अपने क्रोध के लिए हम कोई न कोई बहाना पेश कर देते हैं। हम पूछते हैं कि हमारे या दूसरे के प्रति कोई दुर्व्यवहार करेगा तो हमें क्रोध क्यों नहीं आयेगा? इस प्रकार हम न्याय-पूर्वक क्रुध होते हैं। 'हमें क्रोध आया है' इतना ही कहकर हम चुप नहीं रह जाते,

बल्कि यह क्रोध क्यों आया, उसके लम्बे-चौड़े स्पष्टीकरण भी हम देते रहते हैं। हमें किसीके प्रति मत्सर हुआ है अथवा हममें कटुता पैदा हो गयी है, इतना ही कहकर हम शांत नहीं हो जाते, बल्कि उस मत्सर अथवा कटुता का हम स्पष्टीकरण करते रहते हैं और उसका औचित्य बताते रहते हैं। प्रेम मत्सर के बिना कैसे संभव है, यह पूछते हुए हम मत्सर का समर्थन करते हैं। इसी तरह हमारे मन की कटुता के लिए दूसरे के कुछ विशिष्ट कृत्य कारणीभूत हुए हैं, ऐसा बताकर हम अपनी कटुता का समर्थन करते रहते हैं।

हम अपने क्रोध का यह जो मूक या मौखिक समर्थन, स्पष्टीकरण या शब्दांकन करते हैं, उसीके कारण वह पोषित होता है, उसका विस्तार होता है और उसकी गहराई बढ़ती है। फिर यह मूक या मौखिक स्पष्टीकरण या समर्थन हमारी ढाल बनता है और हमारे सही चित्र को उभरने नहीं देता। मनुष्य को सदैव ऐसी अपेक्षा रहती है कि लोग इसकी स्तुति करें, उसकी खुशामद करें। और हमें जब इनमें से कुछ भी नहीं मिलता, तब हम निराश होते हैं, हममें कटुता भर जाती है अथवा हम मत्सरग्रस्त बनते हैं। तब चाहे नम्रतापूर्वक धीरे-धीरे बुदबुदाकर या आक्रोशपूर्वक जोर-जोर से चिल्लाकर हम दूसरों को दोष देने लगते हैं। हमारी कटुता के लिए दूसरे लोग ही कारणीभूत हैं, ऐसा हम कहने लगते हैं। अपने सुख के लिए, पद-प्रतिष्ठा के लिए अथवा आदर-सम्मान के लिए हम इस प्रकार सतत दूसरों पर अवलंबित रहते हैं और हम दूसरों के द्वारा अपनी पूर्ति कर लेते हैं। इस कारण दूसरों को हमारे जीवन में विशेष महत्त्व प्राप्त होता है। फिर दूसरों का रक्षण करना, उन पर अपना स्वामित्व प्रस्थापित करना अपरिहार्य हो जाता है। दूसरों का आसरा लेकर हम स्वयं से दूर भागते हैं, लेकिन जब ये दूसरे हमें छोड़ जाते हैं, तब हमें अपने सिवा दूसरा कोई आश्रय नहीं रहता। अपनी इस निराश्रित स्थिति का अतिशय भय लगने के कारण हम क्रुद्ध होते हैं। और, क्रोध निराशा, रोष, क्षोभ, आक्रोश, कटुता और मत्सर आदि अनेक रूप धारण करता है।

दीर्घकाल से संचित ऐसे क्रोध अथवा दीर्घद्वेष को क्षमाशीलता का जहरमार आवश्यक हो जाता है। लेकिन क्षमाशीलता की अपेक्षा दीर्घकाल से संचित क्रोध अधिक विशिष्ट है। संचित क्रोध न रहे तो क्षमाशीलता की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। दीर्घकालीन क्रोध होने पर ही तो क्षमाशीलता आवश्यक हो जाती है। अगर हम यह अपेक्षा छोड़ दें कि दूसरे हमारी खुशामद करें, दूसरों की ओर से पीड़ा पहुँचाने के शल्य को अगर हम निकाल दें, और दूसरों के प्रति खास रूप से उदासीन रहने से जो कठोरता पैदा होती है, उसे भी हम अपने में न आने दें, तो फिर हमारे हृदय में करुणा, उदारता और सदाशयता का निश्चय ही उदय होगा।

संकल्प द्वारा क्रोध दूर नहीं किया जा सकता। क्योंकि, संकल्प हिंसा का ही अंश है। संकल्प का जन्म वासना में से, कुछ विशिष्ट होने की अभिलाषा में से ही होता है। और अभिलाषा तो स्वभावतः ही आक्रामक और आधिपत्यपूर्ण होती है। इसलिए संकल्प द्वारा क्रोध का निरोध करने की बात सोचना क्रोध का एक दूसरे स्तर पर और दूसरे किसी नाम पर रूपान्तर करना ही है। फिर भी इसमें आंशिक रूप में तो हिंसा रहती ही है। अहिंसा-वृत्ति का विशेष तौर पर संवर्धन करना हिंसा-वृत्ति से मुक्त होने का मार्ग नहीं है। उसके लिए तो अभिलाषा या वासना के स्वरूप को समझ लेना होगा। क्योंकि, वासना या अभिलाषा का कोई आध्यात्मिक विकल्प नहीं है। उसे न तो दबाया जा सकता है और न उसका उदात्तीकरण ही किया जा सकता है। तटस्थ वृत्ति से रुचि-अरुचि-शून्य होकर वासना के स्वरूप का दर्शन करना चाहिए। तभी तटस्थ जागरूकता द्वारा अनुभविता, उसे कोई नाम दिये बिना, वासना अथवा अभिलाषा की प्रत्यक्ष अनुभूति कर सकेगा। ●

३१. मनोवैज्ञानिक सुरक्षितता

वह मनुष्य कह रहा था कि अदृश्य महात्माओं के अस्तित्व के विषय में जो-जो साहित्य प्रकाशित हुआ है, वह सारा उसने पढ़ लिया है, इस प्रश्न पर उसने गहराई से विचार किया है और उसका पूरा-पूरा विश्वास है कि अदृश्य महात्मा संसार के विभिन्न भागों में वास कर रहे हैं। वह यह भी कह रहा था कि अपने कुछ विशिष्ट शिष्यों के अलावा दूसरों को वे प्रत्यक्ष दर्शन नहीं देते, तब भी किसी निराले माध्यम से वे दूसरों से सम्पर्क रखते हैं। उसका जगत् पर कल्याणकारी प्रभाव पड़ता रहता है, और आज जगत् में विचार-क्षेत्र में और कर्तृत्व-क्षेत्र में जो-जो नेता हैं, स्वयं उनको इसकी कल्पना न हो, तो भी उनका मार्गदर्शन ये अदृश्य महात्मा ही सतत करते रहते हैं। संसार की विभिन्न क्रान्तियाँ वे ही लाते हैं और जगत् में शान्ति की प्रस्थापना भी वे ही करते रहते हैं। पृथ्वी के प्रत्येक खण्ड पर एक विशिष्ट अदृश्य महात्मा-मण्डल का प्रभाव रहता है, यह महात्मा-मण्डल ही उस-उस खण्ड के भवितव्य को मूर्तिमंत करता रहता है और उस खण्ड पर वे अपने आशीर्वाद की वर्षा करते रहते हैं। ये सब बातें सही हैं, इस बारे में उसे पूरा विश्वास हो गया है, ऐसा वह मानता था। फिर वह यह भी कहने लगा कि इन अदृश्य महात्मा के अनेक विशिष्ट शिष्यों से उसका परिचय है। लेकिन तत्क्षण उसने थोड़ी सावधानीपूर्वक अपने कथन में एक पैवंद जोड़ दिया कि वह उस महात्मा का विशिष्ट शिष्य है, यह बात खुद उसीने कह दी है। इन बातों के सम्बन्ध में उस

मनुष्य की जिज्ञासा अत्यन्त उत्कट दिखाई पड़ी। इसलिए उसे मनःपूर्वक ऐसा लग रहा था कि इन महात्मा के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त हो। वह बड़ी आतुरता से पूछ रहा था कि इन महात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन होना या उनसे प्रत्यक्ष सम्पर्क होना सम्भव है ?

नदी कितनी शान्त, निस्तब्ध थी ! तट के पास छोटे-से दो सुन्दर पक्षी पानी के पृष्ठ भाग का फिसलता स्पर्श करते-करते लगातार ऊपर-नीचे उड़ रहे थे। पास ही कुछ मधुमक्खियाँ अपने छत्ते के लिए पानी भर रही थीं। नदी की बीच धारा में एक मछुआरे की नाव स्तब्ध खड़ी थी। किनारे के वृक्ष घने पत्तों के संभार से सजे थे और उनकी घनी परछाइयाँ गहरी काली दीख रही थीं। नजदीक ही धान के खेत में नयी रोपों का गहरा हरा रंग झलक रहा था। उस धान के खेत पर फुदकनेवाले उजले सफेद पक्षी परस्पर टेर लगा रहे थे। वह सारा दृश्य कितना शान्त, कितना निस्तब्ध था ! ऐसे समय किसी क्षुद्र प्रश्न के बारे में बोलना पड़े, इसका खेद हो रहा था। आकाश में संध्याकालीन सुकुमार नीलिमा फैली हुई थी। भीड़-भाड़वाले शहर यहाँ से बहुत दूर थे। नदी के उस पार एक गाँव मात्र दीख रहा था और उस तीर पर से जानेवाली आवागमन की एक पगडंडी दिखाई दे रही थी। एक लड़का ऊँचे और स्पष्ट स्वर में गीत गा रहा था। लेकिन इसके कारण वहाँ की निस्तब्धता भंग नहीं हो रही थी।

हम बड़े विचित्र लोग हैं। किसी बात की खोज में हम खूब दूर-दूर भटकते रहते हैं जब कि वह चीज हमारे अत्यन्त निकट ही होती है। सौन्दर्य कहीं दूर-दूर होता है, हमारे आसपास नहीं रहता, सत्य हमारे घर में नहीं होता, कहीं दूर रहता है— सामान्यतः हम ऐसा समझते हैं। गुरु या महात्मा के शोध में हम पृथ्वी के दूसरे छोर पर चले जाते हैं और निकट के साधारण सेवकों की हमें जानकारी ही नहीं है। एक ओर रोज-रोज के सुख-दुखों को और दैनंदिन जीवन की सामान्य बातों को भी समझ नहीं पाते हैं और दूसरी ओर गूढ़ और रहस्यमय बातों को उपलब्ध करने के लिए सतत प्रयत्न करते रहते हैं। एक तरफ तो हमें अपना ही कोई ज्ञान नहीं होता और उधर कोई यदि हमें किसी बड़े पारितोषिक का, किसी आशा का अथवा आदर्श जगत् का आश्वासन देता है, तो उसका शिष्यत्व स्वीकार करने अथवा उसकी चाकरी करने के लिए हम एक पैर पर तैयार हो जाते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि जब तक हम स्वयं ही उलझन में फँसे रहते हैं, तब तक हम जिस-जिस बात का चयन करते रहेंगे, वह बात निश्चित रूप से उलझन से भरी होगी। अगर हमारी दृष्टि में आधा अंधापन आ जाय तो हमें स्पष्ट दिखाई कैसे देगा ? ऐसी स्थिति में हमें जो दिखाई देता है, वह अंशात्मक ही होता है। वह यथार्थ या सम्यक् नहीं होता। वस्तुतः

यह सब हमें मालूम रहता है, लेकिन हमारी अभिलाषाएँ, लालसाएँ इतनी प्रबल होती हैं कि वे हमें सतत सम्भ्रम में, मृग-मरीचिका में और अनन्त दुःखों में ढकेलती रहती हैं।

अदृश्य महात्मा पर निष्ठा के कारण ही मनुष्य से उस महात्मा का निर्माण होता रहता है। और मानवीय अनुभूति को भी निष्ठा ही विशिष्ट रूप प्रदान करती रहती है। विशिष्ट प्रकार के कर्मों पर अथवा विशिष्ट वैचारिकता पर हमारी निष्ठा रही, तो उसके कारण अपेक्षित बात का निश्चित रूप से निर्माण होता रहता है। लेकिन उसके लिए कितनी दुर्दशाओं और यातनाओं का मूल्य चुकाना पड़ता है! किसी व्यक्ति में यदि विशिष्ट प्रकार का कर्तृत्व और सामर्थ्य रहता है तो ऐसे व्यक्ति के हाथ में निष्ठा अत्यन्त सामर्थ्यवान् साधन बन जाती है। यह साधन बन्दूक से भी अधिक भयकर शस्त्र साबित होता है। हममें से अधिकांश लोगों को वास्तविकता की अपेक्षा अपनी मनोनिर्मित निष्ठाएँ ही अधिक सार्थक प्रतीत होती हैं। जो जैसा है, उसका वैसा ही दर्शन करने के लिए निष्ठा की कतई आवश्यकता नहीं है। बल्कि निष्ठा, कल्पना, पूर्वग्रह आदि सभी वास्तविकता के दर्शन के आड़े आनेवाले प्रतिबन्ध ही होते हैं। हमें केवल अपनी निष्ठा और अपने साम्प्रदायिक मत–विचार ही प्रिय लगते हैं। क्योंकि वे हमें प्रेरणा देते रहते हैं, नाना आश्वासन देते रहते हैं और हमारे जीवन को ऊष्मा देते रहते हैं। लेकिन हमारी ये निष्ठाएँ हमें किस मार्ग से ले जाती हैं और हम उनसे इतने क्यों चिपक जाते हैं, इसकी यदि हमें साक्ष्य मिल जाय तो वैर और वैमनस्य के लिए कारणीभूत होनेवाले जो अनेक हेतु होते हैं, उनमें से एक बहुत बड़ा हेतु दूर हो जायगा।

स्वयं अपने लिए अथवा अपने समूह के लिए कुछ विशिष्ट प्राप्त करने की जो अभिलाषा मनुष्य में होती है, वही उसे अज्ञान की ओर, और संभ्रम की ओर खींचती रहती है और वही उसे दुःख और सर्वनाश के गर्त में ढकेल देती है। यह अभिलाषा केवल अधिकाधिक शारीरिक सुख-सुविधा प्राप्त करने की नहीं होती, बल्कि उसमें सत्ता की भी तीव्र आकांक्षा होती है। पैसे से, ज्ञान से, और किसीसे भी एकरूपता प्राप्त करने से मिलनेवाली सत्ता—उसका लक्ष्य होता है। अधिकाधिक की इच्छा ही संघर्ष और दुःख का मूल है। इस दुःख से छूटने के लिए इच्छा को दबाना, दूसरी वृत्ति की प्रतिष्ठापना करना अथवा इच्छाओं का उन्नयन करना आदि आत्मवंचनाओं के विविध प्रकारों का आश्रय मनुष्य लेते रहते हैं। लेकिन यह सब करके भी अधिकाधिक की लालसा किसी भिन्न स्तर पर ही क्यों न हो, कायम रहती ही है। लालसा किसी भी स्तर पर पहुँच जाय, वह संघर्ष और कष्ट का ही कारण बनती है। इस लालसा से छुटकारे का सबसे सरल उपाय है गुरु का अथवा अदृश्य महात्मा

का आश्रय। कुछ लोग राजनीतिक विचारधाराओं तथा उसके विविध कार्यों में अपने को उलझाकर अपना छुटकारा कर लेना चाहते हैं, कुछ लोग पूजा-अर्चा आदि धार्मिक विधियों तथा साधनानुशासन से प्राप्त होनेवाली संवेदनाओं द्वारा यह छुटकारा प्राप्त करना चाहते हैं, तो कुछ लोग अदृश्य महात्माओं के द्वारा। एक बार इन साधनों का आश्रय ले लेने पर छुटकारे के ये साधन ही महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं। फिर इन साधनों की रक्षा के लिए भय और हठाग्रह कड़ी पहरेदारी करने लगते हैं। इसके बाद 'तुम कौन हो', इस बात का महत्त्व बिलकुल नहीं रह जाता और उस अदृश्य महात्मा का ही महत्त्व रहता है। फिर आपका महत्त्व केवल इसी अर्थ में रह जाता है कि आप उस महात्मा के शिष्य या सेवक हैं। और इस शिष्यवर्ग में अपना स्थान बनाने के लिए आपको विशिष्ट आचारों का अवलंबन करना पड़ता है और कुछ कठिनाइयों को भुगतना पड़ता है। इतना ही क्यों, बल्कि कुछ अधिक ही करने के लिए आप सदैव प्रस्तुत रहते हैं। क्योंकि, इस महात्मा के साथ एकरूपता पाने की बात से आपको एक निराला ही सुख भी मिलता है, और एक निराली सामर्थ्य भी। महात्मा के नाम पर यह सुख और यह सामर्थ्य सुलभ होने के कारण उनको भी निराली प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। अब आप पहले की तरह एकाकी, संभ्रमित और निराशाग्रस्त नहीं रह जाते, क्योंकि अब आप उस महात्मा के, उस दल के अथवा उस ध्येय के निकट सम्बन्धी बन चुके होते हैं। अब आप सुरक्षित हैं।

अनेक लोगों को ऐसी ही सुरक्षितता की चाह होती है। किसी बात में अनेक लोगों के साथ अपने को झोंक देना मनोवैज्ञानिक अभय प्राप्त करने का एक तरीका है। किसी आध्यात्मिक अथवा लौकिक समूह से अथवा ध्येय से एकरूपता प्राप्त करना भी सुरक्षितता प्राप्त करने का ही एक प्रकार है। यह जानते हुए भी कि राष्ट्रवाद से अधिकाधिक संहार और दुःख ही उत्पन्न होते हैं, अनेक लोग राष्ट्रवाद से चिपके रहते हैं। इसी तरह संगठित धर्म का जनसमूह पर इतना ज्यादा प्रभाव है। भले ही वह मनुष्य-मनुष्य के बीच वैरभाव का निर्माण करता है, उन्हें एक-दूसरे से अलग करता है। यह प्रत्यक्ष वस्तुस्थिति होते हुए भी इस सुरक्षा की आशा के कारण ही लोग उनके प्रभाव में फँसते जाते हैं। इस प्रकार वैयक्तिक या सामूहिक सुरक्षा की लालसा में से अन्ततः संहार ही उत्पन्न होता है। मनोवैज्ञानिक सुरक्षा की इस लालसा में से अनेक भ्रम पैदा होते हैं। हमारा जीवन ऐसे भ्रमों और दुःखों से भरा रहता है, सच्चे आनन्द और स्पष्ट दर्शन के क्षण उसमें विरले ही होते हैं। इसलिए इन दुःखों और भ्रमों से छुटकारे का अभिवचन जिन-जिनसे मिलता है, उन्हें हम आतुरतापूर्वक स्वीकार कर लेते रहते हैं। राजनीतिक आदर्श विश्व-कल्पना की व्यर्थता ज्ञात हो जाने पर कुछ लोग धर्म की ओर मुड़ते हैं। इस तरह धर्म की ओर मुड़ने का

मतलब है आशा और सुरक्षा के लिए अदृश्य महात्मा, सम्प्रदाय अथवा विशिष्ट विचारधारा का आश्रय लेना। जैसी निष्ठा होगी, वैसा ही रूप अनुभव में आने के कारण, अदृश्य महात्मा के अस्तित्व को एक प्रकार की वास्तविकता प्राप्त होती रहती है। उनके साथ एकरूपता पाने के कारण जो आनन्द मिलता है, उसका एक बार अनुभव आने पर मन उस अनुभव में ही मजबूती के साथ जकड़ जाता है। वहाँ से उसे उखाड़ना असम्भव हो जाता है। क्योंकि, यह निष्ठाजन्य अनुभव ही उनकी दृष्टि में सत्य की कसौटी बन जाता है।

लेकिन अनुभूति का अर्थ सत्य नहीं है। सत्य का अनुभव करना सम्भव ही नहीं है। क्योंकि सत्य केवल 'होता' है। यदि अनुभविता को ऐसा लगे कि हम सत्य का अनुभव कर रहे हैं, तो उसकी यह प्रतीति केवल आभास ही है। सत्य के सम्बन्ध में निश्चित माना गया सारा ज्ञान केवल आभासात्मक ही है। सत्य के दर्शन के लिए ज्ञान और अनुभूति का अन्त होना ही चाहिए। सत्य का साक्षात्कार करना अनुभूति के लिए कभी सम्भव नहीं। अनुभूति ज्ञान का स्वरूप निर्मित करती रहती है और ज्ञान अनुभूति को झुकाता रहता है। अतः सत्य के दर्शन के लिए इन दोनों का अन्त आवश्यक है।

३२. पृथगात्मता

वह व्यक्ति शरीर से ठिगना था, लेकिन वृत्ति उसकी आक्रामक थी। वह एक विश्वविद्यालय में प्राध्यापक था। उसने इतना पढ़ा था कि स्वयं का विचार कहाँ शुरू हुआ और दूसरों के कहाँ समाप्त हुए, यह समझना उसके लिए कठिन हो गया था। उसने बताया कि वह एक उग्र राष्ट्रवादी था और इसके लिए उसने थोड़े-बहुत कष्ट भी झेले थे। पहले उसने धार्मिक स्वरूप की कुछ साधनाएँ भी की थीं, लेकिन अब उन सब निरर्थक बातों को छोड़कर सुदैव से वह अंधश्रद्धा से पूरी तरह मुक्त हो गया था। मनोवैज्ञानिक परिवर्तनविषयक सारी चर्चाएँ लोगों को भ्रमित करती हैं— यह अपना निश्चित अभिप्राय उसने आवेगपूर्वक व्यक्त किया। उसकी विचारधारा कुछ इस प्रकार की थी : "आज अगर सबसे महत्त्वपूर्ण कोई बात है तो वह है मनुष्य-समाज की आर्थिक दृष्टि से पुनर्रचना। क्योंकि अन्न ही मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकता है। दूसरी आवश्यकताओं का महत्त्व नम्बर दो पर आता है। आज संसार में हिंसक क्रान्ति द्वारा एक नये वर्ग-विहीन समाज की स्थापना अत्यन्त आवश्यक है। इस लक्ष्य की पूर्ति होने पर इस ओर ध्यान देने का कोई कारण नहीं रह जाता कि साधन किस प्रकार के अपनाये गये। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए

आवश्यक हो तो वर्तमान समाज में जान-बूझकर अराजकता उत्पन्न करनी चाहिए और फिर सम्पूर्ण सत्ता हाथ में लेकर सही ढँग की समाज-रचना को अस्तित्व में लाना चाहिए। सामुदायिकता की प्रतिष्ठापना अत्यन्त आवश्यक है। मनुष्य का आज का शोषण पूरी तरह नष्ट करना जरूरी है।" मनुष्य की भविष्य-सम्बन्धी उसकी कल्पना बड़ी पैनी थी : "मनुष्य अपने चारों ओर की परिस्थिति से ही निर्मित होता है। इसलिए भविष्य के नये जगत् के लिए आज के मनुष्य को विशिष्ट मोड़ देकर हम तैयार करनेवाले हैं। इस भविष्य के लिए इस भावी नये जगत् के लिए, हम आज की सब बातों का बलिदान कर देंगे। इसके लिए आज की मनुष्य की बलि देनीं पड़े तो भी कुछ खास बिगड़नेवाला नहीं है। क्योंकि मनुष्य का भविष्य हमें निश्चित रूप से मालूम है।" ऐसा उस व्यक्ति का दृढ़ विश्वास था।

इतिहास का अध्ययन करके ऐतिहासिक घटनाओं का विश्लेषण और निरूपण अपने-अपने पूर्वग्रहानुसार मनुष्य कर सकता है। लेकिन भविष्य के बारे में निश्चित स्वरूप के अभिप्राय व्यक्त कर देना, केवल आभास-विश्व में ही विहार करना है। मनुष्य किसी एक ही प्रकार के प्रभाव या संस्कार से नहीं गढ़ा जाता। मानव विलक्षण गूढ़ स्वरूप की और उलझनभरी वस्तु है। इसलिए अन्य सब प्रभावों के प्रति दुर्लक्ष्य करके एक ही प्रकार के प्रभाव पर सारा जोर देते रहने से सन्तुलन एकदम बिगड़ जायगा। एक बार ऐसा सन्तुलन बिगड़ने पर पहले से भी ज्यादा दुःख और अराजकता उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगी। क्योंकि मनुष्य एक विशाल और एकात्म साकल्य होता है। उस साकल्य का एकाध अंश कुछ समय के लिए कितना भी महत्त्वपूर्ण प्रतीत हो तो भी केवल उसीका ज्ञान होना उपयोगी नहीं है। उस साकल्य के सम्पूर्णत्व का आकलन जरूरी है। भविष्य के लिए वर्तमान का बलिदान करना सत्ता-उन्मादी लोगों का पागलपन है। सत्ता बुरी चीज है। मनुष्यों का मार्गदर्शन करने की ठीकेदारी केवल हमारी ही है, ऐसा सत्ता-उन्मादी लोग समझते हैं। वे अपने को नये जमाने के 'धर्मगुरु' समझते हैं। वस्तुतः साध्य और साधन कभी भिन्न नहीं होते। वे परस्परावलम्बी साकल्य हैं। साधन ही साध्य के स्वरूप का निर्माण करते हैं। हिंसात्मक साधनों द्वारा शान्ति की स्थापना सर्वथा असम्भव है। पुलिस शासनतंत्र कभी भी शान्तिप्रिय नागरिक नहीं बना सकता। जोर-जबरदस्ती करके कभी भी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं की जा सकती। यदि किसी प्रदेश में एक ही राजनीतिक पक्ष की सार्वभौम सत्ता चले तो वहाँ पर वर्गविहीन समाज-रचना हुक्मशाही में से कभी निर्माण नहीं हो सकती।

समुदाय के साथ अथवा किसी विचार-प्रणाली के साथ एकरूपता प्राप्त करने से व्यक्ति की मूल पृथगात्मता, उसका व्यक्ति-वैशिष्ट्य नष्ट नहीं होता। इस पृथगात्मता के स्थान पर अन्य किसीकी भी प्रस्थापना करने से अथवा इस

पृथगात्मता को दबा देने से वह उतनेभर के लिए मिट गयी, ऐसा लगेगा। लेकिन इस तरह पृथगात्मता का मूल प्रश्न हल नहीं होगा। कुछ समय पश्चात् वह तीव्र वेग से उछलकर ऊपर उठे बिना नहीं रहेगी। भय के कारण वह कुछ देर के लिए पीछे भले जा पड़े, लेकिन उसकी समस्या क़ायम ही रहेगी। समस्या यह नहीं है कि यह पृथगात्मता कैसे नष्ट की जाय, बल्कि महत्त्वपूर्ण और वास्तविक प्रश्न यह शोध निकालने का है कि हममें से प्रत्येक व्यक्ति इस पृथगात्मता को इतना महत्त्व क्यों देता है। वस्तुतः वर्गविहीन समाज-रचना स्थापित करने की जिनकी इच्छा है, वे ही लोग अपनी सत्ता और अधिकार के कृत्यों के द्वारा मनुष्य-मनुष्य में भेद के बीज बोते रहते हैं। यह ठीक है कि आपसे मैं भिन्न हूँ और मुझसे दूसरे भिन्न हैं, लेकिन इस पृथगात्मता की भावना को और उससे उत्पन्न होनेवाले दुष्परिणामों को हम इतना महत्त्व क्यों देते हैं? सारे मनुष्यों में सामान्यतः पर्याप्त सादृश्य होता है, फिर भी प्रत्येक व्यक्ति दूसरों से भिन्न होता है। इस असादृश्य के कारण हममें से प्रत्येक को पृथगात्मता का गौरव होता है। अपने कुटुम्ब की भिन्नता की, अपने नाम की, अपनी सम्पत्ति की भिन्नता की तथा अपने व्यक्तित्व की, निरालेपन की भावना हममें भिदती रहती है। इस पृथगात्मता ने, इस वैयक्तिकता की भावना ने आज तक न जाने कितना अनर्थ ढाया है! इसीलिए अब सामुदायिक कार्यों की, सामुदायिक उद्योगों की ओर समुदाय की वेदी पर व्यक्तित्व का बलिदान करने की इच्छा जोर पकड़ने लगी है। समष्टि की इच्छा के आगे व्यक्ति की इच्छा को झुकाने का प्रयत्न संगठित धर्मों ने आज तक किया ही है और अब राजसत्ता को जिसने अपने अधीन कर लिया है, वह राजनीतिक पक्ष भी समष्टि की इच्छा में व्यक्ति की इच्छा को विलीन कर डालने का जोरदार प्रयत्न कर रहा है।

भला, पृथगात्मता की भावना से हम इतने अधिक क्यों चिपके रहते हैं? हमारी संवेदनाएँ व्यक्ति—इकाई की दृष्टि से भिन्न होती हैं और संवेदनाओं के आधार पर ही हम अपना जीवन जीते हैं। वस्तुतः संवेदना ही हम होते हैं। यदि हमसे हमारी सारी सुखद और दुःखद संवेदनाएँ छीन ली जायँ तो हमें ऐसा लगेगा कि हम ही नष्ट हो गये हैं। अपनी संवेदनाओं का ही हमें महत्त्व प्रतीत होता रहता है। इसलिए संवेदन-भिन्नता ही हमारी व्यक्ति-भिन्नता है, ऐसा हम मानने लगते हैं। हमारे निजी तथा नागरिक, दोनों प्रकार के, जीवन की संवेदनाएँ भिन्न-भिन्न स्वरूप की और भिन्न-भिन्न स्तर की होती हैं। दोनों प्रकार की इन संवेदनाओं में जब विरोध उत्पन्न होता है, तब उसका पर्यवसान संघर्ष में होता है। वस्तुतः व्यक्ति के नाते अथवा नागरिक के नाते हमारी संवेदनाओं में सतत विरोध चलता ही रहता है। संवेदनाओं में संघर्ष निहित ही रहता है, अंगभूत ही रहता है।

इसलिए सत्ता प्राप्त करने की अथवा अपने में नम्रता लाने की हमारी अभिलाषा जब तक कायम रहेगी, तब तक संदनाओं में .संघर्ष होता ही रहेगा। इसी संघर्ष में से वैयक्तिक अथवा सामाजिक दुःख उत्पन्न होते रहते हैं। बढ़ने-घटने की जो अभिलाषा हमारे मन में सतत उछलती रहती है, उसीके कारण यह व्यक्तित्व की, यह पृथगात्मकता की भावना उत्पन्न होती है। इस परिस्थिति का समर्थन या धिक्कार किये बिना यदि हम अविचलित रहें तो हमें यह ज्ञात होगा कि हमारा सम्पूर्ण जीवन केवल संवेदनाओं से ही बना हुआ नहीं है। यह पता लगते ही, स्मृतियाँ संवेदना ही होने के कारण स्मृति के रूप में हमारे मन के जो व्यापार चलते हैं, वे शान्त होने लगते हैं, और अपने ही संघर्षों से मन व्यथित नहीं होता। इस प्रकार मन के शान्त और निस्तब्ध बनने पर 'मैं और मेरा' की भावनासे छूटकर शुद्ध प्रेममयता के साम्राज्य को फैलाने की सम्भावना उत्पन्न होती है। ऐसी प्रेममयता के बिना सामुदायिक कृति निरी जबरदस्ती बन जाती है। इस जबरदस्ती में से भय और वैरभाव उत्पन्न होते रहते हैं और इन्हींमें से वैयक्तिक और सामूहिक संघर्ष पैदा होते रहते हैं।

३३. सत्ता

वह आदमी अत्यन्त गरीब था, लेकिन योग्य और चतुर था। उसके पास जो कुछ भी था, उसमें वह सन्तुष्ट लगता था। कौटुम्बिक जवाबदारियों से भी वह मुक्त था। चर्चा करने तथा कुछ प्रश्न पूछने के लिए वह प्रायः आया करता था। भविष्य के विषय में उसने बड़े-बड़े सपने सँजो रखे थे। उसमें आतुरता भी थी और उत्साह भी था। मामूली बातों में भी उसे आनन्द आता था। दूसरों के लिए छोटी-मोटी बातें करना उसे अच्छा लगता था। उसका कहना था कि उसे भौतिक सुख-सुविधाओं का या पैंसे का विशेष आकर्षण नहीं है। लेकिन काफी धन मिलने पर वह क्या-क्या करेगा, इसका वह मजेदार वर्णन करता था तब फिर किस-किसको दान देगा, किस-किसकी मदद करेगा, एक उत्कृष्ट विद्यालय की स्थापना कैसे की जायगी। कुल मिलाकर वह स्वप्निल वृत्ति का था और अपने या दूसरों के उत्साह के बहाव में सहज बह जानेवाला था।

अनेक वर्षों बाद वह एक दिन पुनः मिलने आया। उसमें विलक्षण परिवर्तन आ गया था। अब उसकी वह स्वप्निल दृष्टि नहीं रह गयी थी। उसके विचारों में अतिशय व्यावहारिकता, निश्चितता और कठोरता आ गयी थी। उसके निर्णयों में एक पैनी कठोरता दिखाई देती थी। वह कई देशों की यात्रा कर चुका था और

उसकी बातचीत में अब नागरी सुसंस्कृतता और विशेष प्रकार की चमक दिखाई दे रही थी। अपने इस नवीन आचरण की मोहिनी को वह जब चाहे फैलाता था और जब चाहे समेट लेता था। उसे बड़ी भारी सम्पत्ति उत्तराधिकार में मिल गयी है और इस सम्पत्ति को उसने कई गुना बढ़ाया भी है। अब वह पूरी तरह बदल गया है। अब वह यदा-कदा ही मिलने आता है और जब कभी मिलता है तो उसके बर्ताव में बड़ी दूरी प्रकट होती है। ऐसा लगता है कि वह आत्मनिर्मित अवगुंठन में दब गया है।

गरीबी और अमीरी, दोनों ही बन्धन हैं। अपनी गरीबी का ज्ञान रखनेवाला और अपनी अमीरी का ज्ञान रखनेवाला, दोनों ही परिस्थितियों के खिलौने होते हैं। ये दोनों प्रकार के मनुष्य सहज ही भ्रष्टता के वशीभूत हो जाते हैं। क्योंकि, इन दोनों को सत्ता की प्यास होती है, जो कि मनुष्य को भ्रष्टता की ओर ही खींचकर ले जाती है। सम्पत्ति से, विचार-कल्पनादि से भी सत्ता बड़ी है। इन सब बातों से सत्ता प्राप्त होती है अवश्य, तथापि उन सबको एक ओर फेंका जा सकता है, फिर भी सत्ता की आकांक्षा तो कायम ही रहती है।

सत्ता प्राप्त करने के अनेक प्रकार होते हैं। सीधी-सादी जीवन-प्रणाली द्वारा, सद्गुणों द्वारा, त्याग द्वारा अथवा विशिष्ट पक्षनिष्ठा के माध्यम द्वारा सत्ता प्राप्त की जा सकती है। लेकिन सत्ता प्राप्त करने के ये विभिन्न साधन केवल सत्ताभिलाषा को ढँकनेवाले ही होते हैं। इसलिए उनके दिखावे में फँसते जाने का कोई कारण नहीं है। विशिष्ट पद, प्रतिष्ठा या सत्ता प्राप्त करने की जो अभिलाषा मनुष्य में होती है, वह लगभग सहज प्रवृत्ति जैसी होती है और वह अत्यन्त सूक्ष्म तरीके से अपना प्रभाव डालती है। यह सत्ता कोई आक्रामकता से, तो कोई नम्रता से, कोई तपस्या से तो कोई ज्ञान से, कोई दूसरों के शोषण से तो कोई आत्मत्याग से प्राप्त करता है। किसी भी प्रकार की सफलता का अर्थ है सत्ता। विफलता का अर्थ है सत्ता से वंचित होना। वस्तुतः सत्ता प्राप्त करना या सफलता प्राप्त करना किसीका गुलाम बन जाना है। ऐसे गुलामी का मतलब है सच्चे सद्गुणों से वंचित होना। सद्गुण से मनुष्य को स्वातंत्र्य प्राप्त कराता है, लेकिन सद्गुण कोई प्रयत्नसाध्य वस्तु नहीं है। व्यक्ति हो या समूह, उसकी कोई कृति या उपलब्धि सत्ता प्राप्त करने का साधन बनती है। इसलिए आत्मसंयमन या आत्मत्याग के कारण जो सत्ता प्राप्त होती है, उसे टालना चाहिए। इसी प्रकार किसी भी क्षेत्र की लौकिक सफलता को सावधानीपूर्वक टालना चाहिए। क्योंकि, इन दोनों के कारण विवेक विकृत हो जाता है। सफलता की अभिलाषा ही सहज नम्रता में प्रतिबन्धक साबित होती है। और, विनम्रता के बिना विवेक कहाँ रहेगा। सफल और यशस्वी मनुष्य कठोर बन जाता है। अपने चारों ओर वह एक बाड़ लगा लेता है। अपने बड़प्पन, अपनी जबाबदारियों, अपनी उप-

लब्धियों और अपनी स्मृतियों से वह दबा रहता हैं। अपने से स्वीकार की हुई इन जवाबदारियों से और उपलब्धियों के भार से मनुष्य का मन पूर्ण मुक्त हो जाना चाहिए। क्योंकि जो भार से झुक जाता है, जड़ हो जाता है वह चपल और तरल रह ही नहीं सकता। और, विवेक के लिए तो अति तरल, लचीला तथा मृदु, संवेदन-क्षम मन ही आवश्यक है। सफल व्यक्ति सदयता से दूर होते हैं। क्योंकि, जीवन की सौन्दर्य-सर्वस्व जो प्रीति है, उसकी अनुभूति में वे अक्षम रहते हैं।

सफलता की अभिलाषा स्वामित्व प्राप्त करने की अभिलाषा है। स्वामित्व प्राप्त करने का अर्थ है आधिपत्य और उसका मतलब है अपने को जीवन से तोड़कर अकेलापन स्वीकारना। हममें से बहुत लोगों को ऐसा ही आत्मसन्तुष्ट अकेलापन अच्छा लगता है। नाम के द्वारा, रिश्तों के द्वारा, कार्यों के द्वारा अथवा विचार कल्पनादि के द्वारा हम यही आत्मसन्तुष्ट अकेलापन प्राप्त करते हैं। अपने चारों ओर बाड़ डालकर पोषित किये हुए इस टूटेपन में अथवा अकेलेपन में सत्ताकांक्षा से निर्माण होनेवाली एक प्रकार की सामर्थ्य होती है। लेकिन इस सामर्थ्य के कारण वैरभाव और दुःख ही उत्पन्न होते रहते हैं। क्योंकि ऐसा स्वपरिवेष्ठित टूटापन भय के कारण ही उत्पन्न होता है और वह मनुष्य में निहित सुसंवाद को सतत नष्ट करता रहता है। मनुष्यों में परस्पर सुसंवाद के रहने का मतलब है निर्मल स्वरूप का नाता बना रहना। ये नाते कैसे ही सुखद या दुःखद हों इनमें आत्मविस्मरण की शक्यता रहती है। इसके विपरीत, स्वपरिवेष्ठित टूटापन अहंता को पोसने का ही मार्ग है और उसीमें से विरोध और दुःख उत्पन्न होता है।

३४. सद्भाविता

सिंचित हरियाली का वह टुकड़ा छोटा-सा ही था। लेकिन उसके चारों ओर सुन्दर, तरोताजा फूलों की क्यारियों की मोहक कतारें थीं। हरियाली और क्यारियों की सार-सँभाल विशेष सावधानी से की जाती थी, यह सहज ही दिखाई देता था। क्योंकि हरियाली को सुखाने की और फूलों को म्लान कर डालने की पराकाष्ठा सूर्यनारायण सतत कर ही रहा था। इस रमणीय बाग के उस पार कुछ घर थे और उनके भी आगे सूर्यप्रकाश में चमकनेवाला नीला-नीला सागर फैला हुआ था। दूर पर एक नाव का सफेद पाल दीख रहा था। कमरे में से वह बाग, उसके आगे के वे घर और वृक्षों के ऊँचे-ऊँचे अग्रभाग सहज ही दिखाई दे रहे थे। इस कमरे की खिड़की में से उषःकालीन और सायंकालीन सागर का लुभावना दर्शन होता था। दिन में समुद्र का पानी चमचमाता रहता था। उसमें उसको कठोरता भी दीखती

थी। फिर भी भर दोपहरी में भी एकाध नाव का पाल पानी पर दीख ही जाता था। संध्या को जब सूर्य समुद्र में डूब जाता, तब लहरों पर चमचमाते ताँबे के रंग की पट्टी झलकती रहती। हाँ, बाद में संधि-प्रकाश रहता नहीं था। सायंतारा कुछ देर क्षितिज पर चमककर अस्त हो जाता और फिर नाजुक चन्द रेखा संध्या की साम्राज्ञी बनती। लेकिन वह भी शीघ्र ही उस अखण्ड उछलते समुद्र में डूबकर समाप्त हो जाती और तब सागर पर अन्धकार का साम्राज्य छा जाता।

वह व्यक्ति बहुत देर तक ईश्वर के सम्बन्ध में बोलता रहा। वह अपनी सुबह-शाम की प्रार्थना, उपवास, विविध व्रत और अपनी उत्कट अभिलाषा के बारे में भी बहुत कुछ कहता रहा। अपने विचार वह अतिशय स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर रहा था। समुचित शब्दों की उसे बिलकुल कमी नहीं पड़ रही थी। उसके मन को उत्कृष्ट मोड़ मिला था। उसके व्यवसाय के लिए यह आवश्यक भी था। उसकी आँखें तेजस्वी थीं और मन प्रखर। लेकिन उसमें एक प्रकार का ठप्पापन दिखाई दे रहा था। अपने साध्य और अपने हेतु के विषय में उसका अत्याग्रहीपन तथा उसमें लचीलेपन तथा उन्मुक्तता का अभाव उसके शरीर की अकड़ से स्पष्ट व्यक्त हो रहा था। उसका सारा जीवन विलक्षण ढंग की इच्छा-शक्ति से प्रभावित था। इस कारण उसकी मुसकराहट में यद्यपि सहजता दीखती थी, तो भी उसकी इच्छाशक्ति का प्रभावपूर्ण वर्चस्व उसके सारे व्यापारों पर स्पष्ट था। अपने दैनन्दिन जीवन में वह अतिशय नियमित था और इच्छा-शक्ति की मान्यता मिलने पर ही वह अपनी निश्चित आदत का उल्लंघन करता था। वह कहता था कि 'इच्छा-शक्ति के बिना सद्गुणों का रक्षण हो ही नहीं सकेगा, दुर्गुण और पाप का नाश करने के लिए इच्छा-शक्ति आवश्यक है, शिव और अशिव के बीच संग्राम निरन्तर चलते ही रहनेवाला हैं, और केवल इच्छा-शक्ति के कारण ही अशिव अथवा पाप थोपा जाता है।' उसके स्वभाव में सौम्यता भी थी। क्योंकि, जब-जब वह उस सुन्दर हरियाली और उन ताजा फूलों की ओर नजर डालता था, तब-तब उसके चेहरे पर आनन्दपूर्ण मुस्कान फैल जाती थी। फिर भी अपनी इच्छा-शक्ति से उसने जो विशिष्ट जीवन-पद्धति तय कर ली थी, उसके आगे वह अपने मन को क्षणभर भी फटकने नहीं देता था। उसने बोलचाल में कठोर शब्दों का उपयोग प्रयत्नपूर्वक टाला था, क्रोध या उतावलेपन को जरा भी पैदा नहीं होने दिया था, तो भी उसकी विलक्षण इच्छा-शक्ति ने उसमें एक प्रकार की विचित्र कठोरता पैदा कर दी थी। उसकी इच्छा-शक्ति द्वारा निश्चित जीवन-पद्धति में सौन्दर्य का जो-जो आविष्कार सहज समाविष्ट हो सकता था, उसी-को वह स्वीकार करता था। लेकिन उसमें भी वासनाधीन होने का भय उसे लगता ही था और इस वासनाधीनता को मर्यादा में रखने का वह अहर्निश प्रयत्न करता

था। उसमें जैसी अध्ययनशीलता थी, वैसी ही नागरिक शिष्टता भी थी और उसकी इच्छा-शक्ति उसकी पीठ से छाया की तरह सटकर खड़ी थी।

सद्भावी होने में सादगी या सहजता रह नहीं सकती। सद्भाविता इच्छा को जन्म देती है। किन्तु अहं के विविध व्यापारों के आवरणों को दूर करने में इच्छा का कोई उपयोग नहीं है। इच्छा की सहायता से आत्मज्ञान सम्भव नहीं। बल्कि जो जीवन-व्यापार सतत जारी रहता है, उसके सम्बन्ध में मन की जो प्रतिक्रियाएँ क्षण-क्षण में होती रहती हैं, उनका अवधानपूर्वक अवलोकन करते रहें तभी आत्मज्ञान सम्भव होता है लेकिन मन को ये जो सहज प्रतिक्रियायें होती हैं, और जिनके अवलोकन के कारण ही अहंकेन्द्रित व्यापारों की रचना का स्वरूप समझना संभव है, उन प्रतिक्रियाओं का अवरोध यह इच्छा-शक्ति कर डालती है। फिर इच्छा-शक्ति ही वासना का सार-सर्वस्व होती है। इसीलिए वासना का स्वरूप समझने के मार्ग में इच्छा-शक्ति सदैव बाधक साबित होती है। इच्छा-शक्ति, मन के ऊपरी उथले स्तर की हो या गहरे जमकर बैठी हुई वासनाओं के स्तर पर हो, वह कभी भी अकरणशील नहीं रहती, और सत्य का दर्शन तो अकरणशील, तरल और सावधान निस्तब्धता में ही संभव है। वासनाएँ उच्च या निम्न किसी भी स्तर की हों, उनमें संघर्ष निरन्तर होता ही रहता है। अन्य सभी अभिलाषाओं के विरोध में एक ही वासना या अभिलाषा को बढ़ाते रहने से केवल प्रतिकार-शक्ति का ही वर्धन होता रहता है। यह प्रतिकार-शक्ति ही इच्छा-शक्ति है। ऐसी प्रतिकार-शक्ति द्वारा सत्यदर्शन कभी नहीं होता। इसलिए वास्तव में महत्त्व की बात अभिलाषा या वासना के स्वरूप को समझना है। एक अभिलाषा को दबाकर उसके स्थान पर दूसरी अभिलाषा प्रस्थापित करने में कोई अर्थ नहीं है।

कुछ-न-कुछ प्राप्त करने की, कुछ-न-कुछ साध्य करने की अभिलाषा ही सद्भाविता का मूल है। अभिलाषा की प्रेरणा उथली हो या गहरी, उसके कारण चालू समाज-पद्धति से मेल बैठाने की ही वृत्ति होती है। मेल बैठाने की इस वृत्ति में से ही भय का जन्म होता है और यह भय गतानुभूति की कक्षा में ही आत्मज्ञान को मर्यादित करना चाहता है। इसलिए इस मार्ग से जाने पर पूर्वानुभूति के आगे जाने की सम्भावना ही मनुष्य में नहीं रह जाती। इस प्रकार एक बार आत्मज्ञान गतानुभूति में ही मर्यादित होकर बैठ गया कि अहं का अपने विषय का बोध ही अधिकाधिक विस्तृत और गहरा बनता जाता है। फिर भिन्न-भिन्न स्तरों पर और भिन्न-भिन्न कालखण्डों में 'अहं' का ही अधिकाधिक विस्तार होता रहता है। इसीलिए मानवीय जीवन में संघर्ष और दुःख भी अविरत जारी रहते हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य जान-बूझकर किसी कार्य में अपने को भूल जाना चाहता है। तब मनुष्य अपने को बाग-बगीचे की

सार-सँभाल में, किसी विचार-धारा के अध्ययन में अथवा प्रचार में या किसी राष्ट्र के सम्पूर्ण जनसमूह में, युद्धोन्मुखता की उत्कट ईर्ष्या निर्माण करने में झोंक देना चाहता है। लेकिन इस प्रक्रिया से मनुष्य उस-उस राष्ट्र के, वैचारिकता के, देवता के अथवा कार्य के स्थान पर वस्तुतः अहं की ही प्रतिष्ठापना करता रहता है। इस तरह एकाध बात से वह जितनी उत्कटता से एकरूपता साधता है, उतने ही प्रमाण में उसका आँतरिक संघर्ष और दुःख भी ढँक जाता है। ऐसे आवरण के लिए ही किसी-न-किसीसे एकरूप होने का मनुष्य का अविरत प्रयत्न चलता है। किसी विशिष्ट बात से एकरूप होने की इस अभिलाषा के कारण हो सद्भाविता में अन्तर्गत संघर्ष आरम्भ होता है। फिर वहाँ सादगी, सहजता रह ही नहीं सकती। फिर आप चाहे तो माथे पर भस्म के पट्टे लगायें, सादे वस्त्र पहनें अथवा भिक्षापात्र लेकर घूमते रहें, आपकी इन बातों को सादगी नहीं कहा जायगा।

सद्भाविता और सादगी कभी एकत्र नहीं रह सकतीं। जो मनुष्य किसी भी स्तर के साध्य के साथ एक बार एकरूप हो जाता है, उसकी वृत्ति सद्भाविता की हो सकती है। लेकिन सद्भाविता सादगी नहीं है। क्योंकि कुछ विशेष होने की उत्कट अभिलाषा सादगी के लिए पूरी विरोधक होती है। कुछ-न-कुछ प्राप्त करने की अभिलाषा के आवेग से जब पूर्ण विमुक्तता प्राप्त होती है, तभी सादगी सहज साकार बनती है। कुछ सम्पादित करने की वृत्ति किसीसे एकरूप होने की ही वृत्ति है। यही इच्छा-शक्ति है। इसके विपरीत, जब अहं अथवा अनुभविता अनुभूति का आलेखन नहीं करता, जहाँ तरल और अकरणात्मक सावधानता सहज रूप से विचरती है, वहीं सादगी होती है। आत्मविश्लेषण करते रहने से इस अकरणात्मक सावधानता के लिए प्रतिवन्ध ही निर्माण होता रहता है। क्योंकि, विश्लेषण करने के पीछे कुछ प्राप्त करने का, ज्ञान प्राप्त करने का अथवा किसीसे मुक्तता प्राप्त करने का कोई-न-कोई हेतु रहता है और इस हेतु के कारण अहं के बोध की या आत्मचेतना की ही अधिकाधिक पुष्टि होती है। इसी प्रकार इस अंतर्मुखता से जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं, उनके कारण आत्मज्ञान में अवरोध ही होता रहता है। ❁

३५. पूर्ति

उसका विवाह हो गया था, लेकिन बाल-बच्चे नहीं थे। सामान्य सांसारिक दृष्टि से वह सुखी थी। आर्थिक कठिनाई बिलकुल नहीं थी। उसके पास मोटर कारें थीं, चाहे जैसे प्रवास की और होटलों में ठहरने आदि की सारी उत्कृष्ट सुख-सुविधाएँ उसके आगे हाथ जोड़कर खड़ी थीं। उसका पति एक सफल व्यवसायी था। वह

अपनी पत्नी की प्रत्येक इच्छा पूरी करने में, उसको सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ देने में और उसे सुन्दर वस्त्राभूषणों से सजाने में पर्याप्त दिलचस्प रखता था। दोनों तरुण थे और उनका आपसी वर्ताव भी खूब हेलमेल का था। उस महिला की विज्ञान और कला में रुचि थी। धार्मिक क्षेत्र में भी उसने पर्याप्त कार्य किया था। लेकिन अब आध्यात्मिक प्रेरणा के कारण उसकी पहले की सारी रुचियाँ फीकी पड़ गयी थीं। विभिन्न धर्मों के तत्त्वों से वह भलीभाँति परिचित थी। लेकिन प्रत्येक धर्मसंस्था में सुसंगठितपन के कारण आनेवाली कार्यक्षमता, उनकी निश्चित पूजा-प्रार्थना आदि की विधियाँ और उनके बँधे-बँधाये सिद्धान्त—इन सबके प्रति उसके मन में अब अजीब असमाधान पैदा हो गया था। सत्य की खोज करने की उत्कटता अब उसमें तीव्र हो उठी थी। उसका असमाधान अब चोटी पर पहुँच गया था। इसलिए जगत् में जगह-जगह बसे हुए आध्यात्मिक क्षेत्र के गुरुजनों के पास वह हो आयी थी, लेकिन कोई भी उसे स्थायी समाधान नहीं दे सका था। वह कहती थी कि उसका यह असमाधान इसलिए नहीं है कि उसको संतति नहीं है। उसने अपनी इस मानसिक समस्या का पूरा-पूरा पता लगाकर देख लिया है। उसका यह असमाधान किसी भी सामाजिक विफलता से भी उत्पन्न नहीं हुआ है, ऐसा उसे भरोसा हो गया है। एक प्रतिष्ठित मनोविश्लेषणशास्त्री से उसने अपनी जाँच भी करा ली है। फिर भी उसकी यह आन्तरिक रिक्तता और वेदना अब तक कायम ही है।

सफलता अथवा पूर्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करना विफलता को निमंत्रण देना है। आत्म-सफलता जैसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है। क्योंकि, अहं को जिस-जिस बात की अभिलाषा होती है, वह चीज प्राप्त होने पर अहंभाव अधिकाधिक परिपुष्ट होता है और सदा अतृप्त ही बना रहता है। अहं को किसी भी स्तर की वस्तु प्राप्त हो, उस प्राप्ति के कारण वह अधिकाधिक सामर्थ्यशाली, अधिक समृद्ध और अधिक कर्म-प्रवण बनता है और फिर अहं की इन संवेदनाओं को ही तृप्तता, पूर्तता और साफल्य नाम दिया जाता है। लेकिन अन्य संवेदनाओं की तरह ये संवेदनाएँ भी जल्दी ही मंद पड़ जाती हैं और उनके स्थान पर दूसरे प्रकार की साफल्य-संवेदनाओं की प्रतिष्ठापना होती है। नवी-नयी संवेदनाओं की प्रतिष्ठापना की इस प्रक्रिया का हम सबको पूरा परिचय रहता है। इस खेल पर ही हममें से बहुत से लोग सन्तुष्ट रहते हैं। कुछ लोगों को इससे अधिक टिकाऊ और उम्रभर टिकनेवाली तृप्ति की अभिलाषा होती है। एक बार ऐसी पूर्ति हो जाने पर यह भावना फिर कभी विचलित नहीं होगी, इस आशा में वे जीते रहते हैं। किन्तु इस साफल्यभावना के विचलित होने का भय अविरत रूप से, अनजान में कायम ही रहता है। इस भय का प्रतिकार करने के लिए नाना सूक्ष्म प्रतिकार-प्रकार मन गढ़ता रहता है और इन प्रकारों का आश्रय लेकर मन अपने को सुरक्षित रखना चाहता है। इसी कारण

मरण का भय अपरिहार्य रूप से मन में घर करता रहता है । साफल्यभावना और मृत्यु का भय, दोनों एक ही मानसिक प्रक्रिया के दो पहलू हैं। यह अहं के पुष्टिकरण की ही प्रक्रिया है। वस्तुतः साफल्य प्राप्त करना याने किसीसे सम्पूर्ण रूप से एकरूप होना ही है। फिर यह एकरूपता अपने बाल-बच्चों से हो, धन-सम्पत्ति से हो अथवा सम्पादित वस्तु से हो या किसी विचारधारा से हो। सन्तति से या सम्पत्ति से एकरूप होना प्रायः धोखे का साबित होता है। लेकिन विचारों से या कल्पनाओं से एकरूप होने में अधिक सुरक्षितता रहती है। एक बार यह एकरूपता सध जाने पर कल्पना, स्मृति और सँवेदना का आविष्कार करनेवाले जो-जो शब्द है, उनको महत्ता प्राप्त होती है। और फिर सफलता अथवा पूर्ति केवल एक शब्द ही बन बैठता है।

वस्तुतः आत्मसाफल्य नामक वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है। अस्तित्व होता है उसका जो आत्मसात् होता है, आत्मसाफल्य का नहीं। इस तरह से होनेवाले अहं के इस सातत्यीकरण में से अधिकाधिक संघर्ष की, वैरभाव की और दुःखों की ही शृंखला पैदा होती है। इसलिए अपने अस्तित्व के किसी भी स्तर पर शाश्वत समाधान प्राप्त करने की अभिलाषा रखना सम्भ्रम और दुःख को ही आमंत्रण देना है। क्योंकि, साफल्य का सन्तोष कभी शाश्वत हो नहीं सकता। संतुष्टि देनेवाले एकाध अनुभव की स्मृति अंतःकरण में विचर सकती है। लेकिन यहाँ अनुभव मृत हो चुका होता है और उसकी स्मृति ही शेष रह जाती है। उस स्मृति में सजीवता नहीं होती; किन्तु वर्तमान के आह्वान को हम पूरा-पूरा प्रत्युत्तर नहीं देते, इस कारण हम भी उस मृत स्मृति में प्राण भरते रहते हैं। इस प्रकार दूसरों की तरह हम भी मृत अनुभवों के प्रेतों से चिपक कर जीते रहते हैं। वास्तव में अहं के व्यापार कैसे चलते हैं, इस विषय के अज्ञान के कारण ही हमारा मन सम्भ्रम में उलझा रहता है और एक बार सम्भ्रम के जाल में फँस गया कि फिर उसमें से निकलना कठिन हो जाता है। सम्भ्रम कौन-सा है, यह पहचानना कठिन है। चूँकि हमारा मन ही सम्भ्रम निर्माण करता है, इसलिए मन को उसकी जानकारी होना सम्भव ही नहीं है। संभ्रम का ज्ञान अप्रत्यक्ष और नकारात्मक रूप से कर लेना चाहिए। हमारी अभिलाषाओं का व्यापार कैसे चलता है, यह जब तक हम नहीं जान लेते, तब तक सम्भ्रम का निर्माण होते रहना अपरिहार्य है। इच्छा-शक्ति की मदद से सत्यदर्शन सम्भव नहीं। मन जब पूर्णतः निस्तब्ध और शांत हो जाता है, तभी सत्यदर्शन होता है। लेकिन मन को खास तौर से निस्तब्ध कर पाना भी सम्भव नहीं। क्योंकि, यह कर्ता मन द्वारा ही स्वतः निर्माण किया हुआ और अभिलाषा द्वारा गढ़ा हुआ होता है। मन की इस सम्पूर्ण प्रक्रिया का रुचि-अरुचि-

रहित अवधान रहना चाहिए। ऐसा अवधान रहने पर ही संभ्रम का निर्माण बन्द हो सकता है। लेकिन संभ्रम ही हमें अत्यन्त सुखद प्रतीत होता है। इसीलिए हम उससे सतत चिपके रहते हैं। यह संभ्रम कभी-कभी दुःख के लिए भी कारणीभूत हो जाता है। लेकिन इस दु ख के कारण ही हमें अपनी अपूर्णता खलती रहती है और फिर यह दुःख ही संभ्रम से सम्पूर्ण रूप से एकरूप होने के लिए हमें बाध्य करता है। इस तरह संभ्रमों को हमारे जीवन में अद्‌भुत महत्त्व प्राप्त हो जाता है। क्योंकि, वस्तुस्थिति जैसी है उसका वैसा ही भान न हो, इसलिए संभ्रम उस पर परदा डालता रहता है और यह काम वह बाहर से नहीं, भीतर से करता रहता है। जो 'वस्तुस्थिति' है, उसका संभ्रम के कारण होनेवाला यह आंतरिक विकृतीकरण ही वस्तुस्थिति के बाह्य विकृतीकरण में कारणीभूत होता है और यह सर्वनाश और आपत्ति बुलाता रहता है। वस्तुस्थिति पर परदा डालने की जो कृति मनुष्य की ओर से होती रहती है, वह भय के कारण ही होती है। यह भय इच्छा-शक्ति की सहायता से कभी नष्ट नहीं हो सकता। क्योंकि, संभ्रम के कारण ही वस्तुस्थिति का जो प्रतिकार सतत होता रहता है, उसीमें से इच्छा-शक्ति का जन्म होता है। केवल निवृत्तिशील, किन्तु तरल सावधानता से ही इस भय से मनुष्य को मुक्ति प्राप्त होती है।

३६. शब्द

उस व्यक्ति ने बहुत-कुछ पढ़ा था। आर्थिक दृष्टि से भले ही वह गरीब था, लेकिन ज्ञान से तो वह अपने को धनी समझता था। इस कल्पना से उसे एक प्रकार की प्रसन्नता भी होती थी। पुस्तकों की संगति में वह अपना काफी समय बिताता था। उसके अतिरिक्त अपना बहुत-सा समय वह एकांत में बिताता था। उसकी पत्नी का देहान्त हो गया था और अपने दो बच्चों को उसने रिश्तेदार के यहाँ छोड़ दिया था। नाते-रिश्तेदारी के झमेले से अब मुक्ति मिल गयी है, इससे भी वह प्रसन्न था। वह स्वावलम्बी और आत्मसन्तुष्ट था और अपने विचार के बारे में उसका आग्रह सौम्य ढंग का था। ध्यान-धारणा के बारे में चर्चा करने के लिए वह काफी लम्बा प्रवास करके आया था। वह यह जानने आया था कि क्या विशिष्ट मन्त्रों का और सिद्धवचनों का जप करने से ध्यान-धारणा में मदद मिलती है। वह कह रहा था कि 'मन्त्रों का और सिद्ध शब्दों का सतत जप करते रहने से मन को शान्ति प्राप्त होती है, इन निरे शब्दों में भी एक विलक्षण जादू होता है, लेकिन इन शब्दों का उच्चारण अतिशय स्पष्ट और विशिष्ट तालबद्ध स्वर में ही होना चाहिए। ये

मन्त्र पुरातन काल से चलते आये हैं। इन मन्त्रों के शब्दों के सौन्दर्य और तालबद्ध स्वरोच्चारण के कारण ध्यान-धारणा के लिए अत्यन्त अनुकूल वातावरण निर्माण होता है।' कहते-कहते उसने मन्त्र-गान प्रारम्भ ही कर दिया। उसकी आवाज में मिठास थी और मन्त्रों के शब्दों तथा उनके अर्थों पर नितान्त प्रेम के कारण उस मिठास में एक प्रकार की आभिजात्य सौम्यता भी आ गयी थी। दीर्घकालीन स्वर-साधना तथा भक्ति-भावना के कारण उसके मन्त्र-गान में सहजता आ गयी थी। मंत्र-गान प्रारम्भ होते ही वह आसपास के सारे जगत् को भूल गया।

खेत के उस पार से बाँसुरी का स्वर सुनाई पड़ रहा था। हाँ, बाँसुरी कुछ रुक-रुककर और अटक-अटककर बजायी जा रही थी। लेकिन कानों में पड़नेवाला स्वर स्पष्ट और शुद्ध था। बाँसुरी-वादक एक बड़े वृक्ष की घनी छाया में बैठा था। उससे आगे दूर पर पर्वत की शृंखला दिखाई पड़ रही थी। वह निस्तब्ध पर्वत, वह मधुर मंत्रोच्चारण और वह बाँसुरी का शुद्ध स्वर—सबका मधुर मिलन हो रहा है और यह मिलन तिरोभूत होकर पुनः आविर्भूत हो रहा है, ऐसा महसूस हो रहा था। इतने में जोर का कलरव करते हुए तोतों का एक दल झलक दे गया और फिर बाँसुरी का स्वर और गम्भीर, सामर्थ्यशाली मंत्र-गान की स्वर-लहरी वातावरण में लहराती रही। यह प्रातःकाल की वेला थी और सूर्य पेड़ों के सिरों पर आ गया था। गाँव के लोग हँसते-हँसते, गप-शप करते हुए शहर की ओर जा रहे थे। वह 'बाँसुरी-वादन और वह मंत्र-गान प्रफुल्ल कर देनेवाला था। इस कारण रास्ते से गुजरनेवाले कुछ लोग सुनने के लिए कुछ देर रुक गये और सबेरे के उस ताजा सौन्दर्य में एकदम तन्मय हो गये। दूर पर जाती रेलगाड़ी की सीटी से भी वे विच-लित नहीं हुए। मानो सारी भिन्न-भिन्न ध्वनियाँ एक-दूसरे में मिलकर सारी पृथ्वी के वातावरण को सराबोर कर रही थीं। एक कौए की जोरदार काँव-काँव भी कर्कश नहीं लग रही थी।

शब्दों का ध्वनि-माधुर्य हमें कितने आश्चर्यजनक ढंग से तन्मय कर डालता है! राष्ट्र, ईश्वर, धर्म-गुरु, जनतंत्र और क्रान्ति जैसे शब्दों को भी हमारे जीवन में कितना माहात्म्य प्राप्त हो जाता है! शब्दों पर ही हम जीते हैं और शब्द जो सुखद संवेदनाएँ हमारे मन में निर्माण करते रहते हैं, उनसे हम हर्षित हो जाते हैं। केवल इन्हीं संवेदनाओं का महत्त्व हमें महसूस होता रहता है। शब्दों के उच्चारण के कारण विस्मृत सुख-संवेदनाएँ पुनः जागृत होती हैं, इसीलिए शब्द हमें इतने सन्तोषप्रद लगते हैं। जो प्रत्यक्ष है, उसके स्थान पर शब्दों की प्रतिष्ठापना होने पर वे शब्द अधिक ही समाधानकारक लगने लगते हैं। हम अपनी आंतरिक रिक्तता शब्दों से, ध्वनियों से और कृतियों से भरने का प्रयत्न करते रहते हैं। अपने क्षुद्र और नीरस

जीवन से और स्वयं अपने से छूटने के लिए हम संगीत, मंत्रपाठ और भजन आदि सुखप्रद साधनों का सहारा लेते हैं। हमारे पुस्तकालय शब्दों से ही भरे होते हैं और हमारे मुख से भी शब्द ही बराबर बाहर निकलते रहते हैं। एकाध पुस्तक हाथ में लिये बिना रहने की, कुछ भी न करते हुए रहने की अथवा अकेले रहने की हमारी हिम्मत ही नहीं होती। क्योंकि हम अकेले रहते हैं तो हमारा मन अतिशय चंचल हो जाता है, वह लगातार कहीं न कहीं भटकता रहता है, कहाँ-कहाँ की स्मृतियों को कुरेदने लगता है और निरन्तर दौड़-धूप करता रहता है। अतः वास्तविक अकेलापन कभी रहता नहीं, मन कभी निस्तब्ध होता नहीं।

स्पष्ट है कि यदि हमें मन को निस्तब्ध बनाना हो तो किसी शब्द के, मंत्र के अथवा भजन-प्रार्थना के सतत पुनरुच्चारण से कुछ समय के लिए उसे निस्तब्ध बना सकते हैं। इन चीजों की मदद से, मादक द्रव्यों के नशे की तरह मन को बेसुध किया जा सकता है, सुलाया जा सकता है, सौम्य या उग्र उपायों से उसे पूरी तरह निद्राधीन किया जा सकता है। इस निद्रावस्था में स्वप्न आते रहेंगे। लेकिन इस प्रकार कठोर अनुशासन से, कर्मकाण्ड से अथवा मंत्रपाठ से जिस मन को विशेष तौर पर निस्तब्ध बनाया जाता है, वह मन सावधान, संवेदनक्षम और मुक्त हो ही नहीं सकता। मन को सौम्य अथवा कठोर उपायों से दबा देना ध्यान नहीं है। यह सही है कि मंत्रगान सुखद लगता है और जो उत्तम रीति से मंत्रगान करता है, उसका श्रवण सुखद भी लगता है। लेकिन इस तरीके से तो अधिकाधिक संवेदना ही निर्माण होती रहती है। और संवेदनाओं की परिणति हमेशा सम्भ्रम में ही होती रहती है। हममें से अधिकांश लोगों को भ्रम में और आभास में जीना ही अच्छा लगता है। अधिकाधिक गहन और अधिकाधिक विशाल भ्रम के प्रकार खोजते रहने में हमें आनन्द आता है। यह भ्रम मिटेगा या नहीं, इसका भय भी हमें लगता है। इसीलिए जो वास्तविक है, जो सत्य है, उसे ढँकने का अथवा उसके अस्तित्व से इनकार करने का हम प्रयत्न करते रहते हैं। ऐसा नहीं है कि जो 'वास्तविक' है उसे समझने में हम असमर्थ हैं। लेकिन वास्तविकता के अस्तित्व से हम इनकार करते रहते हैं और भ्रम से ही चिपके रहते हैं। इसीलिए हमें सतत भय लगता रहता है। लेकिन इस तरह भ्रम के कर्दम में अधिकाधिक गहरे डूबे रहना ध्यान नहीं है अथवा जिस पिंजरे में हम फँस गये हैं, उसे सजाते बैठना भी ध्यान नहीं है। सच्चे ध्यान का प्रारम्भ तो तब होता है जब सतत भ्रम निर्माण करते रहनेवाले अपने मन के व्यापारों की ओर रुचि-अरुचिरहित सावधानी से देखते रहा जाय।

यह बड़ी भद्दी बात है कि सही वस्तु के बदले भ्रमात्मक वस्तु कैसे इतनी सहजता से हमारे गले उतरती है और उससे हमें संतुष्टि कैसे महसूस होती है! प्रतीक,

शब्द, प्रतिमा—इन्हींको हमारे जीवन में सर्वंकष माहात्म्य प्राप्त होता है। इन प्रतीकों के चारों ओर हम आत्मवंचना की इमारत खड़ी करते रहते हैं, अपने ज्ञान की मदद से उसे शक्तिशाली बनाते रहते हैं और इस तरह हमारा अनुभव सत्यदर्शन में प्रतिबन्धक होता रहता है। हम वस्तुओं का जो नामकरण करते रहते हैं, वह केवल इसीलिए नहीं करते कि आपस में उसका आशय मालूम हो, वल्कि इसलिए करते हैं कि गत-अनुभूतियों को सामर्थ्य प्राप्त हो। अनुभूतियों को इस तरह बलशाली करना अपने अहंकेन्द्रित बोध को पुष्ट करना है। इस प्रक्रिया में एक बार मन जमकर बैठ गया कि फिर अहंकेन्द्रितता के आगे जाना अत्यन्त कठिन हो जाता है। इसलिए बीते कल की अनुभूतियों की और आज की संवेदनाओं की हमारे जीवन में मृत्यु हो जाना आवश्यक है। अन्यथा केवल निर्जीव पुनरावृत्ति ही जीवन में शेष रह जायगी। किसी शब्द की, कृति की अथवा विधि की पुनरावृत्ति करते रहना एक प्रकार का निरर्थक अभिनिवेश है। पुनरावृति में नवसर्ज़न सम्भव ही नहीं है। अनुभूति का मरण ही नवसर्जन है। ●

३७. कल्पना और वास्तविकता

उसके विवाह के अनेक वर्ष हो गये थे, लेकिन उसे बाल-बच्चे नहीं थे। बच्चे होना सम्भव भी नहीं था। इस नैसर्गिक असमर्थता के कारण उसका मन व्यथित था। वह समझ नहीं पा रही थी कि जब उसकी बहन को बच्चे हो गये हैं तो उसे ही सन्तति-विहीनता का शाप क्यों भुगतना पड़ रहा है। उसका विवाह तत्कालीन रूढ़ि के अनुसार छोटी उम्र में हो गया था। जीवन में उसने अनेक दुःख देखे थे; और सौम्य, शान्त आनन्द के क्षण भी अनुभव किये थे। उसका पति सरकारी महकमे में अथवा किसी बड़ी कम्पनी में एक अधिकारी था। पहले उसे भी अपनी संततिहीनता पर खेद होता था, लेकिन अब इस वस्तुस्थिति को स्वीकार करते के लिए उसने अपने मन को तैयार कर लिया था। उस स्त्रो ने यह भी बताया कि उसका पति निरन्तर काम में व्यस्त रहता है। उसका अपने पति के ऊपर बहुत आग्रही ढंग का भले ही न हो, फिर भी काफी प्रभाव था। उसने अपना सारा भार उस पर डाल दिया था। प्रभाव डालने के सिवा उस स्त्री के पास कोई चारा नहीं था। बाल-बच्चे न होने से अपने जीवन की पूर्ति वह उसीके द्वारा करना चाहती थी। लेकिन इस बारे में उसके पल्ले निराशा ही पड़ी थी। क्योंकि, उसके पति में दुर्बलता होने से उसीको गृहस्थी का सारा बोझ वहन करना पड़ रहा था। अपने दफ्तर में तो वह दूसरों की छोटी-छोटी त्रुटियाँ तक सहन नहीं करता और कड़ाई से पेश आता है और किसी तानाशाह की

तरह सब पर अपना रोब गाँठता है, लेकिन घर में वह शान्त और मन्दगामी रहता है, ऐसा कहते समय उसके चेहरे पर मुसकराहट झलक रही थी। अपने पति के जीवन को एक विशिष्ट साँचे में बैठाने की उसकी कामना थी और इस दृष्टि से उसके जीवन को मोड़ देने का वह सौम्य रीति से, लेकिन निश्चयात्मकता से प्रयत्न कर रही थी। किन्तु वह उसकी इस अपेक्षा के पास तक नहीं फटकता था। फिर भी पति के अलावा उसके लिए दूसरा आश्रय-स्थान नहीं था और प्रेम करने के लिए भी कोई दूसरा नहीं था।

प्रत्यक्ष वस्तुस्थिति की अपेक्षा हमें कल्पना ही अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है। हम प्रत्यक्ष कैसे हैं, इसकी अपेक्षा हमें कैसा होना चाहिए, इसीका हमें माहात्म्य प्रतीत होता है। हमें वर्तमान की अपेक्षा भविष्य हीं अधिक महत्वपूर्ण और आकर्षक प्रतीत होता है। प्रत्यक्ष की अपेक्षा प्रतिमा या प्रतीक का ही अधिक मूल्य महसूस होता है। इसीलिए वस्तुस्थिति के स्थान पर हम कल्पना की अथवा आकर्षक आदर्श की प्रतिष्ठापना करते रहते हैं। इस प्रकार जो 'है' और लगता है कि जो 'होना चाहिए', इन दोनों में हम परस्पर-विरोध पैदा करते रहते हैं। ऐसा लगता है कि जो होना चाहिए, वह वास्तव में केवल कल्पना ही होती है, असद्वस्तु होती है। इस तरह वास्तविकता और कल्पना, दोनों में संघर्ष शुरू होता है। नहीं, उन दोनों में नहीं होता, हमारे अन्तः-करण में होता है। क्योंकि, हमें वास्तविकता की अपेक्षा कल्पना यानी भ्रम ही अधिक प्रिय लगता है। कल्पना हमें अधिक आकर्षक और अधिक संतोषप्रद लगती है। इसलिए हम उससे चिपके रहते हैं। इस तरह भ्रम अर्थात् असद्वस्तु ही हमारी दृष्टि में सद्वस्तु बन बैठती है। फिर तथाकथित सद्वस्तु और तथाकथित असद्वस्तु के संघर्ष में हम फँस जाते हैं।

इस प्रकार जान या अनजान में, हम वास्तविकता को एक ओर रखकर, भला कल्पना से ही क्यों चिपक जाते हैं? वस्तुतः यह कल्पना, यह विकल्पित आदर्श-चित्र अहं-विक्षेपित ही होता है। वह आत्मपूजा का, आत्मसातत्य का ही एक आविष्कार होता है और इसीलिए वह अतिशय संतोषदायक प्रतीत होता है। इस कल्पना से ही हमें दूसरों पर रोब गाँठने की, अपना मत प्रस्थापित करने की, दूसरों का मार्गदर्शन करने की और दूसरों के जीवन को गति देने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। इस अहं-विक्षेपित कल्पना में अहं का अभाव या अहं का विसर्जन—इन दोनों बातों को स्थान नहीं है। इस कारण यह कल्पना अथवा यह आदर्श-चित्र अहं को सदैव समृद्ध ही करते रहते हैं। ऐसी अहंसमृद्धि को प्रीति का मीठा नाम भी दिया जाता है। मेरा अपने पुत्र पर या पति पर प्रेम है और इसलिए मैं चाहता हूँ कि वह मेरी कल्पना के विशिष्ट आदर्श तक पहुँचे। वस्तुतः वह जैसा है उससे कुछ भिन्न हो, ऐसी भाषा का प्रयोग हम करते हैं।

जो है, उसका अर्थात् वास्तविकता का ज्ञान यदि हम प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें अपनी कल्पना अथवा अपने कल्पित आदर्श को एक ओर रख देना चाहिए। लेकिन वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त करने की उत्कटता यदि हममें न हो तो फिर कल्पना को एक ओर रखना कठिन हो जाता है। वास्तविकता और कल्पना में विरोध का कारण यह है कि यह अहं-निर्मित कल्पना हमें वास्तविकता की अपेक्षा अधिक सुखद प्रतीत होती है। लेकिन जब वास्तविकता का आह्वान स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है, तभी यह अहं-निर्मित आदर्श-चित्र खण्डित होता है। अतएव हमारे सामने प्रश्न यह नहीं है कि कल्पना से मुक्ति कैसे प्राप्त की जाय, बल्कि यथार्थ प्रश्न यह है कि वास्तविकता का सामना कैसे किया जाय। जब मनुष्य को अहं के व्यापारों की अर्थात् आत्मसंतोष की प्रक्रिया का दर्शन होता है, तभी वास्तविकता का सामना करना सम्भव होता है।

हम सब लोग नाना उपायों से आत्मसाफल्य प्राप्त करना चाहते हैं—कोई पैसे के द्वारा तो कोई सत्ता के द्वारा, कोई पुत्रों के द्वारा तो कोई पति के द्वारा, कोई राष्ट्र के द्वारा तो कोई ध्येयों के द्वारा, कोई सेवा के द्वारा तो कोई त्याग के द्वारा, कोई प्रभुत्व के द्वारा तो कोई शरणागति के द्वारा। लेकिन क्या कभी अहं को साफल्य प्राप्त होना सम्भव भी है? क्योंकि जो अहं का साफल्य-विषय है, वह अहं-विकल्पित है और अहं के द्वारा पसन्द किया हुआ होता है। साफल्य की लालसा आत्म-सातत्य साधने का ही एक प्रकार है। अहं-साफल्य का मार्ग जान या अनजान में अहं द्वारा ही चुना हुआ होता है। स्थायी संतुष्टि की लालसा पर वह आधृत रहता है। अतः आत्मसाफल्य के लिए होनेवाला शोध अन्ततः अभिलाषा को शाश्वतता दिलाने का ही शोध होता है। वासना या अभिलाषा अशाश्वत होती है। उसका कोई निश्चित आवास नहीं होता। जिस विषय से वह चिपकी रहती है, उसे वह कुछ समय के लिए सातत्य प्राप्त करा देती है। लेकिन अभिलाषा में अंगभूत शाश्वतता नहीं होती। हमें इस बात की नैसर्गिक जानकारी रहती है। इसीलिए हम कल्पना को, निष्ठा को, विशिष्ट रिश्तों को अथवा वस्तु को शाश्वतता प्रदान करने का प्रयत्न करते रहते हैं। लेकिन यह भी असम्भव साबित होने से बाद में अनुभविता का निर्माण कर उसे हम शाश्वत तत्त्व का अधिष्ठान प्राप्त करा देते हैं। और इसीके लिए हम मानते हैं कि यह अनुभविता या अहं अभिलाषा से सर्वथा भिन्न और निराला है। यह भेद स्पष्टतः कल्पित है, असत्य है। यह कल्पित भेद ही हमें भ्रम की ओर खींचकर ले जाता है।

अनन्त काल से चला आया शाश्वतता का शोध वस्तुतः आत्म-साफल्य का आर्त आक्रोश है। लेकिन अहं को साफल्य प्राप्त होना कभी सम्भव नहीं होता। कारण,

यह अहं नामक वस्तु ही अशाश्वत है और इसीलिए जिन विषयों के द्वारा वह इस साफल्य को प्राप्त करना चाहता है, वे विषय भी अशाश्वत साबित होते हैं। आत्म-सातत्य का अर्थ है अहं का ह्रास। इस सातत्य में न तो परिवर्तन लाने का गुण ही होता है, न नवसर्जन का अंकुर भी उसमें फूटता है। नवसर्जन के लिए अहं का सम्पूर्ण विसर्जन आवश्यक है। अहं का अर्थ है कल्पना, आदर्श अथवा स्मृतिसंचय। ऐसी वस्तुस्थिति में अहं को प्राप्त होनेवाले प्रत्येक साफल्य का अर्थ है कल्पना और अनुभूति के सातत्य को बार-बार बढ़ावा मिलना। उधर अनुभूति भी सतत संस्कार करती रहती है और इधर अनुभविता अपने को सतत अनुभूति से अलग कल्पित करता रहता है। इसीलिए अनुभूति से, अनुभवन की अभिलाषा से पूर्ण मुक्ति प्राप्त होनी चाहिए। साफल्य प्राप्त करना आन्तरिक रिक्तता और दारिद्र्य ढाँकने का ही ढंग है। इस साफल्य से दुःख और वेदनाओं की ही प्राप्ति होती है।

३८. सातत्य

सामने बैठे हुए मनुष्य ने स्वयं ही अपना परिचय दे दिया। कारण, वह अनेक विषयों के बारे में पूछना चाहता था। उसने प्रारम्भ में ही बता दिया कि मृत्यु तथा मरणोत्तर अवस्था के बारे में पुरातन और अधुनातन जो भी गम्भीर ग्रंथ हैं, वे सब प्राय: उसने पढ़ डाले हैं। बाद में उसने बताया कि वह परामनोवैज्ञानिक शोध सोसाइटी का सदस्य था, और उसने मृतकों से संवाद करनेवाले माध्यम के रूप में जो भी प्रसिद्ध और उत्कृष्ट व्यक्ति हैं, उनके मृतकों के साथ संवाद के कार्यक्रम भी देखे हैं। इन कार्यक्रमों से जो-जो बातें अभिव्यक्त हुईं, उनमें किसी प्रकार का बनावटीपन नहीं था। इस प्रश्न का अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक विचार कर लेने के कारण भौतिकता के उस पार की कुछ बातों को उसने भी देखा है अनुभव किया है। लेकिन यह कहने के साथ-साथ उसने अपनी यह शंका भी व्यक्त कर दी कि उसे यद्यपि ऐसा लगता नहीं है, फिर भी यह सम्भव है कि शायद ये घटनाएँ उसकी अपनी ही कल्पना से निर्माण हुई हों। उसने यह भी बताया कि वह इस विषय के जानकार व्यक्तियों से चर्चा भी कर चुका है और मृत व्यक्तियों के भौतिक स्वरूप का विश्वसनीय आविष्कार भी प्रत्यक्ष देख चुका है। तो भी, इन सब प्रकारों के पीछे की प्रक्रिया क्या है, और इसका यथार्थ दर्शन अब तक उसे हुआ है या नहीं, इस बारे में उसे पूरा संतोष नहीं है। उसने यह भी बताया कि ये बातें विश्वसनीय मानी जायँ या नहीं, इस पर उसने काफी विचार-विनिमय किया है। उसके कुछ मित्र ऐसे हैं जिनकी श्रद्धा है कि मरने के बाद भी व्यक्ति का सातत्य कायम रहता है और ऐसे भी कुछ मित्र हैं जो

इन सब प्रकारों में विश्वास नहीं करते और दृढ़तापूर्वक मानते हैं कि देह की मृत्यु से व्यक्ति का जीवन पूरी तरह नष्ट हो जाता है। परामनोवैज्ञानिक क्षेत्र की अनेक बातों का उसे काफी ज्ञान था और तत्सम्बन्धी अनुभव भी पर्याप्त था। फिर भी इन सब बातों के बारे में उसका सन्देह बीच-बीच में झाँकता ही रहता था। अब इस ढलती उम्र में, उसे तीव्रतापूर्वक लग रहा था कि इस विषय की सत्यता का ज्ञान प्राप्त कर लिया जाय। वह कह रहा था कि उसे मृत्यु का भय नहीं लगता, लेकिन इस विषय का सत्य मालूम हो ऐसा निरन्तर लगता रहता है।

ट्रेन अभी-अभी स्टेशन पर रुकी थी। सामने से एक घोड़ा-गाड़ी आ रही थी। उस गाड़ी में विना धुले कपड़ों में लपेटा हुआ, दो लम्बे हरे बाँसों की बनी अर्थी पर एक मानव-शव रखा हुआ था। किसी गाँव से, नदी के किनारे दाह-संस्कार करने के लिए यह शव ले जाया जा रहा था। उस ऊबढ़-खाबड़ रास्ते से जैसे-जैसे वह गाड़ी जाती थी, वैसे-वैसे उस शव को आड़े-टेढ़े धक्के लगते थे। उसका सिर कपड़े में लिपटा हुआ था, उसे तो और ज्यादा धक्के लग रहे थे। गाड़ी में गाड़ीवान के अलावा एक आदमी और था। वह उस मृत व्यक्ति का कोई रिश्तेदार था, क्योंकि रो-रोकर उसकी आँखें लाल हो गयी थीं। ऊपर आकाश में वसंत-आगमन-काल की नाजुक नीलिमा विलस रही थी। और नीचे रास्ते की धूल में बच्चे शोरगुल करते हुए मजे में खेल रहे थे। मृत्यु का दर्शन शायद उनके नित्य-परिचय की चीज थी। क्योंकि, वे उस शव की ओर बिलकुल ध्यान न देकर खेल में रमे हुए थे। मृत्यु के बारे में इतनी तीव्रता से प्रश्न पूछनेवाले उस मनुष्य का भी ध्यान उस गाड़ी तथा उसमें रखे हुए शव की ओर नहीं गया था।

अपनी श्रद्धा या निष्ठा के कारण हमारे अनुभवों पर सतत संस्कार पड़ते रहते हैं और फिर यह संस्कारित अनुभव उस श्रद्धा को अधिकाधिक बल देता रहता है। हमारी श्रद्धा जिस प्रकार की होती है, उसी प्रकार का अनुभव हमें होता रहता है। हमारा मन ही हमारे अनुभवों का स्वरूप तय करता है, अनुभवों का अर्थ लगाता है, कुछ अनुभवों का आवाहन करता है अथवा कुछ अनुभवों का त्याग करता रहता है। इधर स्वयं मन भी सारे अनुभवों का परिपाक, परिणाम होता है। इस कारण किसी भी स्तर पर मन के लिए जो-जो परिचित होता है या उसे मालूम होता है, उतना ही वह पहचानता है अथवा उतनी ही बातों का उसे अनुभव होता है। जो पहले से ज्ञात नहीं होता, मालूम नहीं होता, उसका अनुभव मन को हो ही नहीं सकता। केवल अनुभव की अपेक्षा मन और मन की अनुभवविषयक प्रतिक्रिया ही अधिक अर्थपूर्ण होती है। ऐसी वस्तुस्थिति के कारण सत्य जानने की साधनरूप इस दृष्टि से अनुभव पर विश्वास रखना अज्ञान और भ्रम में उलझकर बैठ जाना

है। इतना ही नहीं, सत्य के अनुभव की अभिलाषा रखना सत्य से वंचित हो जाना ही है। क्योंकि, अभिलाषा अनुभवों पर निरन्तर संस्कार डालती रहती है, और श्रद्धा भी वस्तुतः अभिलाषा का ही बुरका ओढ़ा हुआ एक रूप होता है। ज्ञान, श्रद्धा, निश्चयात्मक मत, निर्णय और अनुभव—ये सभी सत्यदर्शन में बाधक हैं। क्योंकि, इन सबके कारण ही अहं मूर्तिमन्त किया जाता है। अनुभवों के संस्कार-साकल्य का परिपाक ही वस्तुतः अहं का स्वरूप है। मृत्यु का भय इसीलिए है कि अहं अस्तित्व में रहनेवाला नहीं है। मृत्यु के बाद उसको अनुभव होता नहीं रहेगा, इसका भी भय रहता है। मृत्यु के बाद भी अनुभवन जारी रहेगा, ऐसा भरोसा यदि कोई मनुष्य को दे दे, तो उसे मृत्यु का भय नहीं लगेगा। ज्ञात और अज्ञात का जो रहस्यपूर्ण सम्बन्ध रहता है, केवल उसीमें भय वास करता है। अज्ञात को जीतने के लिए ज्ञात की दौड़धूप अखण्ड रूप से चलती रहती है। लेकिन जितना पूर्वज्ञात है, उतने को ही अपने काबू में करना ज्ञात के लिए सम्भव होता है। ज्ञात को अज्ञात का अनुभव होना कभी सम्भव नहीं है। इसलिए जो-जो ज्ञात, जो-जो अनुभूत है, उसका पूरी तरह विसर्जन हुए बिना उस अज्ञात का उदय होना सम्भव नहीं है।

सत्य के अनुभव की अभिलाषा हमें क्यों होती है, इसका शोध करना चाहिए और इस अभिलाषा के यथार्थ रूप को भी जानना चाहिए। हाँ, इस शोध के पीछे अगर कोई हेतु निहित हो तो सत्य का उदय ही नहीं होगा। लेकिन स्पष्ट या अस्पष्ट हेतु के बिना शोध के लिए प्रवृत्त होना क्या किसीके लिए सम्भव भी है? और उल्टे, शोध यदि हेतुपूर्वक होगा तो क्या उसे शोध कहा भी जायगा? हम क्या चाहते हैं यह यदि हमें पहले से ही मालूम हो, कौन-सा उद्देश्य सिद्ध करना है यह पहले से ही तय हो, तो शोध करना स्व-निर्मित उद्देश्य को प्राप्त करने का केवल साधन ही बन जायगा। अर्थात् यह शोध स्वयं के संतोष के लिए होता रहेगा, न कि सत्यदर्शन के लिए। और जिस प्रकार का सन्तोष हम चाहते हैं, वैसे संतोष की प्राप्ति के अनुरूप साधनों का चुनाव कर लिया जायगा। जो जैसा होता है, उसका वैसा ही दर्शन होने के लिए हेतु की बिलकुल आवश्यकता नहीं। उल्टे हेतु और हेतु द्वारा स्वीकृत साधन दोनों वस्तुदर्शन में बाधक होते हैं। जो शोध रुचि-अरुचिरहित वृत्ति से किया जाता है, वही सच्चा शोध है। ऐसा शोध किसी भी हेतुपूर्ति के लिए नहीं होता। उल्टे, उद्देश्य की अभिलाषा और उसे प्राप्त करने के साधन—इनके व्यापारों की ओर ही सतत अवधान रखना और उनकी मर्यादा को पहचानना ही शोध करना है। ऐसा रुचि-अरुचिरहित अवधान ही जो 'है' उसका दर्शन कराता है।

हमें शाश्वतता और सातत्य की कितनी विचित्र लालसा होती है! इस लालसा के अतिशय स्थूल और अतिशय सूक्ष्म अनेक रूप होते हैं। इस अभिलाषा के, इस

लालसा के जो खुले रूप होते हैं, उनका हमें पूरा परिचय होता है। अपने नाम, अपनी देहाकृति, अपने व्यक्तित्व इत्यादि सातत्य-अभिलाषा के प्रकार हमारे लिए पूर्ण परिचित हैं। लेकिन इस अभिलाषा के सूक्ष्म रूपों को ढूंढ़ निकालना और समझना अधिक कठिन है। किसी भी स्तर की कल्पना से, ध्येय से, अस्तित्व से, ज्ञान से, भविष्य में कुछ विशिष्ट होने के हेतु से हमारी जो एकरूपता हो जाती है, उसे समझना और जानकारी के प्रकाश में लाना अत्यन्त कठिन है। क्योंकि, हमें केवल सातत्य ही ज्ञात होता है। सातत्यशून्यता से हम परिचित नहीं होते। अनुभवों का सातत्य, स्मृतियों का सातत्य, घटनाओं का सातत्य हमें ज्ञात रहता है। लेकिन जिस अवस्था में यह सातत्य नहीं रहता, उस अवस्था से हम परिचित नहीं रहते। इस सातत्यशून्य अवस्था को ही हम मरण, गूढ़, अज्ञात आदि नाम देते हैं। इस अवस्था का ऐसा नामकरण करने से यह अवस्था हमारे काबू में आ जायगी, ऐसी भोली आशा हम रखते हैं। यह आशा सातत्य की ही अभिलाषा होती है।

अनुभूति, अनुभूति का नामकरण और आलेखन का मतलब है अहंनिष्ठ जानकारी, आत्मचेतना। यह प्रक्रिया मन के उथले-गहरे आदि विभिन्न स्तरों पर अविरत जारी रहती है। अहंनिष्ठ जानकारी की इस प्रक्रिया में सुख क्षणिक होते हैं, लेकिन विरोध, संभ्रम और दुःख की तो अनन्त शृंखला रहती है। और ऐसा होते हुए भी हम उस अहंनिष्ठ जानकारी से चिपके रहते हैं। हमें जो समझ में आता हुआ प्रतीत होता है, वह यही होता है, यही हमारे परिचय का होता है, यही हमारा अस्तित्व और जीवन होता है। कल्पना, स्मृति, शब्दों में ही हमारे जीवन का सातत्य गुँथा रहता है। अहं को साकार करनेवाली कल्पना अंशतः या पूर्णतः सातत्यशील ही होती है। लेकिन क्या इस सातत्य में से वास्तविक मुक्तता का कभी उदय होना सम्भव है? वस्तुस्थिति यही है कि विमुक्तता में ही नवीन का शोध व नवसर्जन निहित होता है।

जिस-जिसको सातत्य होता है, वह जैसा और जो होगा उससे भिन्न नहीं हो सकता। उसमें ऊपर-ऊपर का थोड़ा-बहुत फर्क हो सकता है। लेकिन इस फर्क के कारण उसमें नवीनता का आना सम्भव नहीं है। इस फर्क के कारण उस पर निराला ही आच्छादन चढ़ जायगा। उसे निराला ही रंग आ जायगा। लेकिन आखिर उसके स्वरूप अर्थात् कल्पना, स्मृति और शब्द ये जो सातत्य के केन्द्र हैं, उनमें किसी भी प्रकार की आध्यात्मिक वास्तविकता नहीं होती। क्योंकि वे विचारों की और स्मृति की अर्थात् काल की कक्षा में ही विचरते रहते हैं। उसे स्व-प्रक्षेपित बातों का ही अनुभव होता रहता है। और अपने इन स्व-प्रक्षेपित अनुभवों के द्वारा वह अपने को अधिकाधिक सातत्य प्राप्त कराता रहता है। इसलिए जब तक इस केन्द्र का (अहं का)

अस्तित्व है, तब तक स्वयं की कक्षा के आगे का कुछ भी अनुभव करना उसके लिए सम्भव नहीं। अतः इस अहं की मृत्यु ही होनी चाहिए। कल्पना, स्मृति और शब्दों के द्वारा अपने को अखण्ड सातत्य प्राप्त कराना हमें बन्द करना चाहिए। सातत्य का अर्थ विघटन ही है और जीवन सचमुच मरण में ही विलसता है। यह अहंरूपी केन्द्र जब नष्ट होता है, तभी नवजीवन का उदय होता है। ऐसा होने पर पुनर्जन्म अर्थात् सातत्य, ऐसा प्रकार बचता ही नहीं। फिर मरण ही क्षण-क्षण पर नित्य-नूतनता प्रदान करनेवाला नवजीवन हो जाता है। यह नवजीवन ही नवसर्जन है। ●

३६. स्व-रक्षण

वह सुप्रसिद्ध व्यक्ति था। दूसरों का बुरा करने लायक सत्ता उसके हाथ में थी, उस सत्ता का ऐसे कामों में उपयोग करने में भी वह चूकता नहीं था। उसकी धूर्तता उथली थी। उदारता तो उसमें तनिक भी नहीं थी। वह सदैव केवल अपने लाभ के लिए प्रयत्नशील रहता था। आते ही उसने बोलना शुरू किया : "यहाँ आकर किसी विषय की चर्चा करने की मेरी बहुत इच्छा नहीं थी, लेकिन परिस्थिति ने यहाँ आने को मजबूर किया है।" उसने जो कुछ कहा और जो नहीं कहा उस पर से यह साफ दिखाई दिया कि यह व्यक्ति अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी है और अपने आसपास के लोगों के जीवन को अपनी इच्छा के अनुसार गढ़ता है। जब निर्दय व्यवहार उसके फायदे का होता तब वह निर्दयी बनता और जब उसे कुछ स्वार्थ साधना होता तब वह सौम्य बन जाता। अपने से ऊँचे लोगों के साथ वह आदर से पेश आता। बराबरीवालों के साथ तुच्छतागर्भित सहिष्णुता बरतता, और अपने अधीन अथवा निचले दर्जे के लोगों को वह गिनता ही नहीं था। जो मोटर ड्राइवर उसे यहाँ तक लाया था, उसकी ओर उसने मामूली नजर भी नहीं डाली। सम्पत्ति ने उसे संशयी बना दिया था। इसलिए उसके मित्रों की संख्या भी बहुत कम थी। जब वह अपने बच्चों के विषय में बोल रहा था, तब ऐसा लगा, मानो वे बालक उसके मनोरंजन के खिलौने हैं। बीच में उसने यह भी कह दिया कि उसके लिए एकाकी रहना असह्य है। किसीने उसे काफी दुःख पहुँचाया था। लेकिन दुःख पहुँचानेवाला व्यक्ति उसकी पहुँच के बाहर होने से उससे बदला लेना सम्भव नहीं था। अपनी पहुँच में आनेवाले लोगों को दुःख पहुँचाकर वह यह बदला ले रहा था। उसने कहा कि उसकी समझ में नहीं आता कि वह अकारण ही दुष्टता और निर्दयतापूर्वक क्यों बरतता है, तथा जिन पर प्रेम है उनको भी जान-बूझकर दुःख देने की इच्छा क्यों होती है। बोलते-बोलते उसकी निष्ठुरता गलने लगी, और उसमें कुछ-कुछ मैत्री-भावना जागने लगी, लेकिन यह

मैत्री-भावना क्षणिक ही थी। क्योंकि, इसका तनिक भी विरोध हुआ होता या कोई अपेक्षा रखी गयी होती तो वह भावना क्षणभर में नष्ट हो जाती। लेकिन यहाँ पर उससे कोई अपेक्षा नहीं रखी गयी, इसलिए उसकी यह मैत्री-भावना और उन्मुक्तता तब तक टिकी रही।

दूसरे को दुःख देने की या कष्ट पहुँचाने की इच्छा बहुतों को तीव्रता से होती है, फिर वह दुःख देना एकाध शब्द से हो, एकाध हाव-भाव से हो अथवा अधिक गहरे स्वरूप का हो। यह इच्छा सबमें दिखाई देती है। दूसरों का जी दुखाने में हमें एक विचित्र प्रकार का सुख महसूस होता है। दूसरे हमें दुःख न दें, यह इच्छा हममें इतनी तीव्र होती है कि उसीके कारण हम दूसरों का जी दुखाना चाहते हैं। यही स्व-रक्षण का एक प्रकार है। इस स्व-रक्षण के अनेक प्रकार हैं। उनके स्वरूप परिस्थिति पर तथा व्यक्ति की विशिष्ट वृत्तियों पर निर्भर करते हैं। दूसरों का जी दुखाना कितना आसान होता है और किसीका भी जी न दुखाने के लिए शरीर में कितनी कोमलता आवश्यक होती है! अपने स्वयं के आंतरिक संघर्ष के कारण और दुःखों के कारण हम इतने दुःखी हो जाते हैं कि उसीसे हम दूसरों को दुःख देने में सहज प्रवृत्त होते हैं। अपने आंतरिक संघर्ष के कारण हमारे मन को जितनी व्यथा पहुँचती है उतने ही परिमाण में दूसरे का जी दुखाने का आवेश हमें आता है। हमारा आन्तरिक क्षोभ ही हमें बाहरी संरक्षण खोजने में प्रवृत्त करता है इसलिए स्व-रक्षण का हम जितना अधिक प्रयत्न करेंगे, उतने ही अंश में हम दूसरों पर आक्रमण करते रहेंगे।

सोचने की बात है कि इस तरह हम किसका रक्षण करते हैं? किस पर इतनी सावधानी से पहरा देते हैं? वस्तुतः वह हमारी स्वतःसम्बन्धी कल्पना ही होती है, फिर वह किसी भी स्तर की क्यों न हो। उसीका हम इतनी सावधानी से रक्षण करते हैं। स्वतः से सम्बद्ध इस कल्पना का, सारे संसारों को जमाने के इस केन्द्र का, ही यदि हमने जतन नहीं किया तो फिर 'मैं अथवा मेरा' जैसा कुछ शेष नहीं रहेगा और ऐसा होने पर हमारी संवेदनशीलता अत्यन्त उत्कट और तरल बन जायगी। और हमारे जानते या न जानते हुए जो-जो उभरकर प्रकट होगा, उसे स्व-समर्थन का ग्रास न बनने देकर प्रतीकारशून्यता से उसे होने देंगे। लेकिन अहं के व्यापार जैसे घटित होते रहते हैं, उनको समझने की प्रायः लोगों की इच्छा नहीं रहती। इस कारण अहंविषयक हमारी जो कल्पना होती है, उस पर किसी प्रकार का आक्रमण होने पर हम उसका तत्काल प्रतीकार करने लगते हैं। वस्तुतः स्वतः विषयक हमारी यह कल्पना अत्यन्त उथली होती है, लेकिन अधिकांश लोग इस उथले स्तर पर ही जीते हैं। इसलिए हम भ्रम से ही सन्तुष्ट होते रहते हैं।

दूसरे को हानि पहुँचाने की इच्छा मनुष्य की एक गहरी और सहज प्रवृत्ति है। हम अपने संताप को संचित करते रहते हैं। इसके चलते एक प्रकार की निराली ही सामर्थ्य हमें प्राप्त होती रहती है, क्रिया-प्रवणता की और सजीवता की एक जोरदार भावना हममें निर्माण होती रहती है। संताप का यह संचय पर्याप्त मात्रा में हो जाने पर किसी-न-किसी तरह उसे खर्च कर डालना हमारे लिए अपरिहार्य हो जाता है। तब हम किसी पर क्रुद्ध हो जाते हैं, किसीका अपमान कर बैठते हैं, किसीके प्रति तुच्छता प्रदर्शित करते हैं, किसीके प्रति अकड़ दिखाते हैं, अथवा कुछ विरोधी प्रवृत्तियाँ व्यक्त करते हैं। संताप संचित होने के बाद ही क्षमाशीलता की आवश्यकता पैदा होती है। लेकिन यदि संताप ही संचित नहीं किया गया तो क्षमाशीलता भी अनावश्यक हो जाती है।

किसीके द्वारा की गयी खुशामद का अथवा अपमान का, किसीके द्वारा पहुँचाये गये मानसिक आघात अथवा स्नेह का, हम अपने मन में संचय क्यों करते रहते हैं? इसका कारण यह है कि हम यदि अपनी अनुभूतियों का अथवा उनकी प्रतिक्रियाओं का संचय न करें तो हमारा अस्तित्व ही नहीं रहेगा। यदि हमारा नाम-पता नहीं रहा, किसीके साथ हमारा स्नेह-सम्बन्ध नहीं रहा अथवा हममें किसी प्रकार की निष्ठा नहीं रही तो हम रहेंगे ही नहीं, ऐसा हमें लगता है। कुछ भी न रह जाने का भय ही हमें अनुभूतियों का संचय करने के लिए बाध्य करता है और अनुभूतियों का संचय करने की क्रिया अखण्ड चलते रहते भी जाने-अनजाने यही भय हमारा विघटन और विनाश करता है। यदि हमें इस भय का यथार्थ दर्शन हो जाय तो वह दर्शन ही हमें इस भय से मुक्त करेगा। लेकिन भय से मुक्ति प्राप्त करने का सहेतुक निश्चय करने से यह कार्य कभी नहीं हो सकेगा।

वस्तुतः हम 'कुछ भी नहीं' ही हैं। हमारा विशिष्ट नाम-धाम या विशेष पदवी-उपाधि भी हमारे पास हो, सम्पत्ति हो, सत्ता या कीर्ति हो; लेकिन संरक्षण के इन सारे साधनों के होने पर भी हम वस्तुतः 'कुछ नहीं' ही हैं। इस 'कुछ नहीं' की, इस रिक्तता की, हमें कदाचित् बिलकुल जानकारी नहीं होगी अथवा ऐसी जानकारी प्राप्त करने की हमारी इच्छा भी नहीं होगी। किन्तु इस 'कुछ नहीं' को आँखों से ओझल करने का, या छिपाने का हम कितना ही प्रयत्न करें, तो भी उसका अस्तित्व रहता ही है। इस 'कुछ नहीं' से दूर जाने के लिए हम अनेक मार्ग खोजने का प्रयत्न करते हैं। व्यक्तिगत अथवा सामुदायिक हिंसा द्वारा, व्यक्तिगत अथवा सामूहिक पूजा-अर्चना द्वारा, ज्ञान-संपादन अथवा मनोरंजन के द्वारा हम भागने के रास्ते खोजते हैं। लेकिन हम चाहे सोते हों चाहे जागते हमारा यह 'कुछ नहीं' भाव निरन्तर बना रहता है। अतः हम जो भागने के रास्ते खोजते हैं, उसके बारे में अगर हम रुचि-अरुचिरहित

अवधान रखें तो हमें इस बात का दर्शन हो सकेगा कि 'कुछ नहीं' भाव से और उसके प्रति भय से वास्तव में हमारा क्या सम्बन्ध है। इस 'कुछ नहीं' भाव से हमारा जो सम्बन्ध है, वह इस प्रकार का नहीं है कि हम कोई पृथक् वस्तु हैं। हम उस 'कुछ नहीं' का अवलोकन करनेवाले द्रष्टा नहीं हैं। विचारक अथवा द्रष्टा के नाते हमारा जब अस्तित्व ही नहीं रह जाता, तब उस 'कुछ नही' का भी अस्तित्व नहीं रह जाता। वस्तुतः हम और यह 'कुछ नहीं' भाव एकरूप ही है। हम और 'कुछ नहीं' -पना दोनों मिले-जुले हैं। दोनों पृथक् प्रक्रियाएँ नहीं हैं। विचारक के नाते यदि हमें 'कुछ नहीं' पन का भय लगता है और उसकी तरफ हम विरोधी तथा प्रतिकूल दृष्टि से देखते रहते हैं तो उसका मुकाबला करने की दृष्टि से हम जो भी कृति करेंगे. वह हमें अपरिहार्य रूप से भ्रम की ओर ही खींचती रहेगी और इस प्रकार वह हमें अधिकाधिक संघर्ष और दुःख में ढकेलती रहेगी। जब हमको यह अनुभव होगा कि 'कुछ नहीं -पन ही हम हैं और उसका शोध हम कर पायेंगे, तभी 'कुछ नहीं' का भय नष्ट होगा। क्योंकि जब तक विचारक अपने को विचार से भिन्न समझता रहता है और इस तरह विचारों से सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है, तभी तक भय का अस्तित्व है। यह भय नष्ट होने पर ही मन पूरी तरह निस्तब्ध हो सकता है और इस निस्तब्धता में ही सत्य का सहज उदय होता है। ●

४०. 'मेरा मार्ग और आपका मार्ग'

वह महापंडित था, अनेक भाषाओं का जानकार था। कुल लोगों को जैसे शराब का व्यसन होता है, वैसे ही उसे ज्ञान का व्यसन था। अपने मत के समर्थन में वह दूसरों के वचन बराबर उद्धृत करता था। विज्ञान और कला से भी उसका थोड़ा-बहुत परिचय था। अपना मत व्यक्त करते हुए वह अपना सिर कुछ इस प्रकार हिलाता था और मुस्कराता था कि जिससे मालूम हो कि वह जो कुछ कह रहा है वह केवल उसीका मत नहीं है, बल्कि वह उस विषय का अन्तिम सत्य है। वह कह रहा था कि कम-से-कम उसको जो कुछ अनुभव हुआ है, वह उसकी दृष्टि में निश्चित और अन्तिम निर्णयात्मक है। "आपके कुछ अलग अनुभव होंगे, लेकिन अपने अनुभव की सत्यता के बारे में आप मेरा समाधान नहीं कर सकेंगे, यह निश्चित है। आप अपने मार्ग से चलिये, मैं अपने मार्ग से चलूंगा। सत्य तक पहुँचने के मार्ग भिन्न-भिन्न होते हैं। अतः हम वहाँ पर कभी-न-कभी अवश्य मिलेंगे।" ऐसा कहते हुए उसमें एक प्रकार का दूरस्थ मित्र-भाव दिखाई दिया। लेकिन अपने अनुभव के विषय में निश्चयात्मकता भी उसमें स्पष्ट दीखती थी। उस

व्यक्ति की दृष्टि में प्रत्यक्ष में नहीं, बल्कि काल्पनिक सृष्टि में रहनेवाले महात्माओं का अस्तित्व ही वास्तविक था। उसका निश्चित मत था कि इन अदृश्य महात्माओं का शिष्यत्व स्वीकार करना सत्य-दर्शन के लिए आवश्यक है। इन महात्माओं का अधिकार मानने तथा उनका मार्ग स्वीकार करने के लिए जो तैयार होते थे, उनको वह तथा उसके साथी शिष्यत्व की दीक्षा देते थे। साथ ही साथ उसने यह भी स्पष्ट किया कि वह तथा उसके साथी उन लोगों में से नहीं हैं, जो मृतक लोगों से संवाद करके उनमें से मार्गदर्शक गुरु चुनते हैं। अदृश्य महात्माओं का शोध करने के लिए पहले सेवा करनी पड़ती है, कुछ विशिष्ट कार्य करने पड़ते हैं, कुछ त्याग करना पड़ता है, कुछ आज्ञाएँ पालनी पड़ती हैं और कुछ गुणों का आचरण करना पड़ता है, और गुरु पर श्रद्धा रखना तो अत्यन्त आवश्यक है ही, ऐसा भी वह कह रहा था।

जो 'है', उसका शोध करने के साधन के रूप में अपने अनुभवों पर अवलंबित रहना वास्तव में भ्रम में फँस जाना होता है। क्योंकि हमारी अभिलाषाएँ और वासनाएँ हमारे अनुभवों पर सतत संस्कार डालती रहती हैं। अतएव सत्य-दर्शन के एक साधन की दृष्टि से ऐसे अनुभवों पर अवलंबित रहना केवल स्वार्थ सिद्धि का मार्ग स्वीकृत करना ही है। अनुभव दुःखों से कभी विमुक्ति नहीं दिलाता। जीवन के नित्य नये आह्वानों का सामना गतानुभवों की सहायता से नहीं किया जा सकता। जीवन के आह्वान हमेशा नये होते हैं, इसलिए उनका समाधान भी नित्य-नूतनता में ही खोजना पड़ता है। इन आह्वानों का सामना करने के लिए, अनुभवों को संस्कारबद्ध करने के लिए जो स्मृति है, उसे सबसे पहले एक ओर रख देना चाहिए और इन आह्वानों का सामना जिन सुखमय या दुःखमय प्रतिक्रियाओं के रूप में किया जाता है उन्हें गहराई से समझ लेना चाहिए। वस्तुतः सत्यदर्शन में अनुभव हमेशा बाधक ही होता है। क्योंकि, अनुभव कलात्मक होता है, वह भूतकाल का परिपाक होता है। इस कारण इन अनुभवों से अर्थात् काल द्वारा निर्मित मन को कालातीत का दर्शन कैसे होगा? जो साक्षात् और नित्य वर्तमान अनुभवन का सत्य है, वह व्यक्ति के कल्पना-विलास पर अथवा तरंगों पर अवलम्बित नहीं। जब किन्हीं भी अनुभवों का धिक्कार या समर्थन न करते हुए और उनमें से किन्हीं भी अनुभवों से एकरूप न होते हुए, इन अनुभवों का सावधानी से परिचय किया जाता है, तभी साक्षात् अनुभव के सत्य का दर्शन होता है। अनुभव सत्य की ओर ले जानेवाला मार्ग नहीं है। 'आपका अनुभव' या 'मेरा अनुभव' इन शब्दों का कोई अर्थ नहीं है। समस्या को समझदारी से समझना ही महत्व की बात है।

जब तक आत्मज्ञान नहीं होता, तब तक अनुभव केवल भ्रम ही पैदा करते रहते हैं। किन्तु, अहं का यथार्थ ज्ञान होते ही जीवन के आह्वान को दिये जानेवाले उत्तर

के स्वरूप में जो अनुभव होता है, वह अपने पीछे स्मृतिरूप में कुछ भी छोड़ता नहीं है। अहं का ऐसा यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना याने अहं के विचार और लालसा के रूप में, उनके हेतु और उद्देश्य के रूप में अहं के जो व्यापार सतत चलते रहते हैं, उनका क्षण-क्षण पर शोध लेते रहना है। 'आपका विशिष्ट अनुभव' अथवा 'मेरा विशिष्ट अनुभव' इन शब्दों का कोई अर्थ नहीं है। सत्यविषयक 'मेरा अनुभव' यह भाषा अज्ञान और भ्रम की ही निदर्शक है। लेकिन अनेक लोगों को भ्रम में रहना ही ठीक लगता है, क्योंकि उन्हें भ्रम में अत्यन्त समाधान प्रतीत होता है। ऐसा भ्रमात्मक जीवन उन्हें अपना निजी स्वर्ग ही लगता है। इससे एक प्रकार की अपनी श्रेष्ठता की भावना उनमें निर्माण होती है। फिर यदि किसी मनुष्य में एकाध नैसर्गिक देन, कार्यकुशलता अथवा चालाकी होती है, तो वह बड़ा नेता बन जाता है अथवा किसी आभासमय विश्व का प्रतिनिधि या मध्यस्थ बन जाता है। और चूंकि अधिकतर लोग जो प्रत्यक्ष है उने टालना चाहते हैं, अतः इस आभासमय विश्व पर आधृत निरनिराले संघटन अस्तित्व में आते हैं। उनकी माल-मिलकियत बढ़ती रहती है, विभिन्न कर्मकाण्डों, व्रतों और दीक्षितों के गुप्त समूहों आदि की वृद्धि होती रहती है। फिर वहाँ की सांस्कृतिक परम्परा के अनुरूप इस आभास पर बाह्य आच्छादन चढ़ाकर उसका बाह्य स्वरूप गढ़ा जाता है और उसे सामाजिक प्रतिष्ठा के अन्तर्गत रखा जाता है। अनेक व्यक्ति किसी-न-किसी प्रकार की सत्ता चाहते हैं, इस-लिए इस सत्ता की प्यास बुझाने के लिए श्रेष्ठ-कनिष्ठ तत्त्व प्रस्थापित किये जाते हैं और विभिन्न गुरुओं के न्यूनाधिक विकास के अनुसार उनकी भी श्रेष्ठ-कनिष्ठ कोटियाँ तय की जाती हैं। अनेक लोगों में दूसरों को तंग करने की और अपने को भी सताने की हविस होती है। इसलिए श्रेष्ठ-कनिष्ठ कोटि की यह पद्धति अपनी रुचि पूरी करने के गुप्त या प्रकट साधन हमें प्राप्त करा देती है।

दूसरे को सताना एक प्रकार से स्वयं अपने को ही सताना है। अपनी मनो-वैज्ञानिक आवश्यकताओं के लिए दूसरों का उपयोग करने की अभिलाषा में से ही परावलम्बन उत्पन्न होता है। जब आप दूसरों पर अवलम्बित हैं, तो उन दूसरों को अपने अधीन रखना और उन पर अधिकार जमाना आपके लिए आवश्यक हो जाता हैं। जिसे आप अपने अधीन रखते हैं, वह आपको भी अपने अधीन रखता है। सूक्ष्म या स्थूल स्वरूप के परावलम्बन के बिना, अथवा लोगों पर, वस्तुओं पर या कल्पनाओं पर अपनी मालिकी कायम किये बिना हमें लगता है कि हम खाली है, हमारा कोई महत्त्व ही नहीं है। क्योंकि हम बराबर चाहते हैं कि हम कुछ विशिष्ट बनें और यह भय भी लगता है कि पता नहीं कहीं 'कुछ नहीं' में न फेंक दिये जायँ। इस भय से दूर भागने के लिए हम इस या उस संघटन के सभासद बनते हैं, इस या उस विचार-

प्रणाली का प्रभाव स्वीकार करते हैं, इस या उस धर्म, संस्था में मन लगाते हैं। यों आपका शोषण किया जाता है और इसीलिए आप भी दूसरों का शोषण करते हैं। श्रेष्ठ-कनिष्ठता की यह जो कोटि प्रत्येक संघटन के लिए प्राणभूत हो बैठी है, उसके कारण अहंविस्तार को काफी बड़ा मौका मिल जाता है। 'सर्वत्र बंधुभाव फैले ऐसा हमें लगता है' यह आप कहते रहते हैं। लेकिन यदि आप ऊपर वर्णित आध्यात्मिक बिनाश के मार्ग पर ही चलते रहेंगे, तो बन्धुभाव का उदय कैसे होगा? इस जगत् में जो पदवियाँ और उपाधियाँ दी जाती हैं, उनकी एक ओर आप अवहेलना करते हैं, लेकिन जब आप आध्यात्मिक क्षेत्र में भी गुरु, प्रेषित अथवा उद्धारकर्ता को श्रेष्ठता का स्थान प्रदान करते हैं, तब क्या लोक-रीति का ही अनुसरण नहीं करते हैं? आध्यात्मिक विकास, सत्य-दर्शन अथवा ईश्वर-साक्षात्कार आदि के विषय में श्रेष्ठ-कनिष्ठ की श्रेणी और भेद को क्या तनिक भी स्थान रह सकता है? प्रीति न्यूनाधिकता का भेद नहीं जानती। आपके हृदय में या तो प्रीति रहेगी अथवा नहीं रहेगी। लेकिन आप हृदय में प्रीति का अभाव होते हुए भी दीर्घकालीन प्रक्रिया के द्वारा हम प्रीति का अन्तिम साध्य प्राप्त कर सकेंगे, ऐसी मिथ्या अपेक्षा न रखें। आपके हृदय में प्रीति नहीं है 'यह ज्ञान यदि आपको है, इस वस्तुस्थिति का रुचि-अरुचिरहित अवधान यदि आपमें जागृत है, तो आपमें मूलभूत परिवर्तन संभव होगा।

गुरु और शिष्य, सिद्ध और साधक, द्धारकर्ता और पापी, इस प्रकार के भेदों को प्रयत्नपूर्वक सँभालने का मतलव है प्रीति के अस्तित्व से ही इनकार करना। इतना सही है कि जो दूसरे का शोषण करता है और जो स्वयं भी शोषित होता है, उसे इस प्रकार के भ्रम के गहन अरण्य में शिकार के लिए पर्याप्त पशु मिल जाते हैं।

ईश्वर या सत्य और आप, इनमें आप ही भेद निर्माण करते रहते हैं। जो ज्ञात, सुरक्षित और निश्चित है, उससे चिपका रहनेवाला आपका मन ही यह भेद उत्पन्न करता है। इस वस्तुस्थिति में किसी कर्मकाण्ड का, किसी साधना का, अथवा किसी विशिष्ट त्याग का सेतु बाँधकर भेद की यह खाई आप कभी पार नहीं कर सकेंगे। कोई भी गुरु, उद्धारकर्ता या प्रेषित आपको सत्य तक नहीं पहुँचा सकता, न वह इस भेद को ही नष्ट कर सकता है। क्योंकि, सत्य में और आपमें वस्तुतः भेद ही नहीं है। जो भेद जैसा लगता है, वह आपमें है। आपके अन्तःकरण की परस्पर विरोधी अभिलाषाओं का संघर्ष ही भेद है। अभिलाषा अपना ही विरोधी पैदा करती रहती है। एक ही अभिलाषा में केन्द्रित होकर बैठ जाने का अर्थ मूलभूत परिवर्तन नहीं है। अभिलाषाओं के कारण जो संघर्ष निर्माण होता है, उससे मुक्त होना ही अपने में मूलभूत परिवर्तन का मूर्तिमन्त होना है। अभिलाषा का या वासना का आवेग अधिकाधिक संघर्ष ही बढ़ाता है. फिर यह आवेग मन के किसी भी स्तर का हो। इस संघर्ष से दूर भागने के लिए हम नाना प्रकार के साधनों का आश्रय लेते हैं। लेकिन ऐसा करने

से आन्तरिक और बाह्य, दोनों प्रकार का संघर्ष बढ़ता ही जाता है। हमारा यह मानसिक संघर्ष किसी अन्य व्यक्ति द्वारा कभी भी समाप्त नहीं किया जा सकता, फिर वह व्यक्ति कितना ही बड़ा क्यों न हो। इसी प्रकार वह किसी भी कर्मकाण्ड अथवा जादू से भी खतम नहीं किया जा सकता। इन साधनों द्वारा हम सुखद निद्रालोक में विचरण अवश्य कर सकते हैं, लेकिन जागते ही उसी संघर्ष की समस्या हमारे आगे खड़ी हो जायगी। हममें से अधिकांश लोग इस सुखद निद्रा से जागना ही नहीं चाहते। इसलिए हम सतत भ्रम और आभास में जीते हैं। किन्तु यदि कभी इस संघर्ष का अन्त हो जाय, तो वहाँ निस्तब्धता फैल सकती है और तभी सत्य का उदय हो सकता है। वास्तव में गुरु, उद्धारकर्ता अथवा प्रेषित का कोई महत्त्व नहीं है। बल्कि अपनी अभिलाषाओं के बढ़ते हुए संघर्ष की साक्षात् जानकारी प्राप्त करना ही वस्तुतः महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है। अहं के व्यापार का अखण्ड अवधान रखने से और आत्मज्ञान प्राप्त करने से ही यह जानकारी मिलती है।

अहं के व्यापारों का ऐसा जागृत अवधान रखना असिधारा-व्रत के समान कठिन है। अनेक लोगों को सुलभ और भ्रममय जीवन-प्रणाली अधिक रुचती है। इसीलिए हम अधिकारी व्यक्तियों की और संस्थाओं की सत्ता खड़ी करते रहते हैं, जो हमारे जीवन को एक विशिष्ट मोड़ और आकार देती है। इस सत्ता का स्वरूप चाहे शासन-संस्था जैसा सामूहिक हो अथवा अदृश्य महात्मा, गुरु, उद्धारकर्ता अथवा प्रेषित जैसा वैयक्तिक हो, वह बाध्यकारी होता है और वह व्यक्ति को अन्धा या निर्बुद्धि बना डालता है। विचारशील होने का अर्थ है दुःख ओढ़ लेना, ऐसा बहुतों को लगता है जिससे हम स्वयं ही इस वैयक्तिक या सामूहिक सत्ता के आगे शरणागत हो जाते हैं।

कोई भी विशिष्ट अधिकार सत्ता को जन्म देता है। इस सत्ता का सतत केन्द्रीकरण होते रहने से, वह व्यक्ति को पूरी तरह भ्रष्ट कर डालती है। इस तरह सत्ताधिकारी ही भ्रष्ट नहीं बनता, जो-जो उसके अनुयायी होते हैं, वे भी भ्रष्ट बनते हैं। अधिकार चाहे ज्ञान के क्षेत्र का हो चाहे अनुभव के क्षेत्र का, वह भ्रष्ट करता ही है। फिर यह अधिकार अदृश्य महात्मा में, गुरु में केन्द्रित हुआ हो अथवा उसके प्रतिनिधियों या पुरोहितों में। वस्तुतः जीने की दृष्टि से वास्तव में महत्त्वपूर्ण, अर्थपूर्ण और विचारार्ह है वह आपका अपना जीवन है और उस जीवन के संघर्ष की अनन्त श्रेणियाँ हैं। आपके नेता का और आपके आदर्श का कोई महत्त्व नहीं है। आपके भीतरी संघर्ष से, जो कि आपकी मुख्य समस्या है, उससे, गुरु का या पुरोहित का अधिकार आपको सदैव दूर-दूर ले जाता है। किसी विशिष्ट जीवन-पद्धति का शोध करने से दुःख के रहस्य का आकलन नहीं होगा अथवा उसका विसर्जन भी नहीं होगा। ऐसा शोध करते रहने का अर्थ है दुःख की समस्याओं से पीठ फेरना और किसी विशिष्ट जीवन-पद्धति का प्रभाव अपने पर लाद लेना। ये दोनों बहाने ही हैं।

ये बहाने भीतर-भीतर अधिक गहरे होते जाते हैं, गूंजते रहते हैं और अधिक वेदना तथा आपत्ति पैदा करते हैं। अस्तु। अपने को समझ लेना चाहे दुःखद लगे या सुखद, यहीं से वास्तविक ज्ञान का श्रीगणेश होता है।

मनुष्य को प्रवीणता की ओर ले जानेवाला कोई विशिष्ट मार्ग नहीं होता। वास्तव में यदि ऐसा कोई ज्ञात मार्ग होता तो यह प्रवीणता भी पहले से ही कल्पित, गढ़ी हुई अथवा पूर्वज्ञात वस्तु बन जाती। किन्तु प्रवीणता का स्वरूप पहले से मालूम होना अथवा उसका संवर्धन कर पाना क्या सम्भव है? क्या वह सीखने या संचय करने की वस्तु है? यदि ऐसा हो तब तो वह केवल सम्पादित ज्ञान, केवल गत अनुभव अथवा केवल ग्रंथनिविष्टता जैसी वस्तु बन जायगी। वस्तुतः ज्ञान अथवा अनुभव परिस्थितियों, स्मृतियों को दिये गये उत्तरों की अखण्ड शृङ्खला ही है। अतएव जो कुछ भी नित्य नया, ताजा और अज्ञात है, उसका आकलन ज्ञान अथवा अनुभव को कैसे सम्भव है? ज्ञान अथवा अनुभव का सातत्य अखण्ड जारी रहने के कारण उनका मार्ग स्व-कल्पित साध्य की ओर पहुँचानेवाला होता है। अतः ज्ञान और अनुभव सतत बन्धनकारी सिद्ध होते हैं। ज्ञान और अनुभव का संचय न करते हुए, जो 'है' उसका क्षण-क्षण पर नित्य नया दर्शन होते रहना ही यथार्थ प्रवीणता है। जो संग्रह या संचित किया जाता है, उसके आधार पर प्रवीणता के लिए आवश्यक स्वतन्त्रता कभी प्राप्त नहीं हो सकती है और स्वतन्त्रता के बिना नये का शोध हो ही नहीं सकता। ऐसे नित्य नये शोधों की अनन्त शृङ्खला में से ही प्रवीणता अथवा स्वयंप्रज्ञता साकार होती है। यह स्वयंप्रज्ञता अखण्ड, नित्यनूतन और अखण्ड ताजा रहती है। उसे संग्रहीत कर रखने का कोई उपाय भी नहीं है। कोई भी उपाय नित्यनूतनता के लिए, ताजा और उत्स्फूर्त शोध के लिए मारक ही सिद्ध होता है।

यह कल्पना कि 'एक ही सत्य तक पहुँचने के अनेक मार्ग होते हैं', किसी असहिष्णु मस्तिष्क की उपज है। सहिष्णुता का विशेषतः संवर्धन करने के इच्छुक मन को ही यह 'अनेक मार्ग' की कल्पना सूझती है। "मैं अपने मार्ग का अनुसरण करूँगा, आप अपने मार्ग का अनुसरण करें। लेकिन हम आपस में सहिष्णुता कायम रखकर मित्रभाव रखें। यानी अन्त में हमारा मिलन होगा ही।" यह वृत्ति इस प्रकार की है। लेकिन यदि आप उत्तर की ओर जा रहे हों और मैं दक्षिण की ओर जा रहा हूँ, तो क्या हमारा-आपका मिलन कभी सम्भव है? आपकी निष्ठाएँ एक प्रकार की हैं, मेरी दूसरे प्रकार की हैं, मैं सामूहिक हत्या करने के विचार का हूँ और आप शान्ति के उपासक हैं, तो क्या हममें कभी मित्रभाव का रहना सम्भव है? मित्रभाव के लिए पारस्परिक सम्बन्ध समान कार्यात्मक और समान विचारात्मक होने चाहिए। रागी और विरागी में, घृणा और द्वेष करनेवाले तथा प्रेम करनेवाले मनुष्य में क्या कोई रिश्ता सम्भव है? भ्रमबद्ध मनुष्य और विमुक्त मनुष्य, दोनों में कोई सम्बन्ध रह सकता

है ? विमुक्त मनुष्य कदाचित् भ्रमवद्ध मनुष्य से स्नेहसम्बन्ध प्रस्थापित करने का प्रयत्न कर भी सकता है, लेकिन भ्रमवद्ध मनुष्य विमुक्त मनुष्य के पास कोई सम्बन्ध जोड़ ही नहीं सकेगा।

अपने निरालेपन से चिपके रहनेवाले और अपने को दूसरों से अलग समझनेवाले लोग दूसरे अहं-परिवेष्ठित लोगों से सम्बन्ध प्रस्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। लेकिन ऐसे सम्बन्धों में से संघर्ष और दुःख ही उत्पन्न होते हैं। संघर्ष की वेदना टालने के लिए कुशल लोग सहिष्णुता का मनोविकल्पित प्रमेय सामने रखते हैं। उसके आधार पर अपनी स्वसंकोचक बाड़ का रक्षण करते-करते दूसरों से दया तथा उदारतापूर्वक बरतने का प्रयत्न करते हैं। वस्तुतः सहिष्णुता मनोकल्पित गुण है, हृदय का गुण नहीं है। जब आप प्रीति करते हैं, तब क्या आप 'सहिष्णुता' शब्द का उच्चारण भी करते हैं ? लेकिन जब हृदय रिक्त होता है, तब मन नाना प्रकार की धूर्त युक्तियों और भयों से हृदय को भर देता है। जहाँ लोगों के परस्पर सम्बन्धों में केवल सहिष्णुता ही चलती है, वहाँ यथार्थ सुसंवाद नहीं रह पाता।

सत्य की ओर ले जानेवाला कोई विशिष्ट मार्ग नहीं है। सत्य का नित्य नया शोध करना पड़ता है, लेकिन इसकी कोई निश्चित गणितीय पद्धति नहीं है। क्योंकि जो इस तरह रीतिबद्ध किया जाता है, वह सत्य नहीं होता। सत्य के शोध के लिए पथशून्य सागर पर अपनी नाव खोल देनी पड़ती है और यह पथशून्य सागर स्वयं आप ही हैं। स्वयं अपने ही शोध का साहस आपको करना चाहिए। लेकिन इस शोध के लिए किसी निश्चित नमूने का या निश्चित योजना का आश्रय लेना सम्भव नहीं है। अगर ऐसा आश्रय लिया जाता है, तो सत्य का शोध असम्भव है। सच्चा आनन्द तो सत्य के शोध में ही है। लेकिन यह आनन्द पहले के आनन्द की स्मृति नहीं होता। इस आनन्द की किसीसे तुलना नहीं हो सकती। वह नित्य नूतन उत्स्फूर्त होता है। आत्मज्ञान ही यथार्थ प्रवीणता या स्वयंप्रज्ञा का प्रारम्भ है। उसीकी प्रशान्त नीरवता और निस्तब्धता में असीम का निवास है। ●

४१. सावधानता

असंख्य धवल शुभ्र लहरों की नाईं बादल फैले हुए थे। बीच-बीच में झाँकती हुई आकाश की नीलिमा शान्त, निस्तब्ध थी। जहाँ हम खड़े थे, वहाँ से सैकड़ों फुट नीचे भीतर ही भीतर मोड़ लेती हुई सुन्दर नीली खाड़ी फैली थी। खाड़ी के उस पार का जमीन का मुख्य भाग काफी दूर था। संध्या मोहक प्रतीत हो रही थी और उसमें एक प्रकार की नीरवता और विमुक्तता थी। दूर क्षितिज के पास एक मोटर-

बोट से धुआँ उठ रहा था। पर्वत की ठेठ तलहटी तक संतरे के बाग फैले थे। वातावरण में उनका परिमल महक रहा था। सदैव की भाँति अब संध्या का रंग धीरे-धीरे नीला होता जा रहा था। हवा तक नीली बन गयी थी। और उस नाजुक नीलिमा में धवल-शुभ्र घरों की आभा छिप गयी थी। मानो सागर की नीलिमा ऊपर उठकर जमीन पर बिखर गयी हो और सारी धरा को उसने व्याप्त कर लिया हो। दूरस्थित पर्वत पर भी स्वच्छ नीलिमा फैली थी। सम्पूर्ण दृश्य मन्त्रमुग्ध कर डालनेवाला था। सारे वातावरण में अद्‌भुत प्रशान्तता व्याप्त थी। सायंकाल की कुछ ध्वनियाँ सुनाई पड़ रही थीं अवश्य, किन्तु हमारे समेत वह सब भी विराट् विशाल नीरवता का ही निस्तब्ध अंग बन गयी थी। इस निस्तब्धता के कारण वस्तुमात्र में एक नूतनता आ गयी थी। मानो, अखिल मानव-जाति के हृदय का सदियों का दुःख-दैन्य इस निस्तब्धता में घुल गया हो। हमारी आँखें भी धुलती जा रही थीं। इस निस्तब्धता की गोद में मन भी खो गया था। इतने में एक गधा रेंकने लगा। उसकी प्रतिध्वनि पूरी उपत्यका में फैल गयी। लेकिन उस निस्तब्धता ने उसे भी अपने विशाल उदर में समा लिया। आज के दिन के अन्त के साथ अब तक के सभी दिनों की मृत्यु हो चुकी थी। इस मृत्यु में से जो पुनर्जन्म हुआ था, उसमें गतकाल की विषण्णता समाप्त हो गयी थी। इस अतुल, असीम निस्तब्धता में जीवन को नूतनता का अलंकार प्राप्त हुआ था।

कुछ विषयों पर चर्चा करने के लिए एक व्यक्ति कमरे में प्रतीक्षा कर रहा था। उसमें एक विशेष प्रकार की उत्कटता थी, फिर भी वह अत्यन्त शान्त था। स्पष्टतः वह नगर-निवासी था। उसकी भभकदार नागरी पोशाक के कारण, उस छोटे से गाँव के परिसर में और उस कमरे के वातावरण में उसका अस्तित्व काफी बेमेल लग रहा था। अपने कार्य के बारे में, व्यावसायिक कठिनाइयों के बारे में, पारिवारिक जीवन की छोटी-मोटी बातों के बारे में और अपनी अभिलाषाओं के आवेग के बारे में वह बहुत-कुछ कह रहा था। ऐसे प्रश्नों को हम भी दूसरों की तरह अच्छी तरह हल कर सकते हैं, किन्तु हमारी लैंगिक वासनाओं के बारे में क्या किया जाय, यह प्रश्न बेचैन कर रहा है—ऐसा उसने बताया। वह विवाहित था और उसके बाल-बच्चे भी थे। पर यहीं यह कथा पूरी नहीं होती थी। उसकी लैंगिक वासनाओं का प्रश्न अत्यन्त गम्भीर बन गया था, जिनके चलते वह पागल जैसा हो रहा था। अपने समाधान के लिए उसने डॉक्टरों और मनोविज्ञान-वेत्ताओं से भी चर्चा की थी। लेकिन उसका प्रश्न हल नहीं हुआ था। इसलिए इस प्रश्न के मूल में प्रवेश करने के लिए वह उतावला था।

अपनी समस्याओं के समाधान के लिए हम कितने उत्सुक रहते हैं। अपने प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए, समाधान का एकाध मार्ग पकड़ने के लिए, एकाध

उपाय खोजने के लिए हम सतत कितनी दौड़-धूप करते हैं। हाँ, हम स्वयं उस समस्या के स्वरूप पर कभी विचार नहीं करते। लेकिन अत्यन्त अस्वस्थ मन से तथा चिन्तायुक्त अन्तःकरण से उत्तर ढूँढ़ने का प्रयत्न हम अवश्य करते हैं। लेकिन जब उत्तर मिलता है, तब वह वस्तुतः हमारे मानसिक विक्षेप अथवा विकल्पन से उत्पन्न हुआ रहता है। या वह समस्या स्वयं हमारे द्वारा ही निर्मित होती है, फिर भी उसका उत्तर हम अपने से दूर-दूर जाकर ढूँढ़ने का प्रयत्न करते हैं। लेकिन समाधान खोजना तो समस्या को टालना ही है। अधिकांश लोगों को यही अच्छा लगता है। इस तरह हमारी दृष्टि में समाधान का ही महत्त्व होता है और समस्या एल ओर पड़ी रह जाती है। वस्तुतः उत्तर प्रश्न से भिन्न नहीं होता। उत्तर प्रश्न में ही रहता है, उससे अलग नहीं रहता। मुख्य प्रश्न के गर्भ में जो आशय छिपा होता है, उससे असम्बद्ध उत्तर यदि हम खोजते हैं, तो उस उत्तर में नये ही प्रश्न उत्पन्न होते हैं। ये नये प्रश्न अर्थात् प्रश्नों के उत्तर प्रत्यक्ष जीवन में, आचरण में कैसे उतारा जाय—इस प्रकार के होते हैं। इसलिए उत्तर खोजने का मतलब है, सचमुच प्रश्नों को टालना। यह वस्तुस्थिति है। इस कारण उत्तर प्राप्त करने के लिए हम ध्येय, निष्ठा, आदर्श, अनुभव, आदि स्व-विक्षेपित विषयों में अपने को डुबा देते हैं। फिर हम इन मनोनिर्मित-विषयों की पूजा करने लगते हैं और अधिकाधिक उलझ जाते हैं, हमारी दम फूल जाती है, हम थक जाते हैं। प्रश्न के बारे में निष्कर्ष निकालना अपेक्षाकृत सरल होता है, किन्तु स्वयं प्रश्न को ही समझना अत्यन्त कठिन होता है। कारण, इसके लिए प्रश्न की ओर देखने की एक निराली ही दृष्टि आवश्यक है। इस दृष्टि में उत्तर प्राप्त करने की सुप्त अभिलाषा का रहना भी उपयुक्त नहीं है।

समस्या की जानकारी के लिए, उत्तर की अभिलाषा से सम्पूर्ण मुक्तता आवश्यक है। इससे समस्या के प्रति अवधान रखना सुलभ होता है, और अन्य गौण बातों के कारण मन विचलित नहीं होता। लेकिन जब तक समस्या के सम्बन्ध में हमारे मन में संघर्ष या विरोध होता रहेगा, तब तक उसके स्वरूप का आकलन सम्भव नहीं होगा। क्योंकि, यह संघर्ष ही हमारे मन को सतत विचलित करता रहता है। जिस समय हम समस्या के गर्भ में प्रवेश करते हैं, समस्या से हमारा संवाद मूर्त होता है, तभी उसका सही आकलन होता है। जब तक हमारे मन में समस्याविषयक प्रतिकार अथवा प्रतिपक्ष होता है, उसका भय दबा रहता है, अथवा जब तक हम उसे विवश होकर स्वीकार करते रहते हैं, तब तक ऐसे संवाद का मूर्त होना असम्भव है। अतः समस्या की ओर देखने का हमारा दृष्टिकोण सम्यक् है या नहीं, इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है। यहीं से समस्या का आकलन प्रारम्भ होता है। लेकिन जब तक समस्या का समाधान खोजने की, अर्थात् उसे एक ओर पटक देने की चिन्ता लगी रहती है, तब तक उससे सम्यक् सम्बन्ध जोड़ना कैसे सम्भव होगा? सम्यक् सम्बन्ध

का अर्थ है सुसंवाद । जब तक हमारे मन में समस्या से सम्बद्ध प्रवृत्तिशील या निवृत्तिशील प्रतिकार रहता है, तब तक इस सुसंवाद का मूर्त होना सम्भव नहीं । स्वयं समस्या की अपेक्षा समस्या को देखने का दृष्टिकोण ही महत्त्वपूर्ण होता है । यह सम्यक् दृष्टिकोण ही उसके स्वरूप को उघाड़कर दिखाने तथा उसका अन्त लाने में कारणीभूत होता है । यहाँ साध्य और साधन सम्यक् दृष्टिकोण से भिन्न नहीं होते । समस्या का समाधान कैसा होगा, यह दृष्टिकोण से ही तय होता है । अतएव हम समस्या की ओर किस दृष्टि से देखते हैं, यही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है । क्योंकि, सामान्यतः इस बारे में आपकी पूर्वग्रह, आपकी भीति और आपकी आशा-अपेक्षाओं का रंग दृष्टिकोण पर चढ़ता रहता है । समस्या को देखने के दृष्टिकोण के बारे में रुचि-अरुचिरहित अवधान कायम रहा तो सम्यक् दृष्टिकोण स्वयं मूर्त होगा । हमारी समस्या वस्तुतः हमारे द्वारा ही निर्मित होती है । अतः स्वतःविषयक ज्ञान, आत्मज्ञान यहाँ आवश्यक है । वस्तुतः हम और हमारी समस्या, दोनों एकरूप ही होते है, ये दोनों भिन्न प्रक्रियाएँ नहीं होतीं । हम ही अपनी समस्या होते हैं ।

अहं के सारे व्यापार अतिशय अरुचिकर होते हैं । अहं ऊब पैदा करनेवाली, मूलतः निरर्थक, निष्फल और जीवनी शक्ति का ह्रास करनेवाली वस्तु है । इस अहं की परस्परविरोधी और संघर्षमय अभिलाषाएँ उसकी आशाएँ-अपेक्षाएँ, निराशाएँ और उसका तथाकथित सत्य और सत्याभास—सब अत्यन्त मोहनेवाली होती हैं । फिर भी वे सब खोखली और रीती होती हैं । सतत चलनेवाले इन व्यापारों के कारण अहं खुद थक जाता है । यह अहं सतत ऊपर चढ़ता है और नीचे गिरता है, सतत किसीके पीछे दौड़ता रहता है और अखण्ड विफलता झेलता रहता है, बराबर घालमेल करता रहता है और विफलता के इस थकानेवाले घेरे से बाहर निकलने के लिए बराबर बहाने खोजता रहता है । ये बहाने हैं—बाह्यकार्य, संतोषदायक भ्रम, शराब, विषयोपभोग, रेडियो, पुस्तकें, ज्ञान-संपादन अथवा मनोरंजन आदि में मन को उलझाना आदि । अहं का भ्रम-निर्माण का सामर्थ्य प्रचण्ड और विविध प्रकार का होता है । ये भ्रम अहं के स्वयं के निर्माण किये हुए तथा विक्षेपित होते हैं । ध्येयों, गुरुओं और उद्धारकर्ताओं के सम्बन्ध में श्रद्धायुक्त कल्पनाओं में विचरना अथवा स्व-समृद्धि के एक साधन की दृष्टि से भविष्य के मनोरम चित्र बनाना—ऐसे ये सब भ्रम के रूप होते हैं । अपनी अरुचि से मुक्त होने के प्रयत्न में अहं विविध आन्तरिक और बाह्य संवेदनाओं और उत्तेजनाओं के पीछे सतत दौड़ता रहता है । अहंशून्यता का अविरत भय लगता रहता है । अतः अहं अपनी शून्यता को भरता रहता है और इन विविध प्रकारों में अपने को डुबाये रखने का आशापूर्ण प्रयत्न करता रहता है । यह प्रयत्न अनेक बार यशस्वी होता है । लेकिन इस सफलता के कारण अहं की थकान बढ़ती ही जाती है । अपने को

डुबाये रखने के लिए वह एक के पीछे एक अनेक प्रकारों का आश्रय लेता है और इस प्रत्येक में नयी-नयी समस्याएँ, संघर्ष और दुःख निर्माण होते रहते हैं।

आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की आत्मविस्मृति अहं के लिए आवश्यक है। कुछ लोग धर्म की ओर झुकते हैं तो कुछ लोग किसी न किसी सामाजिक कार्य या उद्योग की ओर। वस्तुतः किसी भी साधन से आत्मविस्मृति सम्भव नहीं है। आंतरिक या बाह्य कोलाहल द्वारा कुछ समय के लिए अहं दबाया जा सकता है, लेकिन वह शीघ्र ही भिन्न स्वरूप में या भिन्न वेश में ऊपर उठ जाता है। क्योंकि, जो-जो दबाया जाता है, वह मुक्ति की राह खोजता ही रहता है। शराब के द्वारा, विषयोपभोग के द्वारा, पूजा अर्चना के द्वारा अथवा ज्ञान-सम्पादन के द्वारा आत्मविस्मृति लाने के प्रयत्न के कारण परावलम्बन बढ़ता ही जाता है। फिर जिस बात पर आप अवलम्बित रहते हैं, वही नयी समस्या निर्माण करती रहती है। आत्मविस्मृति के लिए, सुख के लिए अथवा मुक्तता के लिए यदि आप शराब पर अथवा किसी गुरु पर अवलम्बित रहेंगे तो शराब या गुरु ही आपके सामने समस्या का रूप धारण करेंगे। इस परावलम्बन मे से मालिकी की, मत्सर की और भय की भावना उत्पन्न होती है, और फिर यह भय और इस भय को विनष्ट करने के उपाय ही आपके समक्ष महत्त्वपूर्ण समस्या का रूप धारण कर लेते हैं। सुख की खोज के पीछे हम नयी-नयी समस्याएँ निर्माण करते रहते हैं और फिर हम इन समस्याओं में ही अटक जाते हैं। विषयोपभोग के कारण मनुष्य को जो आत्मविस्मृति होती है, उससे किंचित् और तात्कालिक सुख प्राप्त होता है और फिर अपनी अभिलाषा पूरी करने के एक साधन की दृष्टि से हम इस सुख का उपयोग करते रहते हैं। वस्तुतः किसी भी साधन द्वारा जो सुख प्राप्त किया जाता है, उससे सतत संघर्ष ही उत्पन्न होता है। फिर सुख की अपेक्षा सुख के साधनों को ही बेहद महत्त्व और अर्थगर्भता प्राप्त होती रहती है। मान लीजिये, इस कुर्सी के सौन्दर्य से मुझे सुख मिलता है, तब यह कुर्सी ही मुझे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लगने लगेगी और फिर उसे दूसरा कोई न ले जाय, इसके लिए उसका रक्षण करते रहना मेरे लिए स्वाभाविक हो जायगा। इस सारे प्रयत्न में उस कुर्सी के सौन्दर्य से मुझे पहले जो सुख मिल रहा था, वह पूरी तरह लुप्त हो जाता है, भुला जाता है और वह कुर्सी मात्र ही मेरे पास रह जाती है। वस्तुतः कुर्सी का अपना कोई मूल्य नहीं हैं। लेकिन अब वह मेरे सुख का साधन बन गयी होती है, इसलिए मैंने उसको बहुत अधिक महत्त्व दे रखा है। इस प्रकार सुख का साधन ही स्वयं सुख की जगह ग्रहण करता रहता है।

जब कोई जीवित व्यक्ति मेरे सुख का साधन बनता है, तब तो यह संघर्ष, यह धांधली, यह विरोध और यह वेदना अतिशय तीव्र हो जाती है। वस्तुतः दो

व्यक्तियों के बीच का रिश्ता पारस्परिक उपयोग के आधार पर बना हो तो क्या वह वास्तव में रिश्ता भी है ? क्या वह केवल उपयोग करनेवाले और उपयोग में आनेवाले के बीच का अत्यन्त उथला और अत्यन्त ऊपर-ऊपर का ही सम्बन्ध नहीं होता ? अपने सुख के लिए यदि मैं आपका उपयोग साधन के रूप में करने लगता हूँ, तो मेरे और आपके बीच किसी भी प्रकार का अर्थपूर्ण रिश्ता कायम हुआ है, ऐसा कहा जा सकेगा ? दो व्यक्तियों का भिन्न-भिन्न स्तर पर पारस्परिक सुखवाद ही उनका रिश्ता है । लेकिन दूसरा व्यक्ति मेरे सुख का केवल साधन या उपकरण होगा तो उस व्यक्ति से सुसंवाद साधा जाना क्या कभी सम्भव है ? इस प्रकार दूसरों का उपयोग करने से हम अन्य सबसे टूटकर केवल अपने चारों ओर घेरा डालकर अहं-परिवेष्टित होकर नहीं बैठ जाते हैं ? और ऐसे अहं-परिवेष्टन से हम सुखी होंगे, ऐसी मिथ्या धारणा नहीं बना लेते हैं ? इसी अहं-परिवेष्टन को दूसरों से रिश्ता जोड़ना, ऐसा हम कहने लगते हैं। लेकिन इस प्रक्रिया में सुसंवाद का लेश भी नहीं होता । क्योंकि जहाँ भय नहीं होता वहीं सुसंवाद फैलता है। परन्तु जहाँ दूसरे का केवल साधन के रूप में उपयोग किया जाता है और इस कारण उस दूसरे पर हम अवलम्बित रहने लगते हैं, वहाँ भय और दुःख अखण्ड रूप से घर करते रहते हैं। वस्तुतः सबसे अलग रहना किसीके लिए भी सम्भव नहीं । अपने चारों ओर परिवेष्टन डालने का मन का यह प्रयत्न, उसकी विफलता और दुःख के लिए ही कारणीभूत होता है। इस प्रकार उत्पन्न होनेवाली अपूर्णता की भावना में से अपना छुटकारा कर लेने के लिए हम ध्येय-कल्पनाओं के द्वारा, व्यक्तियों या वस्तुओं के द्वारा पूर्णता प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार अपने सुख के लिए जहाँ से हमने काल्पनिक प्रमेयों का शोध प्रारंभ किया था, वहीं लौटकर पहुँच जाते हैं।

जहाँ जहाँ अहं का व्यापार अपना प्रभाव दिखाता है, वहाँ-वहाँ नयी-नयीं समस्याएँ खड़ी होती ही रहती हैं । इसलिए इस बात की सतत जाग्रत जानकारी रखनी चाहिए कि कौन-सा व्यापार अहं-प्रवर्तित है और कौन-सा नहीं है । इसके लिए अखण्ड सावधानता आवश्यक है । यह सावधानता अनुशासन से उत्पन्न अवधान नहीं होता । इस सावधानता का मतलब है रुचि-अरुचिरहित सर्वव्यापक सर्वावधानता । अनुशासन द्वारा विशेष रूप से केन्द्रित किया गया लक्ष्य अहं की सामर्थ्य बढ़ाता रहता है । वह असल के बदले नकल की तथा परावलम्बन की ही प्रतिष्ठापना करता रहता है । इसके विपरीत सर्वावधानता अहंप्रवृत्ति नहीं होती, वह साधनों की परिणति नहीं होती । सर्वावधानता का अर्थ है प्रश्नों का गहरा और गुप्त-सुप्त तथा उथला और ऊपर-ऊपर का—ऐसे समस्त आशयों का आकलन । मन के गहरे स्तर का दर्शन होने के लिए पहले पृष्ठभाग की घटनाओं का आशय समझना चाहिए । पृष्ठभाग में

जमकर बैठे हुए मन के मुक्त और शान्त हुए बिना गुप्त, गहरे स्तर का व्यापार प्रकाश में आयेगा ही नहीं। यह सम्पूर्ण प्रक्रिया शाब्दिक नहीं है, न वह केवल अनुभव के स्वरूप की है। शाब्दिक स्तर पर विचरते रहना बुद्धिहीनता है। अनुभव, स्मृति-संचयात्मक होने से वह सदैव गतार्थ की ही पुनरावृत्ति करता रहता है। सावधानता निश्चय करने से मिलनेवाली चीज नहीं है। क्योंकि, विशिष्ट हेतु मन में रखकर किसी मार्ग से जाने का मतलब है किसी-न-किसीका प्रतिकार करते रहना। इसके कारण केवल स्वसंकोच ही मूर्त होता रहता है। वस्तुतः जो 'है' उसका रुचि-अरुचि-रहित निस्तब्ध अवलोकन ही सावधानता है। ऐसी सावधान-अवस्था में समस्या ही अपना स्वरूप खोलकर दिखाती है। इस प्रकार उस समस्या का सम्पूर्ण आकलन होता है।

मन के जिस स्तर में से समस्या खड़ी होती है, उस स्तर पर उसका हल करना कभी सम्भव नहीं। क्योंकि, अत्यन्त जटिल होने से उसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया का आकलन आवश्यक है। इसलिए शारीरिक अथवा मानसिक, किसी एक स्तर पर समस्या के समाधान का प्रयत्न करने से अधिक संघर्ष और गड़बड़ी उत्पन्न होती है। उसे हल करने के लिए उसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया दिखानेवाली निवृत्तिशील, अकरणशील तरल और विमुक्त सावधानता आवश्यक है।

प्रीति संवेदना नहीं है। संवेदनाएँ शब्दों तथा प्रतीकों के द्वारा विचारों को जन्म देती हैं। फिर संवेदना और विचार ही प्रीति का स्थान ले लेते हैं। प्रीति के स्थान पर उनकी ही स्थापना की जाती है। विषयोप भोग की अभिलाषा जैसे केवल मन की निर्मिति हैं, वैसे ही संवेदना भी केवल मन की निर्मिति है। मन स्मृतियों के द्वारा वासना को पोषित करता रहता है और उन्हींमें से सुखद संवेदना प्राप्त करता है। मन परस्पर-विरोधी विविध अभिलाषाओं और रुचियों का बना होता है और प्रत्येक अभिलाषा की संवेदना भिन्न और पृथगात्म होती है। इनमें से किसी एक अभिलाषा की संवेदना जब दूसरी पर प्रभाव जमाने लगती है तो उसका दूसरी संवेदनाओं से संघर्ष शुरू हो जाता है और तभी समस्या उत्पन्न होती है। संवेदनाएँ सुखद और दुखद दोनों प्रकार की होती हैं। लेकिन मन तो केवल सुखद संवेदनाओं से ही चिपका रहता है और उन विशिष्ट संवेदनाओं का गुलाम बन जाता है। गुलामी का यह बन्धन ही फिर समस्या बन जाता है। क्योंकि, मन नाना तरह की और परस्पर-विरोधी संवेदनाओं का आश्रय-स्थान है। दुःखद संवेदनाओं को सतत टालते रहना भी एक प्रकार का बन्धन ही है, और इसके कारण भी तरह-तरह के भ्रम तथा समस्याएँ पैदा होती रहती हैं। मन स्वयं ही समस्याएँ उत्पन्न करता रहता है। इसलिए समस्या का समाधान करना उसके लिए सम्भव नहीं है। प्रीति वस्तुतः मन की रचना नहीं है। लेकिन मन जब प्रीति की जगह लेने लगता है, तब संवेदनाएँ

उत्पन्न होती हैं और फिर इन्हीं संवेदनाओं को वह 'प्रीति' कहने लगता है। यह मनोनिर्मित तथाकथित प्रीति ही विचारों का विषय हो सकती है, उस पर अनेक सुन्दर आवरण चढ़ाये जाते हैं और उनके कारण उसकी पहचान हो सकती है, और मन गतकाल की सुखद संवेदनाओं का स्मरण कर सकता है। यह प्रक्रिया किसी भी स्तर पर हो तो भी वह वस्तुतः तृष्णा ही होती है, वासना ही होती है। मन के क्षेत्र में प्रीति का कोई स्थान नहीं। मन के परिसर में भीति और लेखा-जोखा, असूया और प्रभुत्व, तुलना और अस्वीकृति—इन्हीं सब बातों का निवास होता है और इसी-लिए यहाँ प्रीति का निवास हो नहीं सकता। अभिमान की तरह ईर्ष्या भी मन की कोटि में ही आती है, परन्तु वह प्रीति नहीं है। मन की विविध प्रक्रियाओं से प्रीति को किसी भी सेतु से जोड़ना अथवा उनकी एकरूपता कभी सम्भव नहीं। जब संवे-दनाएँ बलवती होती हैं, तब प्रीति से लिए गुंजाइश नहीं रहती। सारा हृदय मनोनिर्मित बातों से ही भर जाता है। इस प्रकार सीमा से पार की गयी प्रीति गहनगूढ़ और अज्ञात हो बैठती है। फिर इस गूढ़ अज्ञात का पीछा किया जाता है, उसकी पूजा की जाती है, प्रीति का ध्येय अथवा आदर्श बनाया जाता है। और फिर इस ध्येय पर निष्ठा रखना और फिर उस ध्येय का उपयोग करना—यह सब शुरू होता है। ध्येय हमेशा अहं-विक्षेपित होता है। इस तरह यह अहं, यह मन, पूरे जीवन पर ही अपना साम्राज्य स्थापित करता रहता है। फिर प्रीति केवल एक शब्द, एक संवेदना के रूप में ही शेष रह जाती है। ऐसा होने पर 'मेरी प्रीति अधिक है, तुम्हारी प्रीति कम है' ऐसी तुलना भी की जाती है। वस्तुतः प्रीति जैसे व्यक्तिगत नहीं होती, वैसे ही व्यक्तिशून्य भी नहीं होती। जहाँ विचारों के रूप में रहनेवाली संवेदनाओं का पूर्ण अभाव हो जाता है, वहीं प्रीति का चिन्मय अस्तित्व होता है।

४२. एकाकीपन

उसके पुत्र का हाल में ही देहान्त हुआ था और अब उसे सूझ नहीं रहा था कि वह क्या करे। वह कह रही थी : "अब दिन इतना खाली-खाली लगता है, मन में इतनी थकान और ऊब लगती है और सतत इतना दुःख छाया रहता है कि इससे तो मरना अच्छा।" भरे हुए हृदय से वह अपनी कथा सुना रही थी कि अपने बेटे को मैंने बड़ी सावधानीभरे स्नेह से विवेकपूर्वक पाला-पोसा था, अच्छी से-अच्छी पाठ-शाला और विद्यालय में उसे पढ़ने भेजा था, उसकी मनपसन्द सारी चीजें देते हुए भी उसे कभी सिर पर नहीं चढ़ने दिया था। मैंने अपनी सारी आशा-आकांक्षाएँ उसी

पर केन्द्रित कर दी थीं। अपना पूरा प्यार उसी पर बिखेर दिया था, क्योंकि बहुत वर्षों से पति से विलग होने पर प्रेम का दूसरा कोई साझीदार नहीं रह गया था। उसने बताया कि उसके पुत्र के रोग का गलत निदान होने से उसकी शल्य-चिकित्सा की गयी और वह मर गया। उसने यह भी बताया कि डॉक्टरों ने कहा था कि आपरेशन सफल रहा था। अत्यन्त दुःखी अन्तःकरण से वह कह रही थी कि अब वह एकाकी रह गयी है और इस कारण उसका जीवन अतिशय निरर्थक और भाररूप हो गया है। पुत्र की मृत्यु के बाद इतने आँसू गिराये हैं कि अब वे सूख गये हैं, अब तो केवल थकान के बाद की संवेदनशून्य रिक्तता ही शेष है। उसने अपने और बेटे के लिए कितनी योजनाएँ बनायी थीं, लेकिन अब सब-कुछ पूरी तरह नष्ट हो गया है।

समुद्र की ओर से आनेवाली वायुलहरी सौम्य, शीतल और चैतन्यदायिनी थी। वृक्ष की छाया में शांति व्याप्त थी। दूरस्थित पर्वतों के विविध रंगों में एक निराली ही सजीवता का दर्शन होता था। नीलकण्ठ जोर से बोल रहे थे। पास ही एक गाय विचर रही थी और उसका बछड़ा पीछे-पीछें चल रहा था। एक गिलहरी तेज आवाज करके बगल के पेड़ पर तेजी से चढ़ गयी। वह एक शाखा पर बैठकर किसी पर गुर्राने लगी। बहुत देर तक वह गुर्राती रही और इस आवेग में उसकी पूँछ बराबर ऊपर-नीचे होती रही। उसकी आँखों में विलक्षण चमक थी, पंजों में तीक्ष्णता थी। उधर एक गिरगिट धूप खाने के लिए बाहर निकला और चट से उसने एक मक्खी पकड़ ली। वृक्ष की शाखाओं के सिरे मन्द-मन्द डोल रहे थे। एक सूखा हुआ ठूँठ आकाश की पार्श्वभूमि पर अकड़ के साथ खड़ा था, सूर्य की प्रखर धूप में भुन जाने के कारण उस पर एक प्रकार की सफेदी चढ़ गयी थी। उसके पास ही एक दूसरा ठूँठ खड़ा था। वह हाल का सूखा हुआ होने से झुका हुआ तथा काला-सा था। दूर पहाड़ पर कुछ बादल छाये हुए थे।

एकाकीपन कितना भयानक और विचित्र होता है। यों हम अपने को कभी उसके पास जाने नहीं देते और भूलकर कभी उसके पास चले ही गये तो तत्काल वहाँ से भागने लगते हैं। एकाकीपन से दूर भागने के लिए अथवा उसे ढँक देने के लिए हम चाहे जो करते हैं। एकाकीपन टालने के अथवा उसे निश्चयपूर्वक एक बाजू रखने के प्रयत्न में जाने-अनजाने सतत डूबे रहते हैं। वस्तुतः एकाकीपन को टालने का प्रयत्न करना अथवा उसे निश्चयपूर्वक एक ओर फेंकने का प्रयत्न करना, दोनों बातें व्यर्थ हैं। क्योंकि, एकाकीपन का विरोध किया जाय अथवा उसकी उपेक्षा की जाय, फिर भी उसका शल्य, उसकी समस्या ज्यों की त्यों कायम रहती हैं। लोगों की भीड़ में अपने को झोंक देने पर भी आप पूरी तरह अकेले-अकेले ही रहते हैं। एकाध कार्य में उत्कटता से डूब जायँ तो भी एकाकीपन धीरे-धीरे, चोरी-छुपे अपने अस्तित्व का ज्ञान हमें करा देता है। हाथ की पुस्तक नीचे रखते ही वह सामने आ खड़ा होता है।

किसी भी प्रकार के मनोरंजन में या शराब के नशे में एकाकीपन को डुबाया नहीं जा सकता। इन साधनों से उसे कुछ समय तक टाल सकते हैं, लेकिन मनोरंजन द्वारा निर्मित खुशी की हँसी खतम होने पर अथवा शराब का नशा उतरने पर एकाकीपन का भय पुनः लौट आता है। आप बहुत बड़े महत्त्वाकांक्षी अथवा यशस्वी पुरुष हों, दूसरों पर सत्ता चलाने की प्रचण्ड सामर्थ्य भी आपमें हो, अथवा कर्मकाण्ड की खोखली विधियों में आप अपने को भूल जाते हों, लेकिन कुछ भी करें, एकाकीपन की वेदना भीतर ही भीतर वैसे ही सालती रहती है। आप अपने लड़के के लिए जीयें, गुरु के लिए जीयें अथवा अपनी कला की अभिव्यक्ति के लिए जीयें, लेकिन अन्ततः घनी कालिमा की भाँति एकाकीपन आपको घेर ही लेता है। आप प्रेम करते रहें या द्वेष, आप अपनी मनोवैज्ञानिक पुकारों या वृत्तियों के अनुसार उनसे भागते रहें, लेकिन एकाकीपन कायम ही रहता है। कभी वह आपका निरीक्षण करता है, कभी आपकी प्रतीक्षा में खड़ा रहता है। कभी वह आपसे दूर चला जाता है, लेकिन फिर दूने जोर से आपको आ घेरता है।

एकाकीपन का अर्थ है सबसे दूर जाने का ज्ञान, अपने संकुचित होने का ज्ञान। यों देखा जाय तो हमारी सारी कृतियाँ क्या स्व-संकोचक ही नहीं होतीं ? हमारी भावनाएँ और हमारे विचार दीखने में विस्तारशील हों, तो भी क्या वे वर्जनशील और विभाजक नहीं हैं ? हमारे जो नाते-रिश्ते हैं, हक और मालिकी की जो बातें हैं, उनमें भी क्या दूसरों पर प्रभाव जमाने की अभिलाषा हमारे भीतर नहीं होती ? और इस अभि-लाषा के कारण दूसरों को अपना विरोध या प्रतिकार करने के लिए क्या हम बाध्य नहीं करते हैं ? अमुक कार्य 'मेरा' है और अमुक 'पराया', ऐसा भेद क्या हम हमेशा नहीं करते हैं ? केवल अपने ही देश से, किसी विशिष्ट समूह से अथवा थोड़े-से व्यक्तियों से क्या हम एकरूपता प्राप्त नहीं करते ? हमारी सम्पूर्ण वृत्तियों का झुकाव अपने को दूसरों से भिन्न मानने का, दूसरों से अपने को दूर कर डालने का अथवा तोड़कर अलग करने का नहीं होता ? अहं का मूल व्यापार दूसरों से अपने को तोड़ने-वाला ही होता है फिर वह किसी भी स्तर का हो। अहं का कार्य समाप्त होने की जानकारी ही एकाकीपन है। अहं का प्रत्येक व्यापार अहं-विस्तार का ही साधन बनता है—फिर वह व्यापार शारीरिक स्तर का हो या मानसिक स्तर का। अतः जब कोई कार्य नहीं रह जाता, तब अहं के खोखलेपन की जानकारी हमें होती है। इस रिक्तता को भर डालने की हमारी दौड़-धूप बराबर चलती रहती है। इस काम में हम अपना पूरा जन्म बिता देते हैं, फिर यह दौड़-धूप क्षुद्र कोटि की हो या उदात्त कोटि की। अपनी आन्तरिक रिक्तता को उदात्त कोटि की कृतियों से भरने में सामाजिक दृष्टि से कोई हानि नहीं है, ऐसा ऊपर-ऊपर से दीख सकता है। लेकिन इससे जो भ्रम निर्माण होते हैं, उनमें प्रारम्भ में कुछ पता न चले तो भी अन्त में

अपार दुःख और विनाश का ही उद्‌भव होता है। आन्तरिक रिक्तता को भरने की जो यह लालसा अथवा उसीके दूसरे स्वरूप रिक्तता से दूर भागने की जो यह अभिलाषा है– इसका जैसे निरोध नहीं किया जा सकता, वैसे ही उसका उदात्तीकरण भी नहीं किया जा सकता। क्योंकि, निरोध करनेवाला अथवा उदात्तीकरण करनेवाला है कौन ? क्या वह लालसा का ही भिन्न स्वरूप नहीं है ? लालसा के विषय बदल सकते हैं, लेकिन सब विषयों के पीछे क्या एक लालसा ही नहीं होती ? माना कि लालसा का विषय शराब है, तो उसे बदलकर आप दूसरी किसी भी विचार-प्रणाली को अथवा किसी काल्पनिक ध्येय को स्वीकार कर सकते हैं, लेकिन विषयों को बदलते हुए भी, लालसा की मूलभूत प्रक्रिया को यदि नहीं समझा है, तो लालसा में से भ्रम का निर्माण होगा ही।

वस्तुस्थिति यह है कि लालसा से भिन्न 'अहं' नामक वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है। केवल लालसा ही लालसा है। लालसा रखनेवाला कोई नहीं है। लालसा अपनी रुचि के अनुसार समय-समय पर अनेक मुखौटे धारण करेगी। भिन्न-भिन्न प्रकार की रुचियों की जो स्मृतियाँ मन में संचित होती हैं, उनके चश्मे लगाकर वर्तमान की नयी घटनाओं की ओर देखते ही संघर्ष शुरू हो जाता है। इस संघर्ष में से ही नये-पुराने का चयन करनेवाला 'अहं' पैदा होता है। फिर यह अहं लालसा से भिन्न अपना अस्तित्व प्रस्थापित करने लगता है। वस्तुतः लालसा से भिन्न अहं नामक वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है। रिक्तता, अपूर्णता अथवा एकाकीपन को भरनेवाली अथवा उनसे दूर भागने का प्रयत्न करनेवाली अहं नामक जो वस्तु मानी जाती है, वह वस्तुतः जिनसे दूर जाना चाहती है उनसे भिन्न नहीं होती। रिक्तता, अपूर्णता अथवा एकाकीपन का मतलब ही अहं है, इसलिए अहं का स्वयं से दूर भागना संभव ही नहीं। अपने व्यापारों की सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त करना ही अहं के लिए सम्भव है, क्योंकि उसका यह एकाकीपन, यह रिक्तता वह स्वयं ही है। जब तक वह यह समझता रहेगा कि ये बातें उससे भिन्न हैं, तब तक वह भ्रम में और अखण्ड संघर्ष में अटका रहेगा। हम ही अपने एकाकीपन हैं, इस बात का जब प्रत्यक्ष साक्षात्कार होगा, तभी वह भय से मुक्त होगा। जब अहं किसी कल्पना से सम्बद्ध हो जाता है अथवा एकरूपता प्राप्त करता है, तभी भय प्राप्त होता है। यह कल्पना स्मृति द्वारा निर्मित विचार ही है। और इन विचारों के रूप में कल्पना ही वासना को उत्तर देती है। विचार गतानुभवों का परिणाम है। इसलिए वह रिक्तता-विषयक चिन्तन कर सके अथवा उसमें कुछ संवेदना हो जाय, तो भी रिक्तता का प्रत्यक्ष ज्ञान संभव नहीं। 'एकाकीपन' शब्द के चारों ओर दुःख और भय की स्मृतियाँ जुड़ी रहती हैं और इस कारण 'एकाकीपन' शब्द ही, एकाकीपन का नये सिरे से अनुभव लेने में बाधक बनता है। यहां प्रक्रिया यह है कि शब्द स्मृतिरूप होने से एक बार शब्द का

महत्त्व शून्य होते ही अनुभविता और अनुभव किये जानेवाले दोनों का सम्बन्ध पूरी तरह भिन्न हो जाता है। तब यह सम्बन्ध प्रत्यक्ष और साक्षात् होता है और वह शब्दों तथा स्मृति के द्वारा ढँका नहीं जाता। ऐसी स्थिति में अनुभविता और अनुभव किये जानेवाले के सारे अन्तराय शून्यवत् हो जाने से अनुभविता ही अनुभव बनता है, और तभी भय से मुक्ति प्राप्त होती है।

प्रीति और रिक्तता कभी एक साथ नहीं रह सकतीं। जब एकाकीपन का भाव पैदा होता है, तब वहाँ प्रीति नहीं रहती। 'प्रीति' के नाम पर हम अपनी रिक्तता की भावना छिपा सकते हैं। लेकिन प्रीति का विषय जब निकट नहीं होता अथवा जब प्रीति को वह प्रतिध्वनित नहीं करता, तभी रिक्तता का बोध होता है और निराशा की भावना पैदा होती है। स्वयं अपने से, अपनी अपूर्णता से दूर भागने के साधन के रूप में हम 'प्रीति' शब्द का प्रयोग करते हैं। जिस पर हमारी प्रीति होती है, उससे हम चिपके रहते हैं। फिर मत्सरग्रस्त बन जाते हैं। हमारा प्रीति का विषय निकट न होने पर हमें खोया-खोया-सा लगता है, और उसके मरते ही हमें सब-कुछ गँवा देने जैसा लगता है। फिर हम दूसरे किसी भी रूप में, किसी निष्ठा में अथवा और किसी दूसरी चीज में समाधान ढूँढ़ने लगते हैं। लेकिन क्या यह सब प्रीति है? प्रीति कोई कल्पना नहीं है, वह परस्पर सहवास का परिपाक नहीं है। अपनी स्वयं की दुःस्थिति से दूर भागने के साधन के रूप में उपयोग में आनेवाली वस्तु प्रीति नहीं है। जब हम प्रीति का इस प्रकार उपयोग करने लगते हैं, तब हस कभी भी हल न होनेवाली समस्याएँ पैदा करते हैं। प्रीति कोई शून्यमनस्कता नहीं है। हमारी कल्पनाएँ, हमारे मन आदि का निर्णायक महत्त्व जब समाप्त हो जाता है, तभी प्रीति की अनुभूति होती है।

४३. सुसंगति

वह व्यक्ति जितना बुद्धिमान् था, उतना ही उद्योगशील था। अच्छी चुनी हुई पुस्तकें पढ़ने की उसमें विशेष रुचि थी। वह विवाहित था, लेकिन लगता था कि परिवार में फँसा हुआ नहीं है। वह अपने को आदर्शवादी सामाजिक कार्यकर्ता समझता था। राजनीतिक विचारों के कारण उसने जेल-यात्रा भी की थी। उसका मित्र-परिवार काफी बड़ा था। स्वयं अपने लिए अथवा अपने पक्ष के लिए बड़ा नाम या प्रतिष्ठा प्राप्त की जाय, ऐसा उसे बिलकुल नहीं लगता था। उसकी यही धारणा थी कि 'उसका पक्ष और वह भिन्न है।' उसकी अभिलाषा ऐसा सामाजिक कार्य करने की थी कि जिससे मानव-सुख में कुछ वृद्धि हो। उसे धार्मिक वृत्तिवाला कहा जा

सकता था, लेकिन उसमें भावुकता या अन्धश्रद्धा कतई नहीं थी। किसी भी विशिष्ट धार्मिक विधि या आचार में उसकी श्रद्धा नहीं थी। वह इस जगत् में, प्रकृति में तथा अपने अन्तःकरण में जो परस्पर-विरोध अथवा संघर्ष सतत चलता रहता है, उसके विषय में चर्चा करने यहाँ आया था। उसका स्पष्ट मत था कि बुद्धिमान् और मन्द-बुद्धि में, अपने अन्तःकरण की परस्पर-विरोधी अभिलाषाओं में, शब्द और कृति में तथा कृति और विचार में जो अविरत संघर्ष चलता रहता है, वह अपरिहार्य ही है। उसे लगता था कि यह संघर्ष, यह परस्पर-विरोध सर्वत्र व्याप्त है।

जीवन में सुसंगति अथवा संघर्षशून्यता साधने का बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करने का अर्थ है स्वतः को बुद्धिशून्य बना डालना। किसी आदर्श आचार-प्रचार के अनुसार, किसी विचार-प्रणाली के अनुसार अथवा विशिष्ट परम्परा के अनुसार बिलकुल अचूक रूप से आचरण करना, स्वतन्त्र रूप से विचार करने का दुःख और कष्ट झेलने की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक, सरल और अधिक विश्वसनीय होता है। अपने किसी आंतरिक आदेश अथवा किसी अधिकारी व्यक्ति के आदेश को अमल में लाने में भी कोई प्रश्न उपस्थित करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। उसके लिए विचार करने की अथवा विचारों के साथ आनेवाली चिन्ता अथवा क्षोभ का कष्ट सहने की भी आवश्यकता नहीं रह जाती। अपने स्वयं के निष्कर्षों, अनुभवों, पक्के निर्णयों के अनुसार आचरण करते रहने पर भी हमारे मन में संघर्ष निर्माण नहीं होता। हम तय किये गये हेतुओं से सुसंगत आचरण करते रहते हैं। एक विशिष्ट मार्ग निश्चित करके, जरा भी इधर-उधर न होकर, उस पर सीधे चलते रहते हैं। जिसके कारण बहुत क्षोभ और संघर्ष पैदा न हो और जिसमें मनोवैज्ञानिक सुरक्षितता मिले, क्या ऐसा ही जीवन-मार्ग हममें से अधिकांश लोग नहीं चाहते? पूर्वनिश्चित आदर्श के अनुसार आचरण करनेवाले मनुष्य का हम कितना आदर करते हैं! ऐसे व्यक्तियों के उदाहरण आदर्श, पूज्य, अनुकरणीय के रूप में ही जगत् के सामने रखते हैं। किसी ध्येय के निकट पहुँचने के लिए अवश्य ही कुछ न कुछ प्रयास और संघर्ष करना पड़ता है, तो भी कुल मिलाकर वह सुखद और संतोषदायक ही लगता है। क्योंकि, ये ध्येय हमने ही अपने मन से निर्माण किये हैं। धार्मिक क्षेत्र हो या लौकिक क्षेत्र, हम स्वयं ही अपने आदर्श पुरुष का चुनाव करते हैं और फिर इस आदर्श पुरुष का अनुकरण करते हैं। अपने आदर्श से सुसंगत रहने की अभिलाषा के कारण हममें एक निराली ही सामर्थ्य पैदा होती है और उससे एक अनोखा सन्तोष प्राप्त होता है। जिस आस्था से हम यह सब करते रहते हैं, उसकी भावना में एक प्रकार की मानसिक निश्चिन्तता होती है। लेकिन आस्था का अर्थ सादगी नहीं है और सादगी के बिना यथार्थ बोध होना कभी सम्भव नहीं है। यह सही है कि विचार के बाद तय किये गये किसी जीवन-आदर्श के साथ सुसंगत आचरण करते रहने से कुछ विशेष साध्य करने की

मनुष्य की अभिलाषा तृप्त होती है और ध्येय-प्राप्ति में उपलब्ध यश के कारण उसे अधिक सुख-सुविधा और निश्चिन्तता मिलती है। लेकिन कोई आदर्श सम्मुख रखकर, वहाँ तक पहुँचने का अविरत प्रयत्न करते रहने के कारण, एक प्रकार का आन्तरिक प्रतिकार उत्पन्न होता रहता है। बाह्य वस्तुस्थिति से मेल बैठाने की प्रवृत्ति उस आदर्श के चौखटे तक ही मर्यादित रहती है। इस प्रकार आदर्श के साथ सुसंगतिपूर्वक बरतते रहने से निश्चिन्तता का और निःशंकता का लाभ होता है। इसीलिए, चाहे जो हो जाय, आदर्श के साथ सुसंगत रहने का हम उग्र प्रयास करते हैं। लेकिन इसके कारण आन्तरिक प्रतिकार नष्ट नहीं होता।

आन्तरिक विरोध की स्थिति में रहने का अर्थ है दुःख और संघर्षभरे जीवन में रहना। वस्तुतः अहं का मूल ढाँचा ही परस्पर-विरोधी है। ये परस्पर-विरोधी बातें तरह-तरह के मुखौटे लगाती हैं। अहं की सम्पूर्ण रचना ही मूलतः परस्पर-विरोधी मूल्यों, रुचियों, अलग-अलग स्तरों की विधि, अभिलाषा और वासना—इन सबके परिपाक से ही होती है। ये सब अभिलाषाएँ और वासनाएँ अपने-अपने विरुद्ध का निर्माण करती रहती हैं। प्रत्येक अभिलाषा का प्रेरक हेतु अलग-अलग होता है। अनेक बार तो वह अन्य आशा-आकांक्षाओं के विरुद्ध होता है। इन परस्परविरुद्ध बातों का उलझाव ही हमारा अहं है। जीवन में विविध प्रकार के प्रसंग खड़े होने पर अथवा तीव्र संवेदनाएँ निर्माण होने पर हमारी अभिलाषाएँ नाना तरह के मुखौटे धारण करती रहती हैं। इस वास्तविक परिस्थिति में अहं की रचना में विरोध अपरिहार्य है। हमारे भीतर चलनेवाले इस आन्तरिक विरोध के कारण भ्रम और दुःख सतत उत्पन्न होते रहते हैं। इस अन्तर्विरोध से दूर भागने के लिए हम अनेक प्रकार से अपने को धोखा देते रहते हैं, जिसके चलते हमारा संघर्ष और हमारी वेदना बढ़ती ही रहती है। जब यह अन्तर्विरोध असह्य हो जाता है, तब उससे छूटने के लिए जाने-अनजाने हम या तो मृत्यु का सहारा लेते हैं अथवा कोई पागलपन हम पर सवार हो जाता है। अथवा अपना सारा जीवन किसी ध्येय की सिद्धि के लिए, किसी विशिष्ट समूह में, किसी राष्ट्रकार्य में या किसी आन्दोलन में झोंक देते हैं अथवा किसी संगठित धर्म का सहारा लेते हैं और उसके आप्त वचनों में या पूजा-अर्चनादि की विधियों में अपने को लीन कर देते हैं। इस प्रकार हम अपने आन्तरिक विरोध में से या अहं-विस्तार का मार्ग स्वीकार करते हैं, अथवा आत्मनाश की या पागलपन की राह पकड़ते हैं। ऐसा क्यों होता है? हम वस्तुतः जैसे हैं, उससे सर्वथा भिन्न होने का हमारा जो प्रयत्न है, उसीमें से यह आन्तरिक विरोध उत्पन्न होता है। हमारा वास्तविक स्वरूप जैसा है, उसको उसी रूप में देखने में हमें भय लगता है, अतः उसके विरुद्ध जो कुछ है, उसके मोहक आभास हमारे मन में उत्पन्न होता है और वास्तविकता के विरुद्ध जो है, उसके मोहक आभास के पीछे लगने से हम उस भय से मुक्त

होंगे, ऐसी पागलपन से भरी आशा हम रखते हैं। लेकिन जो वास्तविक है, उसके विरुद्ध का संवर्धन करते रहना, यानी उन दोनों का समन्वय करना सम्भव नहीं है। विरोधों के ऐसे संवर्धन से समन्वय कभी नहीं होता। क्योंकि सब विरोधों में उनके स्वयं के विरोधों के ही अनेक बीज अन्तर्भूत होते हैं। हमारे अन्तरतम में जो तीव्र विरोध चलता रहता है, उसीकी नाना प्रकार की शारीरिक अथवा मानसिक अनुक्रियायें होती रहती हैं, फिर वे सौम्य हों या तीव्र, प्रतिष्ठित हों अथवा भयंकर। अपने इन आन्तरिक विरोधों से मेल बैठाने का हम जितना अधिक प्रयत्न करते हैं, उतना ही हमारे आन्तरिक विरोधों का स्वरूप अधिकाधिक अस्त-व्यस्त बनता जाता है। किसी एक ही अभिलाषा के अथवा एक ही रुचि के पीछे पड़ने पर हम अपने चारों ओर वाड़ खड़ी कर लेते हैं और उसके बाहर की बातों का विरोध करने लगते हैं। हमारे इन आन्तरिक विरोधों के कारण ही बाह्य संघर्ष पैदा होते रहते हैं, जो आन्तरिक विरोध के ही निदर्शक होते हैं। अभिलाषा के समस्त व्यापारों का यथार्थ बोध प्राप्त करने पर ही आन्तरिक विरोधों से मुक्ति मिल सकती है।

एकात्मता मन के ऊपरी स्तर तक ही मर्यादित नहीं रहती। वह किसी पाठशाला में सीखने की वस्तु नहीं। अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करते रहने से अथवा आत्मक्लेश के द्वारा आत्मबलिदान करने से मिलनेवाली वस्तु वह नहीं है। आन्तरिक विरोध और सुसंगति से मुक्ति दिलाने का कार्य एकात्मता ही कर सकती है। परन्तु एकात्मता का अर्थ विविध अभिलाषाओं अथवा रुचियों का जैसा-तैसा एकीकरण करना नहीं है। एकात्मता किन्हीं विशिष्ट आदर्शों का अनुसरण करना नहीं है, फिर कोई आदर्श कितना ही उदात्त अथवा कितना ही विदग्ध क्यों न हो। एकात्मता किसी विधायक कल्पना की सहायता से प्रत्यक्ष में उतारने जैसी वस्तु नहीं है। अकरणशील वृत्ति रखने से और अभावात्मक प्रक्रिया से ही वह अस्तित्व में आ सकती है। एकात्मता की कल्पना को मन के समक्ष रखने का अर्थ है किसी पूर्वनिश्चित आदर्श का अनुसरण करना। लेकिन इस तरह तो बुद्धिशून्यता ही बढ़ती जाती है और उससे विनाश ही निष्पन्न होता है। विशेष रूप से एकात्मता के पीछे लगने का अर्थ है एकात्मता का मन द्वारा निर्मित कोई आदर्श तैयार करना। सारे ही आदर्श मनोकल्पित होने के कारण उनसे संघर्ष और वैरभाव के सिवा और कुछ निष्पन्न नहीं होता। मन जिसका निर्माण करता है, वह भी मन जैसा ही होता है अर्थात् वह विरोधमय और अस्तव्यस्तकर रहता है। एकात्मता न तो कल्पना ही है, न वह विगतस्मृति पर आधृत मन की कोई प्रतिध्वनि ही है। इसीलिए एकात्मता के स्वरूप का बुद्धिपूर्वक संवर्धन करना सम्भव नहीं। एकात्मता साधने की इच्छा विरोध बढ़ने पर ही होती है। लेकिन एकात्मता का बुद्धिपूर्वक संवर्धन करने से संघर्ष से छुटकारा नहीं मिलता। आप या तो आन्तरिक संघर्ष को ढँकना चाहेंगे, या आन्तरिक विरोध

का अस्तित्व ही नहीं है, ऐसा भाव लायेंगे अथवा अन्तर्विरोध का भान ही पोंछ डालेंगे। आप कुछ भी करें, आखिर संघर्ष भीतर दवा हुआ बैठा ही रहता है और भभक उठने के अवसर की प्रतीक्षा करता रहता है।

हमें संघर्ष की समस्या पर विचार करना है, एकात्मता पर नहीं। शान्ति की भाँति ही एकात्मता स्वतन्त्र साध्य नहीं है। वह प्रत्यक्ष रूप से अस्तित्व में आने-वाली, केवल अकरणशील सावधानता में से सहज निर्माण होनेवाली, गौणस्वरूप की फल-निष्पत्ति है। इसलिए उसका स्वरूप प्राथमिक स्तर का नहीं होता। संघर्ष और विरोध का यदि हम प्राथमिक बोध प्राप्त कर लें, तो केवल एकात्मता और शान्ति ही नहीं, इनसे भी अनन्तगुनी श्रेष्ठ कोई वस्तु उत्पन्न होगी। संघर्ष का न तो अवरोध किया जा सकता है, न उदात्तीकरण। उसका कोई विकल्प भी नहीं है। सातत्य की अभिलाषा में से, अधिकाधिक सम्पादन की अभिलाषा में से संघर्ष उत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य निष्क्रिय समाधान को ही लेकर बैठा रहे। अभिलाषी अहं 'अधिकाधिक' की माँग सतत करता रहता है। अधिका धिक की यह पुकार अधिकाधिक सुखद संवेदनाओं की पुनरावृत्ति की लालसा ही है, फिर ये संवेदनाएं बीते कल की हों या आगामी कल की। संवेदना मन की उपज है। इसलिए संघर्ष का यथार्थ बोध मन की सहायता से सम्भव नहीं है। यह यथार्थ बोध शब्दों से नहीं होता, वह मन की कोई प्रक्रिया नहीं है और इसीलिए वह अनु-भवों का विषय भी नहीं है। अनुभव का स्वरूप स्मृति का है और शब्द, प्रतीक अथवा प्रतिमा के बिना स्मृति रह ही नहीं सकती। इसलिए शब्द, अनुभव और स्मृति का यथार्थ बोध की दृष्टि से कोई उपयोग नहीं है। संघर्ष कैसे पैदा होते हैं, इसका ऊहापोह करनेवाले कितने ही ग्रन्थ उलटें-पलटें, तो भी संघर्ष के यथार्थ बोध की दृष्टि से वे सब व्यर्थ सिद्ध होंगे। संघर्ष का यथार्थ बोध प्राप्त करने के लिए विचार को आगे नहीं बढ़ना चाहिए। विचारक के बिना तथा अहं के बिना ही संघर्ष का ज्ञान होना चाहिए। क्योंकि, यह विचारक ही चुनाव करनेवाला होता है। यह विचारक उसी-का चुनाव करता है, जो उसे सुखद तथा संतोषदायक लगता है। इस इकतरफा चुनाव के कारण संघर्ष का पोषण होता रहता है। उससे एकाध विशिष्ट संघर्ष मिट सकता है, लेकिन संघर्षों को जन्म देनेवाली भूमि वैसी ही बनी रहती है। विचारक किसी बात का समर्थन करता है और किसी बात की निन्दा करता है। इस कारण यथार्थ बोध के लिए वही बाधक बनता है। विचारक का सम्पूर्ण अभाव घटित होने पर ही संघर्ष की अनुभूति होती है, पर यह अनुभूति ऐसी कतई नहीं होती कि अनु-भवी अनुभव कर सके। इस अनुभूति की स्थिति में न अनुभविता होता है, न अनुभव की जानेवाली बात ही होती है। यहाँ अनुभवन प्रत्यक्ष होता है, साक्षात् होता है। यह साक्षात् सम्बन्ध स्मृति द्वारा प्रेरित नहीं होता। संघर्ष से जब ऐसा साक्षात्

सम्बन्ध आता है, तब वही उसका यथार्थ बोध कराता है। ऐसे यथार्थ बोध से ही मनुष्य को संघर्ष से मुक्ति प्राप्त होती है। संघर्ष से मुक्ति प्राप्त होने पर ही एकात्मता हो जाती है।

४४. कृति और कल्पना

वह सौम्य और उदार था। उसके चेहरे पर मुसकराहट अठखेलियाँ करती थी। उसकी पोशाक अत्यन्त सादी थी और वृत्ति शान्त तथा संयमी। वह कह रहा था कि पिछले अनेक वर्षों से वह अहिंसाव्रती है और अहिंसा की सामर्थ्य तथा उसके आध्यात्मिक महत्त्व का उसे पूर्ण बोध हो गया है। अहिंसा पर उसने अनेक पुस्तकें लिखी थीं, एक तो उसके हाथ में भी थी। वह यह भी बता रहा था कि पिछले अनेक वर्षों से उसने जानबूझकर किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं की और वह पूर्ण शाकाहारी है। बाद में वह अपने शाकाहार में शामिल बातों का ब्योरा भी देने लगा। उसने यह भी बताया कि उसके जूते और उसकी चप्पलें भी स्वाभाविक तौर पर मृत पशुओं के चमड़े की हैं। उसने जीवन को यथासम्भव सादगीमय बना लिया है। आहार-शास्त्र का अध्ययन करके वह उतनी ही वस्तुओं का सेवन करता है, जितनी कि नितान्त आवश्यक हैं। उसका कहना था कि अनेक वर्षों से किसी पर क्रुद्ध नहीं हुआ। कभी-कदास उसमें व्यग्रता आयी भी हो तो वह स्नायुओं की स्वाभाविक प्रतिक्रिया मात्र थी। सब मिलाकर उसकी बात सौम्य और संयमित थी। अन्त में उसने यह भी कहा कि संसार में परिवर्तन लाने की सामर्थ्य अहिंसा में है और इसीलिए इस कार्य के लिए उसने अपना जीवन अर्पित कर दिया है। अपने बारे में विशेष कुछ कहना उसके स्वभाव में नहीं था। लेकिन अहिंसा पर बोलते समय उसके वक्तृत्व का प्रवाह सहज रूप से मुखर हो उठता था। उसने कहा कि वह अपनी रुचि के विषय की अधिक गहरी चर्चा करने के लिए आया है।

रास्ते के उस पार का तालाब अत्यन्त शान्त था। कुछ देर पहले तेज हवा के कारण तालाब के पानी में जोरों की लहरें उठ रही थीं। लेकिन अब जल-प्रवाह निस्तब्ध था और तटवर्ती वृक्ष के छोटे-छोटे पत्तों का स्वच्छ प्रतिबिम्ब पानी में साफ दिखाई देता था। कमल के दो-तीन फूल पानी पर शान्तरूप में लहरा रहे थे और पीछे एक कमल-कली धीरे से झाँक रही थी। तालाब के पास पक्षी एकत्र होने लगे थे। बहुत से मेढक बिलों से बाहर निकलकर पानी में कूद पड़े। लहरें उठीं और जल्दी ही शान्त हो गयीं। जलाशय पर पुनः निस्तब्धता छा गयी। एक वृक्ष के एकदम ऊपर के सिरे पर एक पक्षी गाते-गाते चोंच से अपने पंख साफ कर रहा था।

बीच में ही उड़कर वह एकाध चक्कर काटता और फिर उस ऊँची शाखा के अग्र-भाग पर लौट जाता। वह अपने पर और जगत् पर निहायत प्रसन्न दिखाई दे रहा था। पेड़ के नीचे एक हट्टा-कट्टा मनुष्य पुस्तक लेकर बैठा था, लेकिन उसका ध्यान पुस्तक में बिलकुल नहीं था। वह बार-बार पढ़ने में मन लगाने का प्रयत्न करता था, लेकिन उसका ध्यान बार-बार कहीं अन्यत्र भटक जाता था। आखिर उसने पढ़ने का प्रयत्न छोड़ दिया और मन को चाहे जहाँ भटकने के लिए खुला छोड़ दिया। एक मोटर लारी पहाड़ की कठिन चढ़ाई बड़ी मुश्किल से तय कर पा रही थी। उसके 'गीअर' बार-बार बदलने पड़ते थे।

हम अपने तरह-तरह के बाह्य स्वरूपों का अपने मानसिक विचारों से समन्वय साधने का न जाने कितना प्रयास करते हैं! पहले तो हम अपने बाह्य जीवन में विशिष्ट व्यवस्था प्रस्थापित करना चाहते हैं। हमारा मन जो-जो तत्त्व तय कर लेता है और जो-जो निश्चय कर लेता है उनके अनुसार अपना बाह्यजीवन बनाने का हमारा प्रयत्न सतत चलता है। प्रश्न है कि हमारी बाह्य कृतियाँ हमारे विशिष्ट आन्तरिक हेतुओं के अनुसार ही निर्मित हों, ऐसी जबरदस्ती हम उन पर क्यों करते हैं? किसी कल्पना के अधीन अथवा किसी आदर्श के अधीन हम क्यों चलते हैं? क्या प्रत्यक्ष कृति की अपेक्षा कल्पना अथवा आदर्श ही अधिक समर्थ हैं?

पहले हम किसी कल्पना की मन में प्रस्थापना करते हैं—फिर यह कल्पना अन्त:-प्रेरणा की हो या विचार द्वारा तय की हुई हो। फिर हम प्रयत्न करते हैं कि हमारी कृतियाँ इन कल्पनाओं के अधिक-से-अधिक निकट रहें। इन कल्पनाओं के अनुसार जीवन चलाने की, इन्हें आचरण में उतारने की, इसके अनुरूप अपने जीवन में मोड़ लाने का हम सतत प्रयास करते रहते हैं। अपनी प्रत्येक कृति कल्पनाओं के चौखटे में बैठाने का हम अखण्ड प्रयत्न करते रहते हैं। कल्पना के अनुसार कृति को मोड़ देने की यह अविरल दु:खद दौड़-धूप हम क्यों करते हैं? हमारी बाह्य कृति आन्तरिक हेतु से सुसंगत रहे, हमारे इस प्रयत्न के पीछे कौन-सी प्रेरणा रहती है? हम यह सब आन्तरिक कल्पनाओं का बल बढ़ाने के लिए करते हैं अथवा आन्तरिक कल्पना डाँवाडोल होने पर बाहरी दिखावे की सहायता से अपना समाधान करने के लिए करते हैं? लेकिन इस प्रकार बाह्य दिखावे का सहारा लेने से क्या बाह्य दिखावे को अधिक महत्त्व और अधिक सार्थकता नहीं दी जाती? माना, बाह्य का भी महत्त्व है, लेकिन जब बाह्य आविष्कार आन्तरिक आस्था का व्यक्त रूप माना जाता है तब भीतरी कल्पना ही अधिक प्रभावशाली सिद्ध होती है। कल्पना ही हमारे जीवन में इतनी प्रभविष्णु क्यों हो जाती है? क्या हमें कार्यप्रवण करने के लिए? कल्पना हमारी कृतिशीलता में सहायक बनती है कि बाधक?

इसमें सन्देह नहीं कि कल्पनाएँ कृति को मर्यादित कर डालती हैं। हम कल्पनाओं का निर्माण इसीलिए करते हैं कि हमें अपनी कृतियों से भय लगता है। कल्पना की चौखट में रहने से हमें सुरक्षितता महसूस होती है। सहज कृति में जोखिम रहती है। स्वाभाविक कृतिशीलता असीमित होती है। उसे सीमित करने के लिए हम कल्पना का विशेष रूप से संवर्धन करते है। कृति की सहज गति को सहला-कर रखने के लिए ही कल्पना का निर्माण किया जाता है। सोचने की बात है कि कृति में पूर्ण उदार बनने पर क्या होगा! सहज कृति के इस भय के कारण हृदय के औदार्य का मन के कल्पित औदार्य से विरोध होता है। फिर हम एक निश्चित मर्यादा तक ही अपने औदार्य को बढ़ने देते हैं। क्योंकि हमारा कब क्या होगा, इसका हमें भरोसा नहीं। इसलिए कल्पना हमारी सहज कृति का नियंत्रण करती है। वस्तुतः सहजकृति सम्पूर्ण विमुक्त और विशाल होती है, इसलिए ऐसी कृति का हमें भय लगने लगता है और यह भय कल्पना का रूप धरकर कृति पर बन्धन डालता है। इसलिए कल्पना ही सबसे महत्त्वपूर्ण बन जाती है, न कि कृति।

कल्पना के अनुसार कृति को मोड़ने का हम सदैव प्रयत्न करते रहते हैं। जब यह कल्पना अहिंसा के आदर्श का रूप धारण करती है, तब हम अपनी कृतियों को, परिस्थितियों को और विचारों को वैसा ही मोड़ देते हैं, जैसा कि हमारा मन अहिंसा का स्वरूप कल्पित करता है। फिर इन चीजों को बहुत अधिक महत्त्व मिल जाता है कि हम क्या खाते हैं, क्या पीते हैं, क्या पहनते हैं और क्या बोलते हैं। क्योंकि इन्हीं बातों पर से हम अपनी अहिंसाविषयक आस्था का निदान करने लगते हैं। यह विकल्पित आस्था अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाती है, अहिंसात्मक होना नहीं। हम क्या खाते हैं, हमारे जूते किस चीज के बने हैं आदि बातें ही हमारा अधिक-से-अधिक ध्यान खींचती हैं। अहिंसात्मक होने की हमें स्मृति ही नहीं रहती। कल्पना सतत गौण स्तर की होती है, किन्तु छोटी-छोटी बातें ही मूलभूत चीजों से अधिक महत्त्व की बन जाती हैं। कारण, अपनी कल्पना के बारे में, अपने कल्पित आदर्श के बारे में हम लेख लिख सकते हैं, भाषण कर सकते हैं, चर्चा कर सकते हैं। कल्पना में अहं-विस्तार को मनमाना मौका रहता है, परन्तु प्रत्यक्ष अहिंसात्मक जीवन जीने में अहं-विस्तार को साधने का समाधान नहीं रहता। कल्पना का निर्माण मन के द्वारा होने से उसमें कुछ विधायक और कुछ निषेधात्मक तथा त्यागात्मक अंश रहता है। वह उत्तेजक और सन्तोषदायी होती है। लेकिन अहिंसात्मक होने में ऐसा कोई आकर्षण नहीं होता। वस्तुतः अहिंसा स्वयं में कोई अन्तिम साध्य नहीं है, वह एक परिणाम है, एक गौण फल है। जब अहिंसा की कल्पना को महत्त्व मिलता है, तब अहिंसा अन्तिम साध्य बनती है। कल्पना मन का निर्णय होती है, वह मनोनिर्मित साध्य है। कल्पना हमेशा ज्ञान की कक्षा में घूमती है। अतएव

अहिंसात्मक होने का साक्षात् दर्शन करना विचारों के परे की बात है। विचार से अहिंसा का चिन्तन किया जा सकता है, लेकिन विचार स्वयं अहिंसात्मक नहीं हो सकता। अहिंसा सहज होती है, वह कल्पना नहीं है। कृति के ढाँचे में उसे नहीं ढाला जा सकता।

४५. शहरी जीवन

वह कमरा उत्तम आनुपातिक, शांत और आरामदेह था। उसमें रखी हुई सब चीजों में और उनकी सजावट में उच्च अभिरुचि का दर्शन होता था। फर्श पर बिछा हुआ कालीन मोटा और मुलायम था। दीवाल पर संगमरमर की एक आगदानी (अँगीठी) थी, जिसमें आग थी। कमरे में जगह-जगह विभिन्न देशों के फूलदान रखे हुए थे। दीवाल पर कुछ आधुनिक चित्र थे, तो कुछ प्राचीन नामी चित्रकारों के भी चित्र थे। कमरे की सजावट आराम और सौंदर्य की दृष्टि से बड़ी विवेकपूर्ण थी। इस सजावट में सम्पत्ति और अभिरुचि, दोनों का प्रत्यय स्पष्ट दीख रहा था। कमरे की खिड़की में से एक छोटा-सा बाग दिखाई देता था। ऐसा लगता था कि बाग की हरियाली सुव्यवस्थित बनाये रखने के लिए वर्षों से काफी श्रम किया जाता रहा है।

शहर का जीवन नैसर्गिक सृष्टि से एक चमत्कारिक ढंग से टूट गया है। प्रकृति के खाई-खन्दकों तथा पर्वत-पहाड़ियों का स्थान शहरों में मानव-निर्मित ऊँची-ऊँची इमारतों ने ले लिया है। प्रकृति के गर्जनभरे, कल-कलवाही स्रोतों और नदियों का स्थान वाहनों के कोलाहल ने ले लिया है। रात में तो शहरों में बिजली के गोलों का इतना तेज प्रकाश होता है कि कितनी ही उत्कट इच्छा हो तो भी नक्षत्रों का दर्शन कठिन हो जाता है। दिन में आकाश का जो दर्शन होता है, वह भी गगनचुम्बी इमारतों के बीच जो कुछ टुकड़ा दीखता है, बस उतना ही बहुत है। स्पष्ट ही इन सब बातों का शहर के लोगों पर एक चमत्कारिक परिणाम हुआ है। शहरी लोगों में एक प्रकार का नागरी तेज अवश्य दीखता है, लेकिन उनमें एक तरह का कुरकुरापन और ऊपरी विनय होती है। शहरों में मन्दिर होते हैं, देवालय होते हैं, तरह-तरह के संग्रहालय होते हैं, मदिरालय होते हैं, सिनेमा-गृह होते हैं। सुन्दर-सुन्दर पोशाकें और बेशुमार दूकानें! जिधर देखो, उधर मनुष्य ही मनुष्य! घर-घर में, कमरे-कमरे में, रास्ते-रास्ते में लोगों की भीड़। आकाश में एकाध बादल का सुन्दर टुकड़ा लहराते हुए जाता हो, तो भी उसकी ओर शायद ही किसीका ध्यान जाता हो। चारों ओर केवल भाग-दौड़ और भीड़-भाड़!

लेकिन हाँ, इस कमरे के वातावरण में निस्तब्धता थी और एक प्रकार का शालीन संयम था। धनिकों के यहाँ रहनेवाली दूरस्थता की, सुरक्षितता की और विपुलता की भावना वहाँ दीख रही थी। वह व्यक्ति कह रहा था कि उसकी अभिरुचि पौर्वात्य और पाश्चात्य, दोनों तत्त्वज्ञानों में है और पाश्चात्य तत्त्वज्ञों का यह कहना बिलकुल पागलपन है कि यूनानी संस्कृति से ही मानव-संस्कृति का प्रारम्भ हुआ है, उसके पहले संस्कृति का कहीं अस्तित्व ही नहीं था। इस भूमिका के बाद उसने अपनी समस्या के विषय में कहना शुरू किया। वह अपनी विपुल सम्पत्ति तथा उसके साथ-साथ आनेवाले विविध उत्तरदायित्वों से बेचैन था। उसके सामने प्रश्न था कि दान किसे दिया जाय और किस प्रकार दिया जाय। किसीको भी किसी भी भावना से दान देने पर भी, उसका सचमुच कोई महत्त्व है क्या है ? — ये बातें उसके लिए समस्या क्यों बन गयी थीं ?

कुछ देर बाद उसकी पत्नी ने कमरे में प्रवेश किया। उसका चेहरा सुन्दर, सतेज था। मुख-मण्डल पर कुतूहल की भावना थी। लगता था कि उन दोनों का अध्ययन काफी अच्छा था। उनमें एक प्रकार की नफासत तथा व्यवहार-कुशलता थी। दोनों बुद्धिमान् थे और अनेक विषयों में उनकी रुचि थी। यों उनमें ग्रामीण और नागरी, दोनों संस्कृतियों का समन्वय दिखाई दिया, फिर भी उन दोनों का झुकाव नागरी जीवन की ही ओर अधिक था। करुणा की भावना उनसे दूर हो गयी थी। उनमें विविध गुणों का विकास हुआ था और एक पैनापन तथा एक तरह की व्यवहार-निष्ठुरता आ गयी थी, पर वह मर्यादित ही थी। वह थोड़ा-बहुत लिखती भी थी। उस व्यक्ति की कुछ-कुछ राजनीति में भी रुचि थी। किसी भी विषय पर वे विश्वासपूर्वक बोलते थे। किसी भी शोध के लिए, अन्वेषण के लिए, किसी भी चीज के यथार्थ बोध के लिए रुकना, ठिठकना, धीमे-धीमे टटोलना आवश्यक है। लेकिन जब मनुष्य के पास विपुल ज्ञान का संचय हो, जब स्वरक्षण का अपना बख्तर धो-पोंछकर चमका लिया जाय और भीतर की दरार को पाट दिया जाय, तब छिटकना और एक ही स्थान पर चक्कर काटना, निर्णय तक न पहुँचना उसके लिए कैसे सम्भव है ? संवेदनाओं के बन्धन में जो अटके रहते हैं, उन्हें रेखाओं का, आकृतियों का और रूप का ही अत्यधिक महत्त्व लगता है। उनके लेखे सौन्दर्य का अर्थ है केवल संवेदन, शिवत्व का अर्थ है भावना और सत्य का अर्थ है केवल बुद्धिविलास। संवेदना जब मनुष्य पर प्रभाव जमाने लगती है तब शरीर ही नहीं, मन के लिए भी आराम तथा सुखासीनता आवश्यक हो जाती है। यह सुखासीनता और आरामप्रियता मन को भीतर से खोखला बना देती है, मोर्चा लगा देती है और वही भ्रम को पैदा करती है।

वस्तुस्थिति यह है कि जो वस्तुएँ हमारे स्वामित्व की हो जाती हैं, जिनसे हम चिपक जाते हैं अथवा जिनमें हमारा मन उलझा रहता है, वे सब वस्तुएँ वस्तुतः हम ही होते हैं। आसक्ति में किसी भी तरह की उदात्तता नहीं होती। ज्ञानविषयक आसक्ति भी अन्य व्यसनों से भिन्न नहीं होती। आसक्ति का स्तर एकदम नीचे का हो या ऊपर का, अन्ततः वह निरी आत्मपरायणता ही होती है। आसक्ति आत्म-वंचना ही है। अहं खोखलेपन से, रिक्तता से दूर जाने का वह एक बहाना मात्र है, इसीलिए धन-सम्पत्ति, व्यक्ति अथवा कल्पना, विचार जैसी जिन-जिन चीजों के बारे में हमें आसक्ति होती है, वे सब हमें सर्वंकष महत्त्व की प्रतीत होने लगती हैं। क्योंकि अहं की रिक्तता को भरनेवाली ये चीजें न हों तो अहं का अस्तित्व ही नहीं रहेगा, यह भय हमें सदैव सताता रहता है। इस भय के कारण हम कोई-न-कोई चीज संग्रह करते रहते हैं। उन पर मालिकी प्राप्त करते हैं। यह भय ही भ्रम को जन्म देता है और निश्चित निर्णयों के बन्धनों में मनुष्य को जकड़ लेता है। ऐसे भौतिक अथवा काल्पनिक, मानसिक निर्णय में मन के जकड़ते ही बुद्धि का—प्रज्ञा का सफल विकास अवरुद्ध हो जाता है। और ऐसे विकास के लिए आवश्यक स्वतं-त्रता भी नष्ट हो जाती है। स्वतन्त्रता में ही सत्य का उदय होता है, लेकिन ऐसी स्वतन्त्रता न रहने पर चतुरता को ही बुद्धि मान लिया जाता है। चतुरता का व्यापार बड़ा उलझनभरा और विनाशक होता है। आत्मरक्षण चाहनेवाली यह चतु-रता ही आसक्ति लाती है और इस आसक्ति के कारण जब दुःख होता है, तब यही चतुरता अनासक्ति के पीछे दौड़ती है और त्याग तथा संन्यास के अभिमान द्वारा सुख प्राप्त करना चाहती है। इस चतुरता के विविध व्यापारों का, मन के विविध व्यापारों का यथार्थ बोध प्राप्त करना आवश्यक है। ऐसा बोध ही सम्यक् बुद्धि का और प्रज्ञा का उदय है।

४६. व्यथाग्रस्तता

वह बता रहा था कि 'मेरा मन अनेक छोटी-छोटी बातों से निरन्तर पीड़ित रहता है, और इन बाधाओं का विषय सतत बदलता रहता है। कभी कोई काल्प-निक शारीरिक रोग सताता है तो कुछ देर बाद कोई अन्य विचार अथवा घटना चिन्ता या व्यथा का विषय बन जाती है। एक मानसिक व्यथा से छुटकारा मिलता नहीं कि दूसरी व्यथा में अटक जाता हूँ। इस व्यथा-पीड़ा से छुटकारा पाने के लिए अनेक पुस्तकें पढ़ डालीं, मित्रों से चर्चा भी की और एक मनोविज्ञानवेत्ता के पास भी गया था। लेकिन कहीं कोई आराम नहीं मिला। मनोविश्लेषणशास्त्री के साथ

गम्भीर चर्चा करते हुए, सारा ध्यान उसीमें रहने पर भी, लौटने पर सारी मानसिक व्यथा और चिन्ताओं ने मन को घेर लिया।' वह चिन्तायुक्त स्वर में पूछ रहा था कि 'इन व्यथाओं और चिन्ताओं का कारण यदि हाथ लग जाय तो वे क्या सदा के लिए नष्ट हो जायेंगी ?'

किसी घटना का कारण ज्ञात होने से, उस घटना के जो परिणाम होते हैं, क्या उनसे हम मुक्त हो सकते हैं ? कारण का ज्ञान होने से क्या परिणाम मिटाया जा सकता है ? जैसे, युद्ध के आर्थिक और मानसिक दोनों कारण हमें पूरी तरह ज्ञात हैं और फिर भी युद्ध में होनेवाले अमानुषिक कृत्यों और भयंकर मानव-संहार को क्या हम प्रोत्साहन ही नहीं देते ? वस्तुतः किसी भी घटना के कारणों का जो शोध हम करते हैं, वह उसके परिणामों से छुटकारे की इच्छा से ही करते हैं। लेकिन यह इच्छा, यह अभिलाषा और कुछ न होकर, परिणामों का जो धिक्कार या प्रतिकार करते हैं, उसीका एक भिन्न रूप है। लेकिन धिक्कार या प्रतिकार शुरू होते ही उस घटना के स्वरूप का यथार्थ आकलन असम्भव हो जाता है।

'फिर मनुष्य क्या करे !' उसने पूछा।

मनुष्य को स्वयं अपने से पूछना चाहिए कि ऐसी मूर्खतापूर्ण क्षुद्र चिन्ताएँ और व्यथाएँ हमारे मन पर इतना प्रभाव क्यों डालती हैं ? ऐसा प्रश्न पूछने का मतलब यह नहीं है कि अपने से कहीं दूर रहनेवाले कारण को खोजा .जाय। बल्कि इसका अर्थ यह है कि स्वतःसहित हमारा सम्पूर्ण विचार-प्रवाह कैसे बहता है और कैसे मोड़ लेता है, यह सब उजागर करना। आइये, अब हम यह देखें कि हमारा मन इन चिन्ताओं और व्यथाओं से इस तरह क्यों व्याप्त रहता है ? क्या इसलिए ऐसा नहीं है कि हमारा मन उथला और क्षुद्र है, अतः उसे जिन-जिन बातों का आकर्षण होता है, उन्हींमें वह उलझ जाता है ?

'हाँ, यह सही लगता है। लेकिन यह पूर्णतः सत्य नहीं होना चाहिए। क्योंकि मैं स्वयं गम्भीर प्रकृति का मनुष्य हूँ।' उसने उत्तर में कहा।

इन विशिष्ट चिन्ताओं तथा व्यथाओं के अलावा आपका मन किन-किन विचारों से घिरा रहता है ?

'मेरे व्यवसाय-सम्बन्धी विचारों से भी वह घिरा रहता है। अपने व्यवसाय में मेरा स्थान विशेष उत्तरदायित्ववाला है। इसलिए केवल दिनभर ही नहीं, अनेक बार तो काफी रात तक भी मैं व्यवसाय की बातों में ही व्यस्त रहता हूँ। मैं बीच-बीच में थोड़ा-बहुत पढ़ता भी रहता हूँ। लेकिन मेरा अधिकांश समय व्यवसाय में ही बीतता है।'

'आपको अपना व्यवसाय अच्छा लगता है ?'

'हाँ, अच्छा लगता है। लेकिन उससे मुझे पूरा समाधान नहीं है। यों देखा जाय तो मुझे अपने कामों के प्रति जीवनभर असमाधान ही महसूस हुआ है। लेकिन अभी मुझे जो पद मिला है, उसे मैं छोड़ नहीं सकता। क्योंकि मुझ पर कुछ उत्तरदायित्व हैं। इनके अलावा मेरी उम्र भी बढ़ रही है। इन व्यथा-पीड़ाओं से मैं अब अधिकाधिक त्रस्त होता जा रहा हूँ। इसी तरह मेरे काम से सम्बद्ध तथा कुल मिलाकर सभी लोगों से सम्बद्ध मेरा बढ़ता हुआ विरोध और तिरस्कार भी मुझे बेचैन करने लगा है। लोगों के प्रति मेरा व्यवहार आज तक सदय नहीं रहा इसलिए, अथवा पता नहीं किस कारण, लेकिन भविष्य के बारे में मुझे अधिकाधिक चिन्ता होने लगी है। मुझे शान्ति कभी मिलती ही नहीं। वैसे मैं अपना काम ठीक-ठीक करता हूँ। लेकिन……।'

जो प्रत्यक्ष वस्तुस्थिति है, उसके विपरीत आप इतना संघर्ष क्यों कर रहे हैं? मान लीजिये, हम जिस मकान में रहते हैं, वहाँ हर समय शोर-गुल होता है, बड़ी गन्दगी भी है, फर्नीचर भी बेढंगा है और मकान के पूरे वातावरण में सौन्दर्य का भी पूर्ण अभाव है। फिर भी अनेक कारणों से मुझे उसीमें रहना पड़ रहा है। दूसरे मकान में जाना संभव नहीं। ऐसी वस्तुस्थिति हो, तो उसे स्वीकार या अस्वीकार करने का प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ ऐसी ही वस्तुस्थिति है। प्रत्यक्ष वस्तुस्थिति को यदि मैं न समझूँ, तो मैं सामने का फूलदान कैसा है, वह कुर्सी कैसी दीख रही है, दीवाल पर टँगा वह चित्र कैसा है, आदि खटकनेवाली बातों से ऊबकर, चिढ़कर अपने जीवन को दु:खी बना डालूँगा। इन सब क्षुद्र बातों से मेरा मन व्यथाग्रस्त होता रहेगा और इस वृत्ति के कारण सब लोगों से तथा अपने काम से भी मैं चिढ़ उठूँगा। इन सबको छोड़कर नये सिरे से सारी बातों को प्रारम्भ करने का निश्चय करूँ तो बात अलग है, लेकिन ऐसा करना मेरे लिए सम्भव नहीं। इसलिए जो है, जो प्रत्यक्ष वस्तुस्थिति है, उसके विरुद्ध झल्लाने में, उसके प्रति विद्रोह करने में कोई सार नहीं। लेकिन जो है, उसकी यथार्थ पहचान करने का अर्थ चुपचाप आत्मसंतोष में गड़े रहना भी नहीं है। उल्टे जो वस्तुस्थिति है, उसे जब मैं मान देता हूँ, तब मुझे उसका यथार्थ ज्ञान होता है। साथ ही उससे मेरे मन के ऊपरी स्तर में एक प्रकार की शान्ति भी विचरने लगती है। मन के ऊपरी स्तर पर यदि शान्ति न रहे तो वह काल्पनिक व्यथाओं से अथवा प्रत्यक्ष कठिनाइयों से बराबर ग्रस्त होता रहता है। फिर वह समाज-सुधार के किसी कार्य में व्यस्त हो जाता है अथवा किसी महात्मा, किसी प्रेषित अथवा पूजा-अर्चनादि विधियों की धार्मिक बातों आदि में उलझ जाता है। अतएव मन के ऊपरी स्तर पर भी शान्ति रहनी चाहिए तभी मन का गहरा और गुप्त स्तर प्रकाश में आयेगा, आना ही चाहिए। लेकिन मन का ऊपरी स्तर जब तक चिन्ताओं से और व्यथाओं से ग्रस्त रहता है, तब तक यह सम्भव नहीं है।

सामान्य मन में, ऊपरी स्तर में, हमेशा कोई-न-कोई क्षोभ अथवा व्याकुलता का कोहराम मचा रहता है, जिसके चलते ऊपर के और नीचे के स्तरों में सतत संघर्ष चलता रहता है। यह संघर्ष जब तक समाप्त नहीं होता, तब तक मानसिक व्यथा और चिन्ताएँ बराबर बढ़ती रहती हैं। अन्ततः संघर्ष से दूर भागने के लिए मानसिक व्यथाएँ और पीड़ाएँ साधन बनती हैं। सब प्रकार का पलायन एक जैसा ही होता है। लेकिन यह बात स्पष्ट है कि पलायन के कुछ प्रकार सामाजिक दृष्टि से अधिक अनिष्टकारी होते हैं।

वस्तुस्थिति यह है कि चाहे मानसिक पीड़ाएँ हों, चाहे जैसी समस्याएँ हों, जब सम्पूर्ण प्रक्रिया का आकलन होता है, तभी मनुष्य उन पीड़ाओं से अथवा समस्याओं से पूरी तरह मुक्त होता है। अपनी समस्याओं का पूरी तरह आकलन करना हो तो न तो समस्याओं का समर्थन ही किया जा सकता है और न उन पर दोष ही लगाया जा सकता है। समस्या का आकलन रुचि-अरुचिरहित ढंग से होना चाहिए। ऐसे आकलन के लिए बहुत भारी सहनशीलता तथा सूक्ष्म संवेदनक्षमता तो चाहिए ही, समझने की आतुरता और सतत सावधानता भी आवश्यक है। इन सबके होने पर ही विचारों की सम्पूर्ण प्रक्रिया का अवलोकन किया जा सकता है और उसे समझा जा सकता है।

४७. आध्यात्मिक नेता

वह कह रहा था कि उसके गुरु की श्रेष्ठता अवर्णनीय है। वह अनेक वर्षों से इस गुरु का शिष्यत्व स्वीकार कर चुका है। अपने तत्त्वों को और उपदेश को लोगों के गले उतारने की इनकी पद्धति अद्भुत है। लोगों के मानस को प्रचण्ड आघात देकर, अत्यन्त अश्लील भाषा में, लोगों का अपमान करके और परस्पर विरोधी बातें करके ये गुरु अपना तत्त्वज्ञान लोगों तक पहुँचाते हैं। उनके शिष्य-वर्ग में बड़े-बड़े लोग हैं। आघात देने की उनकी पद्धति के कारण लोगों को उनके तत्त्वों पर विचार करना अनिवार्य हो जाता है। लोग झटके खाकर जाग उठते हैं और ध्यानपूर्वक सुनने लगते हैं। लोगों को जगाने की यह पद्धति उचित ही है। क्योंकि बहुत-सारे लोग सोये ही रहते हैं, अतः उन्हें उठाने के लिए ऐसे आघात आवश्यक हैं। हमारे ये गुरु ईश्वर के विषय में अत्यन्त भयंकर भाषा बोलते हैं। दोनों समय के भोजन के साथ वे मदिरापान भी करते हैं, अतः शिष्यों को भी उनके साथ मदिरापान करना पड़ता है। फिर भी, गुरु के उपदेश अत्यन्त गम्भीर और गहन माने जाते हैं। एक समय तो ये तत्त्व गुप्त ही रखे जाते थे, लेकिन अब वे सर्वसुलभ कर दिये गये हैं।

शरद् ऋतु की संध्या का सूर्यप्रकाश खिड़की में से भीतर आ रहा था। बाहर सड़क पर आने-जानेवालों का खूब कोलाहल सुनाई पड़ रहा था। पतझड़ शुरू हो गया था। लेकिन झड़ते-झड़ते भी पत्ते चमक रहे थे, मानो मृत्यु में भी चिन्मयता झलक रही हो। हवा में एक प्रकार की ताजगी और गूढ़ उत्सुकता भरी थी। इधर आकाश सांध्य-रंग से झिलमिला रहा था और उधर अन्य शहरों की भाँति इस शहर के वातावरण में निरुत्साह और अनिर्वचनीय विषण्णता भर रही थी। वहाँ दिखाई देनेवाला कृत्रिम आनन्द तो और भी विषण्ण था। लगता है जैसे उन्मुक्त हास्य तो हम भूल ही गये हैं। क्योंकि हमारे चेहरे नाना प्रकार की चिन्ता और परेशानी से ढँक गये हैं। लेकिन पेड़ों के पत्ते सूर्य-किरणों में चमक रहे थे। आकाश में बादल का एक टुकड़ा भी लहराता जा रहा था।

सामाजिक उच्च-नीचता के हमारे भेद तथाकथित आध्यात्मिक क्षेत्र में भी कायम रखे जाते हैं। ऊँचे पद-पदवीवालों का वहाँ कितनी उत्सुकता से स्वागत किया जाता है। उन्हें आगे की कुर्सी पर बैठाया जाता है और ऐसे सुप्रसिद्ध लोगों के चारों ओर शिष्य-समुदाय भी मँडराता रहता है। पदवियों और उपाधियों के लिए हम कितने आतुर रहते हैं! जिसे हम आध्यात्मिक प्रगति कहते हैं, वह और कुछ न होकर उच्च पदवियों या उपाधियों की लालसा ही होती है। इस तथाकथित आध्यात्मिक प्रगति के हम भिन्न-भिन्न ऊँचे-नीचे भेद करते रहते हैं। गुरु के सान्निध्य में आनेवाले और उनसे दूर रहनेवाले अदृश्य महात्मा और दीक्षित शिष्य, शिष्य और नवागत, इस प्रकार की ऊँची-नीची श्रेणियाँ हम बना लेते हैं। लौकिक और व्यावहारिक जगत् में उच्च श्रेणी में जाने की लालसा समझ में आती है। लेकिन जिस आध्यात्मिक क्षेत्र में इन उच्च-नीच श्रेणियों के भेदों का वास्तव में कोई महत्त्व नहीं होना चाहिए, वहाँ भी वही वृत्ति और वही लालसा दीखती है, तब पता चलता है कि लालसा और तृष्णा से हमारा मानसिक ढाँचा कितनी मजबूती से गढ़ा गया है। जब तक इन लालसाओं का पूरी तरह आकलन नहीं होता, तब तक अभिमान से अपने को मुक्त करने का प्रयत्न बिलकुल निरर्थक है।

वह व्यक्ति आगे कहने लगा : "मनुष्य को गुरु की, महात्मा की और मार्ग-दर्शक की अत्यन्त आवश्यकता है। आप स्वयं इन सबसे परे हो गये होंगे, लेकिन साधारण जनों को उनकी आवश्यकता है। उनके बिना हम रास्ता भूली भेड़ की तरह भटक जायेंगे!"

राजनीतिक अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र में किसी नेता का नेतृत्व हम इसीलिए स्वीकार करते हैं कि हम स्वयं असमंजस में, भ्रम में रहते हैं। लेकिन असमंजस स्थिति में चुने हुए नेता भी असमंजस स्थिति में होते हैं। हम हमेशा कोई-न-कोई

सहलानेवाला, प्यार करनेवाला, आश्वासन-प्रोत्साहन देनेवाला, संतोष देनेवाला चाहते हैं। इसलिए हम अपनी इन अभिलाषाओं की पूर्ति करनेवाले नेता का चुनाव करते हैं। वस्तुतः हम सत्य का शोध नहीं चाहते, बल्कि कामना-पूर्ति और सुख-संवेदना ही चाहते हैं। हम किसी आध्यात्मिक नेता या अदृश्य महात्मा का निर्माण अपने आत्म-गौरव के लिए ही करते हैं। जब ऐसा नेता प्राप्त नहीं होता, तब हमें कुछ सूझता नहीं है, हम असमंजस में पड़ जाते हैं, चिन्ताग्रस्त हो जाते हैं। कोई दृश्य नेता नहीं मिलता, तो हम कहीं दूर गुप्त रूप में रहनेवाले अदृश्य महात्मा की मूर्ति मन-ही-मन कल्पित कर लेते हैं। हम जो दृश्य नेता चुनते हैं, वह चुनाव भी हम पर होनेवाले भौतिक और भावनात्मक प्रभाव पर अवलम्बित होता है। अदृश्य महात्मा की मूर्ति केवल हमारे मन द्वारा ही निर्मित होती है। वह एक स्वकल्पित आदर्श होता है। लेकिन क्या दृश्य गुरु और क्या अदृश्य गुरु, दोनों का चुनाव हमने ही किया है, इसलिए वे हमारे गुरु बन जाते हैं। और हमारा चुनाव हमारे पूर्वग्रहों पर अवलम्बित होता है। आपको लगता है कि अपने पूर्वग्रहों को कोई प्रतिष्ठित अथवा अच्छा-सा नाम दिया जाय। लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि आप जो चुनाव करते हैं, वह अपनी लालसा और भ्रांत अवस्था के भोग बनकर ही करते हैं। यदि आप अपनी इच्छा-पूर्ति के पीछे पड़े हैं, तो आपको जिसकी अभिलाषा है, वह निश्चित उपलब्ध होगी। लेकिन उसे सत्य मत कहिये। कामना-पूर्ति का, सुख-संवेदनाओं की अभिलाषा क, अन्त होने पर ही सत्य का उदय होता है।

"लेकिन अदृश्य महात्मा की मुझे आवश्यकता नहीं, इसका कोई समाधान आपने नहीं किया है।" उसने कहा।

सत्य बाद-विवाद का और निर्णय का विषय नहीं है। वह किसीके मत का परिणाम नहीं है।

"लेकिन मुझे अपनी लोभ और मत्सर-वृत्ति पर विजय प्राप्त करने के लिए अदृश्य महात्मा से सहायता मिलती है।" उसने पुनः अपनी बात आग्रहपूर्वक रखी।

आपके भीतर मूलभूत परिवर्तन लाना दूसरे किसीके भी लिए सम्भव है क्या? –फिर वह दूसरा कितना ही महान् हो। मान लीजिये, यह संभव है, तो उसके कारण जो कुछ सामने आयेगा, वह आपका मूलभूत परिवर्तन न होकर, दूसरे का आपके ऊपर सर्वंकष प्रभाव ही होगा। यह प्रभाव पर्याप्त समय तक टिका भी रहेगा। लेकिन यह आपमें होनेवाला मूलभूत परिवर्तन नहीं है। इसका अर्थ इतना ही है कि इस विशिष्ट प्रभाव ने आपको वश में कर लिया है। मत्सर ने आपको वश में किया अथवा किसी तथाकथित उदात्त प्रभाव ने, दोनों स्थितियों में आप किसी-न-किसी के गुलाम रहते हैं, स्वतन्त्र नहीं रहते। हम लोग किसी-न-किसीकी

गुलामी स्वीकार करना चाहते हैं। कोई-न-कोई हम पर अपना अधिकार जमाये रहे, फिर वह अदृश्य महात्मा हो या और कोई ऐसा ही हम चाहते हैं। क्योंकि, ऐसा होने से हमें मानसिक सुरक्षितता प्राप्त होती है फिर यह अदृश्य महात्मा हमारा शरणदाता बन जाता है। दूसरे किसी पर अधिकार प्राप्त करना स्वयं का दूसरे के अधिकार में चले जाना है। पर इस प्रकार किसीके आधिपत्य की स्वीकृति का अर्थ लोभीपन से मुक्ति पाना नहीं है।

"लेकिन मुझे अपने लोभीपन का प्रतिकार करना ही चाहिए। उसे पूरी तरह नष्ट करने के लिए मुझे पूरा प्रयत्न करना होगा, तभी वह नष्ट हो सकेगा।" उसने कहा।

आप जो कह रहे हैं, उस पर से लगता है कि लोभीपन के विरुद्ध आपकी यह लड़ाई बहुत वर्षों से चल रही है। फिर भी लोभीपन से आपका छुटकारा अब तक नहीं हुआ है। आप शायद यह कहेंगे कि आपने इसके लिए प्रयत्न की पराकाष्ठा नहीं की। लेकिन इसमें कोई सार नहीं है। किसी भी बात का विरोध करने से कहीं उसका यथार्थ आकलन होता है? किसी बात पर विजय प्राप्त करने का अर्थ उसका आकलन करना नहीं है। जिस बात को आप जीतते हैं, उसे बार-बार नये सिरे से जीतना अनिवार्य हो जाता है। लेकिन जिस बात का ययार्थ आकलन कर लिया जाता है, उससे तो हमें पूरी मुक्ति मिल जाती है। ऐसा आकलन करने के लिए, हम उस बात का, जो प्रतिकार करते हैं, उसकी प्रक्रिया समझ लेनी होगी। किसी भी चीज का यथार्थ आकलन करने की अपेक्षा, उसका प्रतिकार करना बहुत आसान है। दूसरे, हमें सदैव अनिष्ट बातों का प्रतिकार करने की सीख दी जाती है। ऐसा प्रतिकार करते हुए निरीक्षण करने की, विचार करने की अथवा उस चीज तक पहुँचने की और उसका यथार्थ दर्शन करने की कोई आवश्यकता नहीं। वस्तुतः प्रतिकार करना बुद्धिहीनता का निदर्शक है। प्रतिकार करनेवाला मन संकुचित और बद्ध बन जाता है। इसलिए आकलन के लिए वह संवेदनक्षम होने में असमर्थ रहता है। हए जो प्रतिकार करते हैं, उसके विविध प्रकारों का और कुल प्रक्रियाओं का आकलन करना लोभीपन से मुक्तता प्राप्त करने से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। सच पूछा जाय तो मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उसकी ओर आपका बिलकुल ध्यान नहीं है। अनेक वर्षों के अपने संघर्षों और प्रतिकार के चलते आपने जो अनेक वादे कर रखे हैं उन्हींका चिन्तन आपके मन में घुल रहा है। जिन आचार-विचारों के लिए आप वचनबद्ध हैं, भाषणों और लेखों के द्वारा आपने जिनका प्रचार किया है, उनके आधार पर आपने अपना मित्रवर्ग जमा किया है। इस कारण जिस अदृश्य महात्मा ने आपको अपनी प्रवृत्तियों का प्रतिकार करने में सहायता की,

उस महात्मा में आपका हित-सम्बन्ध गुँथा हुआ है। आपके विगत जीवन को ये सारी बातें, आज मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनने में आड़े आ रही हैं।

"आपकी बात मुझे जँच भी रही है और नहीं भी जँच रही है।" उसने कहा।

यही कारण है कि आप ध्यानपूर्वक नहीं सुन रहे थे। जिन विचारों के लिए आप वचनबद्ध थे, उन्हें आप मेरी बातों से तौलकर देखते हैं। लेकिन यह ध्यानपूर्वक सुनना नहीं है। यह सब सुनने में आपको भय लगता है। अतः आपके भीतर संघर्ष आरम्भ हो गया है। यही कारण है कि आपको लगता है कि मेरी बात जँचती भी है और नहीं भी जँचती।

अन्त में उसने कहा: "आप जो कहते हैं, वह सम्भवतः सही हो सकता है। लेकिन आज तक मैंने जो कुछ प्राप्त किया है—मित्रवर्ग, ज्ञान, अनुभव—इन सबका त्याग मैं नहीं कर सकता। मैं जानता हूँ कि मुझे इन सब बातों का त्याग करना चाहिए। लेकिन ऐसा करना मेरे लिए असम्भव ही है, इतना ही मैं कहूँगा।"

अब व्यक्ति का यह मानसिक संघर्ष और भी तीव्रतर होगा। भले ही अनिच्छा-पूर्वक ही, एक बार वस्तुस्थिति का पूरी तरह आकलन होने पर, पहले की वचनबद्धता के कारण यदि आप उससे मुख मोड़ लेंगे, तो आपके अन्तस्तल में तीव्र विरोध घुमड़ने लगेगा। यह आन्तरिक विरोध ही द्वैध है। हमारी परस्पर-विरोधी अभि-लाषाओं को जोड़ा नहीं जा सकता। उन्हें जोड़नेवाला पुल कोई तैयार भी करना चाहे तो वह केवल प्रतिकार का ही पुल होगा, प्रतिष्ठित सातत्य का ही पुल होगा। लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि जो जैसा है, उसका वैसा ही आकलन करना उससे विमुक्त होना है।

यह बड़ी विचित्र बात है कि आपके गुरु आप पर मन्द या तीव्र प्रहार करके अथवा आपको डरा-धमकाकर आपका मार्गदर्शन करें और यह बात शिष्यों को अच्छी लगती है। ये शिष्य मानते हैं कि गुरु की ओर से किया जानेवाला कठोर व्यवहार आध्यात्मिक उन्नति की ओर ले जानेवाले शिक्षण का ही एक अंग है। वस्तुतः दूसरों द्वारा दुखी किये जाने की, तीव्र आघात पाने की अभिलाषा दूसरे को दुखाने से मिलने-वाले सुख का ही एक प्रकार है। गुरु द्वारा शिष्य को दुःख पहुँचाने की और शिष्य द्वारा गुरु से दुःख प्राप्त करने की यह जो एक-दूसरे को अधोगति में ले जानेवाली प्रक्रिया है, वह सुख-संवेदना के लिए निकृष्ट भोगेच्छा ही है। आप भी अधिकाधिक तृप्त होने के लिए ऐसी भोगेच्छा चाहते हैं, इसलिए शिष्यत्व स्वीकारते हैं और गुरु अथवा नेता का निर्माण करते हैं। इस नयी भोगेच्छा के लिए आप कैसी भी असुविधा, कैसा भी अपमान अथवा आशा का भंग सहन करते हैं, हर तरह का त्याग करने के लिए तैयार रहते हैं। यह सब परस्पर शोषण का ही अंग है। सत्य का उससे कोई सम्बन्ध नहीं। इसमें से सच्चे सौख्य का उदय कभी सम्भव नहीं।

४८. उद्दीपन

वह कह रही थी : "मैं एंगेडाइन (Engadine) गयी थी। उस पर्वतीय सौन्दर्य ने मुझे निस्तब्ध कर दिया। मैं अवाक् रह गयी। उसके विलक्षण चमत्कार को देखकर मैं मूक, मुग्ध हो गयी। यह एक अलौकिक अनुभव था। मेरी बड़ी इच्छा है कि वह निस्तब्धता, वह चैतन्यमय, स्फूर्तिमय नीरवता सदा-सदा के लिए संचित की जा सके तो कितना अच्छा हो ! आप जब बोलते हैं, तब मुझे ऐसा लगता है कि आप उसी निस्तब्ध स्थिति के विषय में बोलते हैं, जिसका अलौकिक अनुभव मुझे हुआ है। उस समय जैसी निस्तब्धता मुझे अनुभव हुई, उसीका आप बार-बार उल्लेख करते हैं या और कुछ, यह जानने की मेरी इच्छा है। उस निस्तब्धता का असर मेरे मन पर बहुत लम्बे समय तक रहा है। अब भी मैं पुनः उस अनुभव की ओर लौटना चाहती हूँ। उस अनुभव को साकार करने का और उसीमें रमने का मैं पुनः-पुनः प्रयत्न करती रहती हूँ।"

एंगेडाइन पर्वत ने आपको जैसे निस्तब्ध, मुग्ध कर दिया, वैसे ही किसीको एकाध लावण्यमयी मानव-आकृति मुग्ध कर डालती है, किसीको कोई अदृश्य महात्मा किसीको कोई ग्रंथ, किसीको कोई उत्तेजक पेय मुग्ध-निस्तब्ध बना डालता है। किसी बाह्य उद्दीपन के कारण मनुष्य में एक प्रकार की संवेदना उत्पन्न होती है, जो अत्यन्त सुखद होती है और उसीको मनुष्य 'निस्तब्धता' का नाम दे देता है। सौन्दर्य या भव्यता का दर्शन हमारी दैनन्दिन समस्याओं तथा संघर्षों को हमसे दूर खदेड देता है। यह एक छुटकारे जैसी स्थिति है। बाह्य उद्दीपन के द्वारा कुछ देर के लिए मन जो निस्तब्ध बन जाता है, वह एक नया ही अनुभव होता है, एक नया सुख-स्थान बन जाता है। जब मन इस निस्तब्धता का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं करता, तब वह स्मृति के रूप में उसकी ओर दौड़ता है। पर्वत के सान्निध्य में बहुत समय तक रहना मनुष्य के लिए सम्भव नहीं है। क्योंकि, हमें अपने काम-धन्धे की ओर वापस लौटना पड़ता है। लेकिन निस्तब्धता की वह अत्यन्त सुखद स्थिति किसी अन्य उद्दीपन द्वारा भी प्राप्त की जा सकती हैं। जैसे, किसी उत्तेजक पेय से, किसी व्यक्ति अथवा कल्पना से प्राप्त करते हैं। हममें से अधिकांश लोग ऐसा ही करते हैं। ऐसे विविध उद्दीपनों की सहायता से मन को निस्तब्ध बनाया जाता है। अतः ये साधन ही महत्त्व के बन जाते हैं और हम उन्हींसे चिपक जाते हैं। ये साधन हमें उस निस्तब्ध अवस्था का सुख प्राप्त करा देते हैं, इसलिए उनको हमारे जीवन में विशेष माहात्म्य प्राप्त होता है। उनसे हमारा हित-

सम्बन्ध जुड़ जाता है। वे हमारी मनोवैज्ञानिक आवश्यकता बन जाते हैं, इसलिए हम उसकी बराबर रट लगाते रहते हैं। उसकी रक्षा के लिए, मौका पड़ने पर हम एक-दूसरे का संहार भी करते हैं। इस प्रकार ये उद्दीपन-साधन मूल अनुभव का स्थान ले लेते हैं, जबकि वह अनुभव केवल स्मृति के रूप में ही शेष रह जाता है।

उद्दीपन के अनेक प्रकार हो सकते हैं। उनके विविध रूपों का व्यक्ति-व्यक्ति की संस्कारबद्धता के अनुसार अलग-अलग महत्त्व है। लेकिन उद्दीपनों के इन सब प्रकारों में एक बात समान होती है और वह है वस्तुस्थिति से दूर भागने की इच्छा। कोई दैनन्दिन जीवन की यांत्रिकता से छुटकारा चाहता है, कोई पहले के उन रिश्तों से छुटकारा चाहता है, जिनका आकर्षण समाप्त हो चुका है, कोई दिन-दिन नीरस लगने-वाले ज्ञान-संपादन से दूर भागना चाहता है। यह छुटकारा, यह मुक्ति आप एक बहाने की सहायता से प्राप्त करना चाहेंगे, तो मैं किसी दूसरे बहाने की सहायता से। और प्रत्येक को यही लगेगा कि दूसरे की अपेक्षा उसका बहाना ही अधिक अर्थपूर्ण है। यह बहाना चाहे किसी ध्येय-सम्पन्न रूप का हो अथवा सिनेमा देखने का, या मन्दिर में जाने का, होता है हमेशा अनिष्टकर ही। वह जीवन में भ्रम और अनिष्ट ही उत्पन्न करता हैं। मनोवैज्ञानिक बहाना खुले बहाने से अधिक सूक्ष्म और अधिक उलझा हुआ होता है। उसको खोज पाना बड़ा मुश्किल होता है और इसी कारण वह अधिक अनिष्टकारी साबित होता है। किसी भी उद्दीपन द्वारा प्राप्त निस्तब्धता, अनुशासन-संयम द्वारा या प्रवृत्तिशील या निवृत्तिशील प्रतिकार द्वारा प्राप्त निस्तब्धता, एक परिणाम, प्रभाव या परिपाक होती है। उसमें चिन्मय सर्जनशीलता नहीं होती, क्योंकि वह मृतावस्था है।

लेकिन ऐसी भी एक सहज निस्तब्धता है, जो किसीकी भी प्रतिक्रिया या किसी-का भी परिणाम नहीं होती। यह निस्तब्धता किसी भी उद्दीपन से या किसी भी सुख-संवेदना से नहीं आती। वह कोई भी जोड़-तोड़ बैठाकर अस्तित्व में आनेवाली निस्तब्धता नहीं होती। किसी भी विचार-प्रक्रिया का निष्कर्ष भी वह नहीं होती। विचार की सम्पूर्ण प्रक्रिया जब समझ ली जाती है, तभी वह निस्तब्धता सहजरूप से अस्तित्व में आती है। विचार स्मृति द्वारा दिया हुआ उत्तर होता है, वह पूर्वनिर्धा-रित निर्णयों से मूर्तिमन्त किया हुआ होता है—फिर वे निर्णय अबोध मन के हों या सबोध मन के। कोई कृति सुख के लिए कारणीभूत होगी या दुःख के लिए, इसे भी स्मृति आजमाकर देखती है और तदनुसार विशिष्ट कृति करवाती है। इस प्रकार स्मृतिप्रेरित कल्पना अथवा विचार कृति का नियंत्रण करते हैं। इसीलिए कल्पना और कृति में सतत संघर्ष होता रहता है। हमारे भीतर यह संघर्ष निरन्तर चलता रहता है। लेकिन जब वह तीव्र रूप धारण करता है, तब हमें उस तीव्रता से मुक्ति पाने

की उत्कट इच्छा होती है। पर जब तक इस संघर्ष का समग्र रूप हम जान नहीं लेते और उस जानकारी द्वारा जब तक वह स्वतः नष्ट नहीं हो जाता, तब तक उस संघर्ष से मुक्त होने का प्रयत्न करना कोरा बहाना ही होता है। हम जब तक किसी कल्पना के अनुरूप अपनी कृति को गढ़ने का प्रयत्न करते रहेंगे, तब तक संघर्ष अपरिहार्य है। कृति जब कल्पना से पूरी तरह मुक्त हो जाती है, तभी यह संघर्ष समाप्त होता है।

'लेकिन कृति का कल्पना से मुक्त होना क्या कभी सम्भव है? मन में कोई विचार, कल्पना आये बिना कृति सम्भव ही नहीं है। कल्पना में से ही कृति मूर्त होती है। कल्पनाशून्य कृति की कल्पना नहीं की जा सकती।''

कल्पना स्मृति में से उत्पन्न होती है। कल्पना वह प्रक्रिया है, जो स्मृति को शब्दांकित करती है। कल्पना जीवन की चुनौती को दिया गया वह उत्तर है, जो अपूर्ण, असमर्पक और केवल प्रतिक्रियात्मक होता है। जीवन की चुनौती को दिया जानेवाला समर्पक उत्तर कृतिरूप होता है, वह कल्पनारूप कभी नहीं होता। जीवन को कृति के द्वारा दिया जानेवाला उत्तर हमें जोखिमभरा लगता है। इसलिए इस जोखिम को टालने के लिए हम जीवन की चुनौती को कल्पना-विचार के द्वारा उत्तर देते रहते हैं। कल्पना कृति को लगाम लगाती है। कल्पना के क्षेत्र में सुरक्षितता रहती है, कृति में नहीं। इसलिए कल्पना के अनुसार ही हम कृति को चलाते हैं। कृति की ढाल है कल्पना। अत्यन्त उत्कट और तीव्र प्रसंग पर प्रत्यक्ष और तत्काल कृति होती है, जो कल्पना से सर्वथा मुक्त रहती है। ऐसी तत्काल और उत्स्फूर्त कृति की रचना में धोखा होगा, इस आशंका से मन अपना कल्पित अनुशासन कृति पर लादता है और हममें से बहुतों पर मन का ही प्रभुत्व होने से कल्पना तथा विचार कृति की लगाम को सदा अपने हाथ में रखते हैं। इसी कारण कल्पना तथा कृति में सतत संघर्ष होता रहता है।

'मैं यह महसूस करती हूँ कि एंगेडाइन पर्वत के सान्निध्य के अत्यन्त स्फूर्तिदायक अनुभव की ओर मेरा मन बार-बार आतुरतापूर्वक जाता है। लेकिन स्मृतिरूप में उस अनुभव को बार-बार लेने का प्रयत्न करना क्या सचमुच बहाना है?''

सचमुच वह बहाना ही है। देखिये, यह भीड़-भाड़वाला रास्ता, आपका व्यवसाय, आपके प्रत्यक्ष नाते-रिश्ते-वर्तमान जीवन, यही आपका प्रत्यक्ष जीवन है। इस जीवन में आपको सुख प्रतीत हुआ होता, संतोष मिला होता, तो आपका एंगेडाइन का अनुभव लुप्त हो गया होता। लेकिन आपको अपना प्रत्यक्ष जीवन दुःखद और अस्त-व्यस्त लगता है, इसीलिए आप नष्ट हुए गतकालीन अनुभव की ओर बार-बार जाना चाहती है। आपको उस अनुभूति की याद आती होगी, लेकिन अब वह मृत है। आप केवल स्मृति के द्वारा ही उसे सजीव करना चाहती हैं। लेकिन ऐसा करना किसी मृत शरीर में प्राण फूंकने का प्रयत्न करने जैसा ही है। वर्तमान जीवन हमें उथला प्रतीत

होता है, भार-मालूम होता है, इसीलिए या तो हम भूतकाल की ओर झुकते हैं या भविष्य का चित्र निर्माण कर उसकी ओर आँख लगाये रहते हैं। वर्तमान से दूर भागने के हमारे इस प्रयत्न के कारण ही भ्रम और आभास होता रहता है, मन में हलचल मचती रहती है। इसलिए जैसा वर्तमान प्रत्यक्ष है, उसका समर्थन और विरोध किये बिना, वैसा ही उसका दर्शन करना ही उसका आकलन है। इससे जो कृति मूर्त होती है, वही जो है, उसमें आमूलाग्र परिवर्तन लाती है।

४९. समस्या और पलायन

वह महिला कह रही थी : "मेरे सामने अनेक गम्भीर 'समस्यायें खड़ी हैं। उन्हें हल करने के प्रयत्न में मैं उन्हें और भी पेचीदा और दुखद बना डालती हूँ। मेरी समझ में नहीं आता कि क्या किया जाय। मैं बिलकुल हतबुद्धि हो गयी हूँ। बहरी भी हो गयी हूँ, अत: सुनने के लिए यन्त्र का उपयोग करना पड़ता है। मेरे कई बच्चे हैं और पति मुझे छोड़ गया है। मुझे बच्चों की बड़ी चिन्ता है, क्योंकि मैं चाहती हूँ कि जिन दु:खों, आपत-विपत से गुजरी हूँ, वे बच्चों के रास्ते में न आयें।"

अपनी समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने में हम इतने चिन्तातुर हो जाते हैं कि मूल समस्या को ठीक से समझना भी हमारे लिए असम्भव हो जाता है। इसी तरह शान्त, निस्तब्ध रूप से समस्या का अवलोकन करने में भी हमारी आतुरता आड़े आती है। वस्तुत: समस्या ही महत्त्व की चीज है, समाधान नहीं। यदि हम समस्या का उत्तर चाहते हैं, तो वह मिल जायगा, फिर भी समस्या तो पूर्ववत् ही खड़ी रहेगी; क्योंकि उत्तर का समस्या से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वस्तुत: समाधान का जो शोध हम करते हैं, वह समस्या से दूर जाने का बहाना मात्र होता है। उसका समाधान तो केवल ऊपर-ऊपर का एक उपाय है, उससे समस्या का यथार्थ बोध नहीं होता। हमारी सारी समस्याओं का मूल वस्तुत: एक ही है। इस मूल का यथार्थ बोध प्राप्त किये बिना समस्याओं के हल का कोई भी प्रयत्न अधिकाधिक दु:ख और भ्रम के फैलने में कारणीभूत होता है। हमें पहले यह देख लेना चाहिए कि समस्या का यथार्थ आकलन करने की और सारी समस्याओं से मुक्त होने की आवश्यकता सचमुच हमें प्रतीत होती है या नहीं? तभी हम उस तक पहुँच सकते हैं, जो सारी समस्याएँ उत्पन्न करता है। समस्याओं से मुक्त हुए बिना शान्ति प्राप्त होना असम्भव है और शान्ति के बिना सच्चे सौख्य का मिलना असम्भव है। लेकिन सौख्य भी अन्तिम साध्य नहीं है। जैसे हवा के रुकते ही जलाशय अपने-आप शान्त और तरंगशून्य हो जाता है, वैसे ही जब सारी समस्याओं का अन्त होता है, तभी मन शान्त, निस्तब्ध

होता है, लेकिन मन को तो शान्त नहीं ही किया जा सकता है। उसे इस प्रकार शान्त किया जाता है तो वह मृत हो जाता है, संचित पानी का गढ़ा बन जाता है। जब यह सब ध्यान में आता है, तभी समस्या उत्पन्न करनेवालों का ठीक-ठीक निरीक्षण किया जा सकता है। यह निरीक्षण शान्ति और निश्छलता से करना चाहिए। सुख-दुःख पर आधृत कोई पूर्वनिश्चित योजना सामने रखकर यह निरीक्षण करना ठीक नहीं।

"लेकिन आप तो असम्भव बात की अपेक्षा रखते हैं। आज तक हमारा सारा शिक्षण, सारे संस्कार हमारे मन को वस्तु-वस्तु में भेद जानने की, उनकी आपस में तुलना करने की, उनमें से एक का चुनाव करने की और निर्णय करने की शिक्षा देते आये हैं। इस कारण जिस-जिसका हम अवलोकन करते हैं, उसके दोष न दिखाना अथवा उसका समर्थन न करना, हमारे लिए अत्यन्त कठिन है। अपने समस्त पूर्व-संस्कारों से मुक्त होकर शान्तिपूर्वक निरीक्षण करना क्या हमारे लिए सम्भव है?"

किसी भी यथार्थ आकलन के लिए निस्तब्ध निरीक्षण और सक्रिय सावधानी अत्यावश्यक है। इसका यदि स्पष्ट तथा सत्य दर्शन हो जाय, तो यही आपको पूर्व-संस्कारबद्धता से मुक्त करेगा। इस अक्रिय, किन्तु तरल सावधानता की आत्यन्तिक आवश्यकता का जब आपको दर्शन नहीं होता, तभी यह प्रश्न आपके सामने खड़ा रहता है कि यह कैसे सम्भव है। फिर अपनी पूर्वसंस्कारबद्धता नष्ट करने के लिए आप साधनों की खोज करने लगते हैं। वस्तुतः सत्य का दर्शन ही मुक्ति दिलाता है। अन्य कोई भी साधन और साधना मुक्ति नहीं दिला सकती। इसलिए पहले इस सत्य का दर्शन होना चाहिए कि केवल शान्त, निस्तब्ध निरीक्षण से ही यथार्थ आकलन होता है। तभी आप दोष देने की और समर्थन करने की प्रवृत्ति से मुक्त होंगे। जब आपके सामने अचानक कोई संकट आ जाता है, तब आप ऐसा प्रश्न नहीं पूछते हैं कि 'मैं इस संकट से अपनी रक्षा कैसे करूँ'। वस्तुस्थिति यह है कि अक्रिय सावधानता की आत्यन्तिक आवश्यकता आपको तीव्रता से महसूस ही नहीं होती। इसी कारण आप ऐसा प्रश्न करते हैं कि यह कैसे सम्भव है? लेकिन यह आवश्यकता आपकी समझ में क्यों नहीं आती?

"मुझे भी लगता है कि इस आवश्यकता को जानूँ। लेकिन इस दृष्टि से इस बात पर मैंने अब तक कभी विचार नहीं किया। मैं आज इतना ही कह सकती हूँ कि मैं अपनी समस्याओं से मुक्ति चाहती हूँ, क्योंकि, इनसे मुझे बेहद कष्ट होता है। और लोगों की तरह मेरी भी बड़ी इच्छा है कि मैं भी सुखी होऊँ।"

अक्रिय सावधानता की आवश्यकता की ओर ध्यान देना हम जाने-अनजाने बराबर टालते रहते हैं। क्योंकि हमारी समस्याएँ हल हों, ऐसा हम चाहते ही नहीं।

उनके हल हो जाने पर हमारे पास बचेगा ही क्या, यह भय हमें सालता रहता है। हमारे परिचय की वस्तु कितनी ही दुःखदायी हो, तो भी उसीसे चिपके रहना हमें अच्छा लगता है। अज्ञात दिशा की ओर ले जानेवाली बातों के पीछे लगने से हम कतराते हैं। हमारी समस्याएँ, कम-से-कम, हमारी परिचित तो होती ही हैं, लेकिन इन समस्याओं को उत्पन्न करनेवाला जो है, उसके पीछे लगने पर वह पता नहीं कहाँ ले जाकर पटक दे। यह विचार हमें डराता रहता है और हमें बहरा और बुद्धिशून्य बना डालता है। समस्याओं सम्बन्धी सारी चिन्ताएँ समाप्त होने पर क्या करना चाहिए, मन को कुछ सूझेगा नहीं। इन समस्याओं के चिन्तन से ही तो हमारा मन पुष्ट होता है, फिर वे समस्याएँ जागतिक हों या रसोईघर की, राजनीतिक हों या व्यक्तिगत, धार्मिक हों या वैचारिक। ये समस्याएँ ही हमें क्षुद्र और संकुचित बनाती हैं। जागतिक समस्याओं के कारण चिन्ताग्रस्त मन उतना ही क्षुद्र होता है, जितना अपनी आध्यात्मिक प्रगति की चिन्ता करनेवाला मन। समस्याएँ ही हमारे मन को तरह-तरह के भयों से भर देती हैं। क्योंकि ये समस्याएँ ही अहं को, 'मैं' और 'मेरे' को अधिकाधिक बल प्रदान करती हैं। हमारी सारी समस्याएँ, हमारी उपलब्धियाँ और हमारी विफलताएँ यदि न रहें तो अहं के रूप में कुछ बचेगा ही नहीं।

"लेकिन इस अहं के बिना मनुष्य जीवित भी कैसे रह सकेगा? सम्पूर्ण कार्य-प्रवृत्तियों का मूलस्रोत तो वही है।"

जब तक अभिलाषा के कारण, स्मृति के कारण, भय के कारण अथवा सुख या दुःख के कारण हमारी कृति गढ़ी जाती रहेगी तब तक वह मनुष्य को अपरिहार्यरूप से संघर्ष, व्याकुलता और वैमनस्य की ओर ही खींचती रहेगी। हमारी कृति हमारी पूर्वसंस्कारबद्धता से ही रूप धारण करती है, फिर संस्कारबद्धता का रूप चाहे जो हो। जीवन की चुनौती को दिया जानेवाला उत्तर जब तक अपूर्ण और असमर्पक रहेगा, तब तक उसमें से संघर्ष ही उत्पन्न होता रहेगा। यह संघर्ष ही समस्या है। अहं की रचना संघर्षमय ही होती है। लोभ के, भय के अथवा सफलता के गर्भ से उत्पन्न होनेवाले संघर्ष के बिना भी मनुष्य के लिए जीना पूर्णतः सम्भव है। लेकिन जब तक साक्षात् अनुभव से इस सम्भावना का शोध नहीं लगता, तब तक यह सम्भावना केवल काल्पनिक और तात्विक ही रहती है। उसका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता। अहं के व्यापारों को भलीभाँति समझ लेने पर ही लोभरहित जीवन जीना क्या चीज है, इसकी साक्षात् प्रतीति होती है।

"मैंने आज तक जिन बातों का दमन किया और जिन बातों से मुझे भय लगता रहा, उनके कारण ही मुझमें यह बधिरता आ गयी है, क्या आपको ऐसा लगता हैं?

क्योंकि शारीरिक दृष्टि से मेरे कान में कुछ दोष नहीं है, यह बात डॉक्टर ने विश्वासपूर्वक कही है। क्या आपको ऐसा लगता है कि मैं पहले की तरह सुन सकूँगी? जीवनभर मैं किसी-न-किसी प्रकार के दबाव में रही हूँ। जो कुछ करने की मुझे सहज इच्छा हुई, वह मैं नहीं कर सकी।''

किसी भी प्रवृत्ति का यथार्थ आकलन करने की अपेक्षा उसे भीतर या बाहर से दबा डालना सदैव अधिक सरल होता है। किसी भी बात का यथार्थ आकलन करना अत्यन्त कठिन है। जिन पर बाल्यकाल से ही संस्कारबद्धता का जोरदार दबाव रहता है, उनके लिए तो यह और भी कठिन है। प्रवृत्तियों का निरोध करना भी यद्यपि क्लेशदायक है, फिर भी मनुष्य को जल्दी ही इसकी आदत पड़ जाती है। इसके विपरीत आकलन करने की आदत डाला नहीं जा सकता या आकलन करने का काम यान्त्रिक नहीं हो सकता। उसके लिए अखण्ड सावधानता और सजगता आवश्यक है। आकलन के लिए लचक और तरल संवेदनक्षमता आवश्यक है। उसके लिए भावुकतापूर्ण सहृदयता नहीं चाहिए। किसी भी प्रकार के निरोध के लिए मात्र सावधानता ही आवश्यक नहीं है। जीवन की चुनौतियों का सामना करने की वह अत्यन्त सरल और मूर्खतापूर्ण पद्धति है। निरोध करने का मतलब है किसी कल्पना से या आदर्श से सुसंगत रहना। इसके कारण एक प्रकार की तात्कालिक सुरक्षा और प्रतिष्ठा का लाभ मनुष्य को होता है। यथार्थ आकलन मुक्ति दिलाता है, जब कि निरोध मनुष्य को अधिक-से-अधिक संकुचित करनेवाला और उसके चारों ओर घेरा डालनेवाला होता है। अधिकार जमानेवाले का भय, असुरक्षा का भय और लोकापवाद का भय—इन सब भयों के कारण एक काल्पनिक आश्रयस्थान पैदा होता है। इस आश्रयस्थान का भौतिक पहलू भी होता है और मन इसी आश्रयस्थान का आधार लेता है। यह आश्रयस्थान चाहे जैसा हो तो भी भय पर ही आधृत होता है। इस भय के कारण ही हमारी नैसर्गिक प्रवृत्तियों के स्थान पर किसी अन्य विकल्प की स्थापना, उन प्रवृत्तियों का उदात्तीकरण या अनुशासन —इस प्रकार निरोध के विविध रूप मूर्तिमन्त होते रहते हैं। लेकिन जिस-जिसका दमन किया जाता है, वह सब किसी-न-किसी रूप में वेगपूर्वक बाहर आने के लिए छटपटाता है। फिर वह किसी शारीरिक व्याधि के रूप में अथवा वैचारिक आभास के रूप में फूट पड़ता है। सहज प्रवृत्तियों का निरोध करने के लिए चुकायी जानेवाली यह कीमत व्यक्ति के देह-स्वभाव के अनुसार और वैयक्तिक सनक के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में होती है।

''यह बात तो मेरे ध्यान में आ गयी है कि जब कोई बुरी बात सुनने का प्रसंग आता है, तब मैं इस श्रवण यन्त्र का सहारा लेती हूँ और यह यंत्र मुझे अपने मनो-

निर्मित जगत् में भाग जाने में मदद करता है। लेकिन मैं सोच नहीं पा रही हूँ कि इतने वर्षों में सतत करते आये निरोध से मुक्त कैसे हो सकती हूँ। यह मुक्ति प्राप्त करने के लिए क्या लम्बी अवधि नहीं लगेगी ?"

देखिये यह अवधि का प्रश्न नहीं है। यह भूतकाल में गहरे उतरकर कुछ खोद निकालने का अथवा किसी भी वस्तु का सावधानीपूर्वक विश्लेषण करने का भी प्रश्न नहीं है। यह प्रश्न तो उस निरोध का साक्षात् दर्शन करने का है। निरोध की सम्पूर्ण प्रक्रिया का उदासीन होकर सावधानी से रुचि-अरुचिरहित वृत्ति से अवलोकन करने पर ही निरोध का तत्काल दर्शन होता है। यदि हम भूत और भविष्य की कालक्रम की भाषा में विचार करेंगे, तो निरोध की आवश्यकया की खोज सम्भव नहीं। सत्य का आकलन कालक्रम के आधार पर नहीं होता। सत्य काल के प्रवाह में सिद्ध होने-वाली वस्तु नहीं है। सत्य का दर्शन या तो तत्काल होगा या बिलकुल नहीं होगा। वह धीरे-धीरे या क्रम-क्रम से भी नहीं होता। इसी तरह अपने निरोध से मुक्त होने की, अहं-केन्द्रित होने की इच्छा भी निरोध के आकलन में बाधक है। यह अहं-केन्द्रित इच्छा ही वासना या अभिलाषा है—फिर यह वासना प्रवृत्तिपरक हो या निवृत्तिपरक। जहाँ वासना होती है, वहाँ उदासीन सावधानता का अस्तित्व संभव नहीं। मूलतः यह निरोध वासना द्वारा या लालसा द्वारा पैदा किया हुआ होता है। अतएव स्वयंनिर्मित बातों से स्वयं को मुक्त करना इच्छा-शक्ति के रूप में आगे आयी हुई वासना के लिए कभी सम्भव नहीं। इसके वास्तविक स्वरूप का आकलन उदासीन, किन्तु तरल सावधानता से करना चाहिए। जिसका विश्लेषण किया जाता है उससे अपने को पृथक् समझनेवाला भी वस्तुतः उसीका अंग होता है। जिस वस्तु का वह विश्लेषण करता है, उसीसे संस्कारबद्ध होने के कारण अपने को मुक्त नहीं कर सकता। यह इसकी वास्तविकता को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। सत्य ही बन्धन से छुटकारा दिलाता है, न कि इच्छा और प्रयत्न।

५०. जो 'है' और जो 'होना चाहिए'

वह अपनी कथा सुना रही थी : "मैं विवाहित हूँ, मेरे बच्चे भी हैं। लेकिन लगता है कि सारा प्रेम सूख गया है। मैं धीरे-धीरे भीतर से शुष्क होती जा रही हूँ। सामाजिक कार्यों में थोड़ा मन लगाती हूँ, लेकिन वह भी केवल मनोरंजन है। उसकी व्यर्थता मैं जानती हूँ। मुझे नहीं लगता कि किसी काम में मेरी पूरी और गहरी रुचि है। अपने दैनन्दिन कौटुम्बिक जीवन से और सामाजिक कार्यकलाप से मैंने अभी-अभी काफी लम्बी छुट्टी ली और मैंने चित्रकला में अपना मन लगाने का

प्रयत्न किया। लेकिन उसमें मन लग नहीं पाया। अब ऐसा लगने लगा है, मानो मुझमें जड़ता आ गयी है। मुझमें सर्जनशीलता नहीं, उत्साह नहीं और असंतोष भी गहरा हो गया है। मैं अभी तरुण हूँ। लेकिन मुझे अपना भविष्य अन्धकारमय भासने लगा है। आत्महत्या तक का विचार भी मन में कौंध गया है, लेकिन वह मुझे निरा पागलपन लगता है। मेरे मन की उलझन दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। मेरे असंतोष की तो सीमा ही नहीं है।'

किस बात को लेकर आपका मन इतना उलझन में पड़ गया है? कोई नाते-रिश्ते की समस्या तो आपको परेशान नहीं कर रही है?

"नहीं, मेरी वैसी कोई समस्या नहीं है। मैं उससे परे हूँ और परे होने का कोई बहुत बड़ा आघात भी नहीं है। लेकिन मेरा मन बहुत अधिक उलझ गया है। मुझे किसी भी तरह समाधान नहीं मिल रहा है।"

क्या आपके सामने कोई स्पष्ट समस्या है? या आपको सामान्य रूप में ही असन्तोष है? शायद आपके मन में गहरे-गहरे कोई चिन्ता या भय पैठ गया है और आपको उसका ज्ञान नहीं है। आप उसे जानना चाहती हैं क्या?

"हाँ, हाँ। इसीलिए तो मैं आपके पास आयी हूँ। इस तरह जीना मेरे लिए अब असम्भव हो गया है। मुझे अब किसी बात का महत्त्व नहीं लगता। बीच-बीच में मैं बीमार भी रहने लगी हूँ।"

आपकी यह बीमारी भी अपने से और परिस्थिति से दूर भाग जाने का बहाना ही हो सकती है।

'ऐसा ही होना चाहिए, ऐसा मेरा विश्वास है। लेकिन मैं करूँ भी तो क्या? सचमुच मैं निराश हो गयी हूँ। यहाँ से जाने के पहले मुझे अपनी इस स्थिति से बाहर निकलने की राह मिलनी ही चाहिए।"

आपके मन में जो संघर्ष चल रहा है, वह दो प्रत्यक्ष बातों के बीच का संघर्ष है अथवा एक प्रत्यक्ष और एक काल्पनिक बात के बीच का संघर्ष है? आपका जो असमाधान है, वह केवल असन्तोष है और सहज ही दूर होनेवाला है अथवा वह कारणशून्य व्यथा है? असन्तोष को तो जल्दी ही कोई राह मिल जाती है और उससे वह असन्तोष स्व-सन्तोष में परिवर्तित हो जाता है। असंतोष घुमड़ता रहे तो उसके लिए कोई राह निकाली जा सकती है। लेकिन असमाधान को विचार से शान्त नहीं किया जा सकता। आपका यह जो तथाकथित असमाधान है, उसको कहीं भी और किसी भी तरह सन्तोष नहीं हो सकता, इसीलिए उत्पन्न हुआ है क्या? आपको किसी भी तरह सन्तोष हो जाय तो क्या आपका यह असमाधान मिट जायगा? आपका प्रयत्न इसलिए तो नहीं है न कि आपको कोई स्थायी संतोष प्राप्त हो जाय?

"नहीं, ऐसा बिलकुल नहीं है। मैं सचमुच किसी भी प्रकार के संतोष की खोज में नहीं हूँ, कम-से-कम मैं तो ऐसा नहीं सोचती। मेरे मन में काफी उथल-पुथल और संघर्ष मचा है और इसमें से कैसे बाहर निकला जाय, यह बात मेरी समझ में नहीं आ रही है।"

लेकिन जब आप कहती है कि संघर्ष मचा हुआ है, तब वह किसी-न-किसी विषय का होना चाहिए। आपका अपने पति से, बच्चों से अथवा कार्य से जो सम्बन्ध है, उन्हींके सम्बन्ध में यह संघर्ष होना चाहिए। यदि ऐसी बात नहीं है तो वस्तुतः आप जिस प्रकार की हैं और जैसी होना चाहती हैं, उनका संघर्ष होना चाहिए। यह संघर्ष वास्तविकता और आदर्श में, जो प्रत्यक्ष 'है', और जो 'होना चाहिए' ऐसा लगता है, लेकिन जो केवल अस्तित्व-शून्य कल्पनामात्र है, उनमें उत्पन्न हुआ होगा। हमें कैसा होना चाहिए, इसका काल्पनिक चित्र आपके मन के समक्ष है और इस स्व-निर्मित आदर्श के चौखटे में अपने को बैठाने की अभिलाषा के कारण आपके मन में यह उथल-पुथल और संघर्ष मचा होगा। क्या यह सच है कि आप वस्तुतः जैसी हैं, उससे कुछ भिन्न होने का निरन्तर प्रयास कर रही हैं ?

"मेरी यह उथल-पुथल किस कारण मची है, यह अब कुछ-कुछ मेरी समझ में आने लगा है। मुझे लगता है कि आप जो कहते हैं, वह सही है।"

आपका यह संघर्ष वास्तविकता और काल्पनिक आदर्श का, यानी आप जैसी 'हैं' और जैसी 'होना चाहती हैं' के बीच का है। यह काल्पनिक आदर्श आपके मन में बचपन से ही अंकुरित हो चुका है। वास्तविकता और आदर्श की यह खाई काल के प्रवाह में उत्तरोत्तर चौड़ी तथा गहरी होती आयी है। परिस्थिति के अनुसार इस आदर्श चित्र में सतत परिवर्तन भी होता आया है। सारे ध्येय, सारे साध्य, सारे आदर्श जीवन-चित्र वास्तविकता के विरोध में ही होते हैं। आपकी वस्तुशून्य कल्पना की भी वही स्थिति है। यह कल्पना, वास्तव में आप जैसी हैं, उससे दूर जाने के लिए खोजा हुआ एक बहाना है। वह बहाने के कारण परस्पर विरोधों का निरर्थक संघर्ष अनिवार्यतः उत्पन्न हो जाता है। और यह तो है ही कि संघर्ष आन्तरिक हो या बाह्य, वह सदैव व्यर्थ, निष्फल और मूर्खतापूर्ण ही होता हैं, और वह उलझन पैदा करने तथा विरोध बढ़ाने में कारणीभूत होता है।

अतः मैं आपसे यह कहना चाहता हूँ कि आपका यह संघर्ष, आप जैसी हैं और जैसी होने के बारे में आपने जो वस्तुशून्य जीवन-चित्र बना रखा है, उसमें चल रहा है और उसीमें से आपकी यह उथल-पुथल और यह भ्रम उत्पन्न हुआ है। आपकी यह वस्तुशून्य कल्पना, सम्पूर्ण काल्पनिक आदर्श सर्वथा अवास्तविक है। वह स्वविक्षे-पित एक बहाना है, पलायन है। उस आदर्श में वास्तविकता कतई नहीं है। आप

जैसी हैं, वही वास्तविकता है। आप कैसी हों, इसकी अपेक्षा आप कैसी हैं, यही अधिक महत्त्वपूर्ण है। आप कैसी हैं, इसका आकलन आपको हो सकता है, लेकिन आप कैसी हों, इसका आकलन नहीं हो सकता। आभास अथवा भ्रम का आकलन सम्भव ही नहीं है। यह आभास उत्पन्न कैसे होता है, मात्र इसीका आकलन हो सकता है। काल्पनिकता में अथवा आदर्श में कोई यथार्थता अथवा वास्तविकता नहीं होती। आदर्श किसी-न-किसी प्रक्रिया का परिणाम होता है, परिपाक होता है। अतएव महत्त्व की बात यही है कि उसकी उत्पत्ति कैसे हुई, उस प्रक्रिया को जान लिया जाय।

वस्तुतः आप जैसी हैं—फिर यह होना सुखद प्रतीत हो या दुःखद—वैसे ही अपने स्वरूप को जानने के लिए वह काल्पनिक आदर्श, वह स्वविक्षेपित भविष्य-चित्र पूरी तरह नष्ट हो जाना चाहिए। ऐसा होने पर ही आप समझ सकेंगी कि आप वस्तुतः कैसी हैं। जो वास्तविक है, उसके आकलन के लिए हमें चाहे जिस ओर खींचनेवाली समस्त व्यग्रताओं से मुक्त होना आवश्यक है। जो है, उसे दोष देना अथवा उसका समर्थन करना ही व्यग्रता है। तुलना भी व्यग्रता का ही एक रूप है। इसी तरह वास्तविकता का प्रतिकार अथवा अनुशासन भी उसका प्रतिरूप है। इसे समझने के लिए जबरन प्रयत्न करना भी उसीका एक प्रकार है। जो 'है', वह कभी भी स्थिति-शील नहीं होता। वह अखण्ड गतिमान् होता है। इसे समझने के लिए इस अखण्ड गतिमान् के साथ तेजी से चलनेवाले के मार्ग में सब प्रकार की व्यग्रताएँ आड़े आती हैं। इसलिए यह जो अखण्ड गतिमान् होना है, उसके साथ सतत चलते रहने के लिए मन का किसी भी श्रद्धा के साथ, यश की आशा अथवा अपयश के भय के साथ बँधना उचित नहीं। जो है, वह केवल उदासीन एवं जीवन्त जागरूकता में ही अभिव्यक्त होता है और यह अभिव्यक्ति कभी भी काल-सापेक्ष नहीं होती। ●

५१. परस्पर-विरोध

वह प्रतिष्ठित तथा यशस्वी राजनीतिक व्यक्ति था। उसमें कुछ गर्व तथा कुछ उतावलापन भी था। उसे ऊँची शिक्षा मिली थी। वह अपनी बात कुछ इस प्रकार रखता था कि उसमें एक प्रकार का प्रभावपूर्ण पाण्डित्य और वक्रता झलकती थी। वह सदैव लोकानुभव करने में व्यस्त रहता था, अतः उसके लिए सूक्ष्मतापूर्वक तथा तरल बुद्धि से विचार करना असम्भव था। उसे शायद ऐसा लगने लगा था कि वह स्वयं ही जनता, राज्य अथवा सत्ता है। वह धाराप्रवाह बोलता था। उसका यह

अस्खलित वाक्प्रवाह उसके लिए दुर्भाग्य बन बैठा था। उसका चारित्र्य शुद्ध था और इसीसे जनता पर उसका विलक्षण प्रभाव था। उस कमरे में आकर बैठने के कारण या न जाने क्यों, उसमें एक प्रकार की विचित्र बेचैनी दिखाई दे रही थी। उसके व्यक्तित्व का राजनीतिक अंश कहीं दूर छूट गया था और केवल एक मनुष्य के नाते ही यहाँ आकर बैठने के कारण उसकी स्वतःसम्बन्धी कल्पना भंग हो गयी थी। अतएव वह कुछ धैर्य-विहीन हो गया था। उसका आवेगयुक्त आत्मविश्वास जाता रहा था तथा समझने की आतुरता, ध्यान में रखने की तत्परता और अपने स्वरूप को उजागर करने की तैयारी उसमें दीख रही थी।

सायंकाल की मीठी-सुहाती धूप खिड़की से भीतर आ रही थी। सड़क का कोलाहल भी सुनाई पड़ रहा था। वे तोते—तेजस्वी हरे प्रकाश की शलाकाएँ—दिनभर के भ्रमण के बाद शहर के वृक्षों पर विश्राम के लिए लौट रहे थे। रास्ते के किनारे के अथवा बगीचों के बड़े-बड़े वृक्षों पर वे विश्राम कर रहे थे। उड़ते-उड़ते वे विचित्र कर्कश ध्वनि करते जाते थे। वे सीधी रेखा में नहीं उड़ रहे थे, कभी एकदम नीचे आ जाते तो कभी ऊपर उड़ान भरते और कभी किनारे-किनारे उड़ते। उडते हुए वे आपस में आवाहन करते हुए कर्कश आवाज करते। उनका यह टेढ़ा-मेढ़ा उड़ना और कर्कश ध्वनि उनके सौन्दर्य से सर्वथा विसंगत लग रही थी। उधर दूर समुद्र पर एक सफेद पाल दिखाई दे रहा था। वह कमरा कुछ ही लोगों से भर गया था। लेकिन उन लोगों की पोशाक के रंग और उनके विचारों में कितना विरोध था। एक पिल्ले ने भीतर झाँका, इधर-उधर देखा और तत्काल भाग गया। उसकी ओर शायद किसीका ध्यान नहीं गया। उधर मन्दिर के घण्टे का नाद कानों में पड़ रहा था।

वह पूछ रहा था, "हमारे जीवन में यह परस्पर-विरोध क्यों है? यों हम विश्व-शान्ति और अहिंसा के आदर्श के विषय में सतत बोलते रहते हैं, फिर भी हम युद्ध के बीज बोते रहते हैं। हमें आदर्श के स्वप्न देखते रहने की अपेक्षा वास्तविकतावादी बनना चाहिए। हम शान्ति चाहते हैं, लेकिन हमारे सारे दैनिक कार्यकलाप अन्ततः हमें युद्ध की ओर ही खींच रहे हैं। हम प्रकाश चाहते हैं, लेकिन खिड़की बन्द कर देते हैं। हमारी सारी विचार-प्रक्रिया ही परस्पर-विरोधी है। हम 'हाँ' भी चाहते हैं, और 'नहीं' भी। मुझे लगता है कि यह परस्पर-विरोध मानव-स्वभाव में स्वाभाविक ही है। इसलिए अपने मन को विरोध-शून्य बनाने का, एकात्मक बनाने का प्रयत्न करने में कोई सार नहीं है। प्रेम और द्वेष सतत एक ही स्थान पर विचरते हैं। यह परस्पर विरोध क्यों चलता है? क्या वह अपरिहार्य है? कोई इससे कतराकर रह सकता है? आधुनिक राष्ट्रों का सम्पूर्ण शान्ति के मार्ग पर चलना क्या कभी सम्भव है? सबका एक होना क्या सम्भव है? एक ओर शान्ति-प्रयत्न और दूसरी ओर युद्ध की तैयारी करते रहना क्या ठीक है? ध्येय है शान्ति का और रास्ता है युद्ध की तैयारी का!"

हम अपने सामने कोई अचल आदर्श क्यों रखते हैं ? यह आदर्श अचल होता है, इसीलिए उससे च्युत होने पर परस्पर-विरोध उत्पन्न होता है। अगर यदि हम अपने सामने किसी आदर्श या निर्णय का कोई अचल विन्दु न रखें तो परस्पर-विरोध उत्पन्न ही नहीं होगा। हम सदैव कोई अचल ध्येय अपने सम्मुख रखते हैं, और फिर भटककर उससे दूर चले जाते हैं। इसीको 'परस्पर-विरोध' समझा जाता है। हम अनेक स्तरों से और अनेक चक्करदार रास्तों से होकर किसी निर्णय तक पहुँचते हैं और फिर इस निर्णय तथा आदर्श के अनुसार जीने का प्रयास करते हैं। लेकिन ऐसा करना सम्भव नहीं होता और इसीलिए हमारे जीवन में परस्पर-विरोध पैदा होता है। फिर हम उस अचल निर्णय अथवा आदर्श तथा उस आदर्श के विरुद्ध होनेवाली कृति अथवा विचार दोनों को जोड़ने के लिए सेतु बनाने का प्रयास करते हैं। इस सेतु का बनाना उक्त आदर्श के साथ सुसंगत रहना कहलाता है। यों आत्मनिर्मित आदर्श से सुसंगत रहनेवाले मनुष्य की हम कितनी प्रशंसा करते हैं! उसे हम सन्त मान लेते हैं। लेकिन पागल मनुष्य भी तो सुसंगत ढंग से ही रहते हैं। वे भी अपने मन के निर्णय से चिपके रहते हैं। जिस पागल को लगता है कि वह नेपोलियन है, उसमें किसी तरह का विरोध नहीं होता। अपनी कल्पना का वह प्रत्यक्ष स्वरूप होता है और अपने आदर्श से जो भलीभाँति एकरूप हो जाता है, वह स्पष्टतः असंतुलित होता है।

जिस निर्णय को हम आदर्श या ध्येय कहते हैं, वह किसी भी स्तर का हो सकता हैं। ऐसा निर्णय जान-बूझकर भी हो सकता है, विना जाने-समझे भी हो सकता है। लेकिन एक बार निर्णय कर लेने के बाद हमारा प्रयत्न रहता है कि हमारी प्रत्येक कृति उस निर्णय के अनुरूप ही हो। इसी कारण परस्पर-विरोध पैदा होता है। अपने आदर्श के साथ सुसंगत रहने का कोई महत्त्व नहीं है। वास्तविक महत्त्व इस खोज का है कि हमने ऐसा निर्णय क्यों लिया और यह अचल लक्ष्य क्यों स्वीकारा। क्योंकि, हमने यदि अचल और अडिग आदर्श का निर्माण ही नहीं किया होता, तो परस्पर-विरोध भी नहीं रहता। अतः सोचने की बात है कि हम कोई निर्णय या आदर्श क्यों खड़ा करते हैं? क्या हमारा आदर्श ही हमारी कृति के आड़े नहीं आता? क्या यह आदर्श इसीलिए खड़ा नहीं किया गया कि अपनी कृति का नियंत्रण किया जाय, उसे मोड़ दिया जाय? क्या यह सम्भव नहीं कि मनुष्य इस आदर्श के विना भी कृति कर सके? हमारा आदर्श हमारी पूर्वसंस्कारबद्धता में से ही उत्पन्न होता है। इसलिए यह आदर्श मनुष्य को संघर्ष और भ्रम से मुक्त करने का साधन नहीं हो सकता। उल्टे, यह निर्णय या आदर्श मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद उत्पन्न करने में कारणीभूत बनता है। इस तरह वह विघटन-प्रक्रिया की गति तेजी से बढ़ा देता है।

आरम्भ में ही यदि हम आदर्श का अचल लक्ष्य निर्माण न करें तो उससे च्युत होने का भी प्रश्न खड़ा न हो और आदर्श के साथ सुसंगत रहने की, उत्कट रहने की इच्छा के कारण उत्पन्न होनेवाले परस्पर-विरोध को भी कोई स्थान न रहे। फिर जो कृति मूर्त होगी, वह क्षण-क्षण पर बननेवाली होगी। यह कृति वास्तविक और सम्पूर्ण होगी। जो वास्तविक और सत्य है, वह प्रत्यक्ष होता है। वह आदर्श नहीं होता अथवा वह कल्पित-कथा भी नहीं होता। जो वास्तविक होता है उसका आकलन हो सकता है और मनुष्य तदनुसार व्यवहार भी कर सकता है। वास्तविक का आकलन वैर-भाव बढ़ाने में कारणीभूत नहीं होता, जबकि आदर्श सदैव वैर-भाव बढ़ाते रहते हैं। मनुष्य में मौलिक क्रान्ति लाने में आदर्श कभी समर्थ नहीं होते। वे परम्परा के सातत्य में थोड़ा-सा परिवर्तनभर कर सकते हैं। मूलभूत अखण्ड क्रान्ति क्षण-क्षण की कृति में ही हो सकती है। ऐसी कृति आदर्श पर आधृत नहीं होती और इसलिए वह किसी भी अडिग निर्णय से मुक्त रहती है।

"लेकिन इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य चलाना सम्भव नहीं। वहाँ तो विभिन्न मुद्दों का कोई आदर्श, कोई योजनाबद्ध कृति, कोई केन्द्रित प्रयत्न आवश्यक होता है। आपकी बात किसी व्यक्ति पर लागू हो सकती है। आपकी बात मेरे व्यक्तिगत जीवन के लिए लाभदायक हो सकती है, ऐसा मुझे स्पष्ट दिखाई देता है। लेकिन मुझे नहीं लगता कि सामुदायिक कृति करने की दृष्टि से आपकी बात विशेष उपयोगी होगी।"

देखिये, कोई भी योजना तैयार की जाती है तो उसमें सतत परिवर्तन करना ही पड़ता है। बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार उसमें हेर-फेर करना आवश्यक होता है। मान लीजिये, हम किसी पक्की योजना के अनुसार कार्य आरम्भ करते हैं और यदि हम नयी-नयी भौतिक परिस्थितियों का तथा मनोवैज्ञानिक दबावों का ध्यान नहीं रखते तो उस काम में हमें निश्चित रूप से विफलता मिलेगी। यदि आप कोई पुल बनाना चाहते हैं, तो केवल पुल का नक्शा बनाने से काम नहीं चलेगा। उसके साथ-साथ चारों ओर की जमीन कैसी है, पुल के आसपास का भूखण्ड कैसा है, इसका भी अध्ययन करना पड़ेगा। नहीं तो आपकी योजना ठीक-ठीक नहीं बन सकेगी। मानव-जीवन की भी यही बात है। मानव-जीवन की सम्पूर्ण क्रियाओं से सम्बद्ध समस्त भौतिक और शारीरिक वस्तुस्थिति और मानव-जीवन पर आनेवाले सब प्रकार के मानसिक दबावों का जब पूरा ज्ञान होगा, तभी सम्पूर्ण कृति मूर्त होगी। यह ज्ञान किसी भी पूर्वनिश्चित रेखांकन पर अवलम्बित नहीं होता। इसके लिए नित्य बदलती हुई परिस्थिति के साथ जल्दी-जल्दी मेल बैठाना आवश्यक होता है। यह मेल बैठाना ही बुद्धि है। ऐसी तरल बुद्धि के अभाव में ही हम पूर्व-निश्चित निर्णयों का, आदर्शों,

का और साध्यों का आधार लेते हैं। राज्य स्थितिशील नहीं होते। उनके नेता स्थितिशील हो सकते हैं; लेकिन राज्य तो व्यक्ति की तरह ही गतिमान् और जीवन्त होता है और जो गतिमान् होता है, उसे पूर्वनियोजित नक्शे के चौखटे में बद्ध रखना सम्भव नहीं। हम आम तौर पर राज्य को घेरा हुआ रखने के लिए उसके चारों ओर पूर्वनिश्चित निर्णयों की ओर आदर्शों के दीवार खड़ी करते हैं। लेकिन कोई भी जीवन्त वस्तु उसके प्राण लिये बिना घेरी नहीं जा सकती। इसलिए हम राज्य की सजीवता नष्ट कर डालते हैं और उस मृतप्राय राज्य को पूर्वनिश्चित योजना तथा आदर्श के अनुसार पुनः गढ़ते रहते हैं। मृत अथवा निर्जीव वस्तु को ही आदर्श के चौखटे मे जबरदस्ती से बैठाया जा सकता है। लेकिन जीवन तो सतत गतिमान् है। जिस क्षण किसी निश्चित आदर्श के या निर्णय के चौखटे में हम जीवन को बैठाना चाहते हैं, उसी क्षण परस्पर-विरोध पैदा हो जाता है। व्यक्ति का किसी विशिष्ट आदर्श के साथ सुसंगत रहने का अर्थ है उसका विघटन। वही हाल राज्य अथवा राष्ट्र का भी होता है। आदर्श कभी भी जीवन से श्रेष्ठ नहीं होता। हम जब आदर्श को जीवन की अपेक्षा श्रेष्ठ बनाना चाहते हैं, तभी उसमें से भ्रम, वैर और दुःख उत्पन्न होते हैं। ●

५२. ईर्ष्या

सामने की दीवाल पर पड़नेवाली तेज धूप के कारण आँखें मिचमिचाती थीं और लोगों के चेहरे भी कुछ अस्पष्ट दीखते थे। माँ के प्रोत्साहन के बिना एक छोटी लड़की स्वयं ही मेरे पास आकर बैठ गयी। यह सब क्या चल रहा है, इसे वह कौतू-हलभरी आँखों से देख रही थी। शायद उसने अभी-अभी स्नान किया था और वह स्वच्छ वस्त्र पहने थी। उसके बालों में फूल भी सजे हुए थे। बाल-स्वभाव के अनु-सार बहुत-कुछ ध्यान में रखने की चिन्ता न करते हुए वह आसपास की सारी बातों का निरीक्षण कर रही थी। उसकी आँखों में अनोखी चमक थी। अब क्या किया जाय—रोये, हँसे कि उछल-कूद करे—उसे सूझ नहीं रहा था। सम्भवतः इसी कारण उसने सहज रूप से मेरा हाथ अपने हाथ में लिया और उसका अत्यन्त ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने लगी। जल्दी ही वह आसपास के लोगों को भूल गयी और मेरी जाँघ पर सिर रखकर आराम से सो गयी। उसका माथा सुन्दर, सुडौल था और वह अत्यन्त स्वच्छ तथा निर्मल थी। लेकिन उसका भविष्य कमरे में बैठे अन्य लोगों की भाँति भ्रमपूर्ण और दुःखमय था। भविष्य में उसके मन में पैदा होनेवाला संघर्ष और दुःख सामने की दीवाल पर पड़नेवाले सूर्य-प्रकाश की भाँति स्पष्ट था। क्योंकि

दुःख और वेदना से मुक्त होने के लिए श्रेष्ठ बुद्धि आवश्यक है। लड़की को भविष्य में जो शिक्षण मिलनेवाला था और जिन-जिन बातों का प्रभाव उस पर पड़नेवाला था, उसके कारण श्रेष्ठ बुद्धि का उदय उसमें कभी नहीं होने दिया जायगा, यह स्पष्ट दीख रहा था। प्रीति – वह धूम्ररहित ज्योति—इस विश्व में कितनी विरल है ! यह धुआँ ही सबको व्याप लेता है, दम घोटता है और हृदय में तीव्र वेदना तथा आँखों में दुःखाश्रु लाता है। इस धुएँ में वह ज्योति शायद ही दिखाई पड़ती है और जब धुएँ को ही सर्वंकष माहात्म्य प्राप्त होता है, तब तो ज्योति बुझ ही जाती है। यह प्रीति-ज्योति न हो तो जीवन का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। वह निर्बुद्ध और उबानेवाला बन जाता है। लेकिन घने-काले धुएँ में यह ज्योति रह ही नहीं सकती। धुएँ और ज्योति का एक जगह रहना सम्भव ही नहीं। धुएँ के बिलकुल नष्ट होने पर ही ज्योति का दर्शन होता है। यह ज्योति उस धुएँ की प्रतिस्पर्धी नहीं होती, क्योंकि उसका कोई प्रतिस्पर्धी नहीं होता। धुआँ ज्योति नहीं होता। धुआँ ज्योति को अपने में कभी भी समाविष्ट नहीं कर सकता। इसी प्रकार धुआँ ज्योति के अस्तित्व का निदर्शक भी नहीं हो सकता। क्योंकि, ज्योति पूरी तरह धूम्ररहित होती है।

वह स्त्री कहने लगी : "प्रेम और घृणा का एक जगह रहना क्या सम्भव ही नहीं है ? क्या ईर्ष्या भी वस्तुतः प्रीति की ही निदर्शक नहीं है ? हम प्रीतिपूर्वक एक-दूसरे का हाथ पकड़ते हैं, पर दूसरे ही क्षण हम एक-दूसरे से चिढ़ने लगते हैं। कभी हम रोष में आकर एक-दूसरे को चुभनेवाले कठोर शब्द बोलते हैं और थोड़ी ही देर बाद एक-दूसरे का आलिंगन करने लगते हैं। कभी हम आपस में बुरी तरह झगड़ते हैं और फिर एक-दूसरे का चुम्बन लेकर झगड़ा मिटा डालते हैं। ये सारे रूप क्या प्रेम के ही निदर्शक नहीं हैं ? स्वयं ईर्ष्या भी तो हमारी दृष्टि में प्रीति का निदर्शक है। प्रकाश और अन्धकार की भाँति प्रीति और ईर्ष्या भी एक ही जगह विचरती हुई दीखती हैं। एक क्षण में नाराज होना और दूसरे क्षण सहलाने लगना, यह अभिव्यक्ति क्या प्रीति की ही पूर्णता नहीं प्रकट करती ? नदी कभी शान्त रहती है तो कभी अशान्त। वह प्रकाश में से भी बहती है और अन्धकार में से भी। क्या इसीमें नदी का सौन्दर्य निहित नहीं है ?"

जिसे हम 'प्रीति' कहते हैं, वह क्या चीज है, इसे देखें। ईर्ष्या होना, काम-वासना जाग्रत होना, कठोर शब्द बोलना, सहलाना और हाथ में हाथ लेना, झगड़ा करना और उसे तत्काल मिटा डालना,—ये सारी घटनाएँ तथाकथित प्रीति के क्षेत्र की मानी जाती हैं। पहले नाराज होना और फिर सहलाना तो इस क्षेत्र की रोज की घटनाएँ हैं, हैं कि नहीं ? इन विभिन्न घटनाओं से सम्बन्ध जोड़ने का हम सदैव

प्रयत्न करते रहते हैं। अथवा हम एक घटना की दूसरी घटना से तुलना करते रहते हैं। इसी क्षेत्र की एक घटना की सहायता से हम दूसरी घटना को दोष देने लगते हैं अथवा समर्थन करने लगते हैं। अथवा इस क्षेत्र की एक घटना का सम्बन्ध बाहर की किसी घटना से जोड़ना चाहते हैं। हम प्रत्येक घटना का स्वतन्त्र रूप से विचार करते ही नहीं, बल्कि अनेक घटनाओं में परस्पर सम्बन्ध ढूँढ़ते हैं। हम ऐसा क्यों करते हैं ? वस्तुतः किसी घटना का आकलन हम तभी कर सकते हैं, जब हम उसी क्षेत्र की दूसरी घटना की सहायता से, उस घटना को समझने का प्रयत्न न करें। क्योंकि, ऐसा करने से भ्रम और संघर्ष ही उत्पन्न होते हैं। एक ही क्षेत्र की विभिन्न घटनाओं की परस्पर तुलना हम क्यों करते हैं ? एक घटना यदि अर्थपूर्ण है तो उसकी अर्थपूर्णता की सहायता से दूसरी घटना का अर्थ लगाने का अथवा दूसरी घटना के विरोध में ही उसे खड़ी करने का प्रयास हम क्यों करते हैं ?

"आप क्या कह रहे हैं, इसका अर्थ कुछ-कुछ मेरी समझ में आने लगा है। लेकिन हम ऐसा क्यों करते रहते हैं ?"

देखिये, किसी भी घटना का आकलन क्या कल्पना अथवा स्मृति के चश्मे से हो सकता है ? कोई किसीका हाथ पकड़ ले तो क्या आप ईर्ष्या की भावना को समझ लेंगे ? वस्तुस्थिति यह है कि जैसे हाथ में हाथ लेना एक घटना है, वैसे ही ईर्ष्या करना भी एक घटना है। लेकिन एक-दूसरे का हाथ पकड़ने की स्मृति आपके मन में है, इसलिए उसकी सहायता से ईर्ष्या की प्रक्रिया भी आपके ध्यान में आ जायगी, ऐसा थोड़े ही है। स्मृति की सहायता से क्या किसी भी बात का आकलन संभव है ? दो घटनाओं की तुलना करना, उनमें संशोधन करना, किसीको दोष लगाना, किसी-का समर्थन करना अथवा किसीसे एकरूप हो जाना—ये सारी बातें स्मृति ही करती है। लेकिन किसीका भी यथार्थ आकलन करा देना स्मृति के लिए बिलकुल सम्भव नहीं है तथाकथित प्रीति के क्षेत्र की घटनाओं की ओर हम कल्पना के अथवा पूर्व-निश्चित निर्णयों के चश्मे से देखते हैं। ईर्ष्या की घटना वास्तव में जैसी होती है, उसी रूप में उसका हम शान्तिपूर्वक निरीक्षण नहीं करते। इसके बदले घटना की तरफ देखने के अपने ढंग तथा निर्णय के अधीन होकर हम घुमा-फिराकर उस घटना की ओर देखते हैं। क्योंकि उसके वास्तविक स्वरूप के आकलन की सचमुच हमारी इच्छा ही नहीं होती। वस्तुतः ईर्ष्या की संवेदना भी प्रेम से सहलाने से उत्पन्न संवे-दना जैसी ही उद्दीपक होती है। लेकिन हम तो संवेदना के साथ-साथ स्वतः आनेवाले दुःख और व्यग्रता से रहित संवेदना का उद्दीपन चाहते हैं। इसीलिए हम जिसे 'प्रीति' कहते हैं, उसके क्षेत्र में संघर्ष, उलझन और विरोध प्रकट होते हैं। लेकिन क्या इसीका नाम प्रीति है ? कल्पना, संवेदना अथवा उद्दीपन को प्रीति माना जा सकता है ? क्या ईर्ष्या को प्रीति कहा जा सकता है ?

"लेकिन, क्या सत्य भी माया से आवरित नहीं होता ? क्या अन्धकार प्रकाश को आवरित नहीं करता, ढँक नहीं देता ? क्या ईश्वर भी बन्धन में अटका हुआ नहीं है ?

ये सब केवल कल्पनाएँ हैं, केवल मत हैं। इसलिए उनमें कोई यथार्थता नहीं है। ये कल्पनाएँ केवल वैर-भाव ही उत्पन्न करती हैं। वे न तो सत्य को आवरित ही कर सकती हैं और न उसे बाँधकर ही रख सकती हैं। जहाँ प्रकाश होता है, वहाँ अन्धकार नहीं रहता। अन्धकार प्रकाश को ढँक नहीं सकता। अगर वह ढँक दे तो मानना होगा कि वहाँ प्रकाश था ही नहीं। जहाँ ईर्ष्या होती है, वहाँ प्रीति नहीं होती। कल्पना प्रीति को कभी आवरित नहीं कर सकती। किन्हीं भी दो बातों के पारस्परिक सुसंवाद के लिए आपसी रिश्ता आवश्यक है। प्रीति का कल्पना से कोई नाता-रिश्ता नहीं। इसलिए कल्पना का प्रीति से सुसंवाद हो ही नहीं सकता। प्रीति धूम्ररहित ज्योति है।

५३. सहजता

कुछ लोग गम्भीर चर्चा के लिए आये थे। उनके साथ एक महिला भी थी। शायद वह कुतूहलवश ही आयी थी अथवा उन लोगों में से कोई स्नेहवश उसे ले आया था। उसकी वेश-भूषा सुन्दर थी और आकृति में एक प्रकार का संयम। यह भी साफ दिखाई दिया कि उसे अपने सुन्दर होने का भान है और उसे अपने सुगठित शरीर की, केशविन्यास की तथा अपने सौन्दर्य का लोगों पर पड़नेवाले प्रभाव की, अर्थात् अपने शिष्टतापूर्ण व्यक्तित्व की पूरी-पूरी जानकारी है। वह अपनी हर गतिविधि और भावभंगी का जो भिन्न-भिन्न स्वरूप व्यक्त करती थी, उसका भी उसने पहले से समझ-बूझकर विचार कर लिया था, ऐसा महसूस हुआ। ऐसा लगता था कि उसने अपना विशिष्ट स्वरूप बड़े श्रम से परिपुष्ट किया है, और शायद उसका यह भी निश्चय था कि उसका स्वत्व इस प्रकार के ढाँचे से व्यक्त होता रहेगा। अन्य लोग घण्टेभर तक गम्भीर चर्चा करते रहे, लेकिन उस महिला ने अपनी वह मुद्रा उतने समय तक वैसी ही बनाये रखी। गम्भीर भाव से चर्चा करनेवाले उन लोगों के बीच अपने सु-रूप का भान रखनेवाली यह महिला, चर्चा में ध्यान देने का और उसमें भाग लेने का प्रयत्न भी करती-सी प्रतीत हुई। लेकिन मुँह से एक भी शब्द निकल नहीं रहा था। वह यह दिखाना चाहती थी कि जिस समस्या पर चर्चा चल रही है, उसे उसकी जानकारी है। लेकिन एक प्रकार की व्यग्रता उसकी आँखों में थी। क्योंकि, वह उस गम्भीर चर्चा में भाग लेने में असमर्थ थी। उसने तत्काल अपने

को चर्चा से अलग भी कर लिया। लेकिन एक लम्बे समय से पाल-पोसकर तैयार किया हुआ वह विशिष्ट स्वरूप उसने वैसा ही बनाये रखा। यह स्पष्ट था कि इस विशिष्ट मुद्रा के द्वारा सारी सहजता प्रयासपूर्वक नष्ट की जा रही थी।

प्रत्येक मनुष्य किसी विशिष्ट ढब का संवर्धन करता है। उद्योग-धन्धे में सफल मनुष्य के चाल-ढाल का एक विशिष्ट ढब होता है। अपने अभिप्रेत के सिद्ध होने का हास्य उसकी मुद्रा पर झलकता है। कलाकारों का भी एक विशिष्ट ढब होता है। इसी तरह आज्ञाकारी शिष्यों का तथा अनुशासनबद्ध तपस्वियों का भी विशेष ढब होता है। अपनी अस्मिता का विशेष भान रखनेवाली उस महिला की तरह तथाकथित धार्मिक मनुष्य में भी स्वयंशासनबद्धता का विशिष्ट ढब होता है। नाना प्रकार के त्यागों तथा आत्म-पीड़न से यह ढब संवर्धित किया जाता है। विशिष्ट प्रकार का परिणाम लाने के लिए वह तरुण महिला सहजता का बलिदान कर रही थी और धार्मिक मनुष्य किसी विशिष्ट साध्य की प्राप्ति के लिए अपना बलिदान करता हैं। विभिन्न स्तरों पर क्यों न हो, लेकिन विशिष्ट परिणाम पर पहुँचना दोनों का ईप्सित होता है। धार्मिक मनुष्य का परिणाम उस महिला के परिणाम की अपेक्षा सामाजिक दृष्टि से भले ही अधिक कल्याणकारी माना जाय, तो भी वस्तुतः ये दोनों परिणाम एक ही कोटि के होते हैं, उनमें से कोई भी दूसरे की अपेक्षा श्रेष्ठ नहीं होता। ये दोनों वस्तुतः बुद्धिशून्य होते हैं। क्योंकि, दोनों ही मन की क्षुद्रता व्यक्त करते हैं। क्षुद्र मन सदा ही क्षुद्र रहता है। उसे समृद्ध, विशाल अथवा विपुल नहीं बनाया जा सकता। ऐसा मन अपने को सजाने का अथवा सद्गुणों का संवर्धन करने का कितना ही प्रयत्न करे, तो भी पूर्ववत् उथला और क्षुद्र रहता है। भले ही वह अपना तथाकथित विकास कर ले अथवा विविध अनुभवों से अपने को समृद्ध कर ले, तो भी उसकी क्षुद्रता ही समृद्ध होती है। कुरूप वस्तु कभी सुन्दर नहीं बनायी जा सकती। क्षुद्र मन के द्वारा कल्पित ईश्वर भी क्षुद्र ही होता है। उथले मन से ज्ञान की और सुभाषितों की परख करके, बढ़िया शब्द-समूह से अपने को कितना ही सजा लिया जाय, अपने बाह्य स्वरूप का कितना ही शृंगार किया जाय, तो भी वह कभी गहरा, गहन-गम्भीर अथवा अथाह नहीं बनेगा। आन्तरिक अथवा बाह्य साज-शृंगार से मन को गहन-गम्भीर अथवा अथाह नहीं बनाया जा सकता। वस्तुतः अथाहता ही मन को सौन्दर्य प्राप्त कराती है, माणिक-मोती अथवा सम्पादित सद्गुण सौन्दर्य नहीं ला सकते। मनुष्य को अपने मन की क्षुद्रता का रुचि-अरुचिरहित दर्शन हो तभी सौन्दर्य का उदय हो सकता है। तुलना करने की वृत्ति जब पूर्णतः नष्ट हो जाती है, तभी यह दर्शन होता है।

उस महिला का वह विशेष रूप से संवर्धित ढब और तथाकथित धार्मिक तपस्वी का विशेष अनुशासनबद्ध ढब, दोनों ही क्षुद्र मन के क्लेशसापेक्ष परिणाम हैं। क्योंकि,

इन दोनों ने आवश्यक सहजता को ठुकरा दिया है। दोनों को ही सहजता से भय लगता है। क्योंकि सहजता के चलते वे वास्तव में जैसे हैं, वैसे ही स्वयं अपने को तथा दूसरों को दीखेंगे, ऐसा उन्हें लगता है। सहजता को समाप्त करने का उन दोनों का प्रयत्न चलता रहता है। अपने पसन्द की कल्पनापूर्ण जीवन-प्रणाली से अथवा निर्णय से जितने अधिक प्रमाण में वे सुसंगत रहेंगे, उतनी ही उनकी सफलता आँकी जा सकती है। लेकिन जो वास्तव में 'है', उसका दरवाजा सहजता की चाभी से ही खुलता है। किसी भी बात के सहज-पूर्ण उत्तर से ही मन का वास्तविक रूप प्रकट होता है। लेकिन ऐसा वास्तविक रूप प्रकट होते ही या तो उसे सजाया जाता है अथवा नष्ट कर दिया जाता है। इस तरह सहजता की हत्या कर दी जाती है। सहजता को नष्ट करना क्षुद्र मन का कार्य है। एक बार सहजता नष्ट कर डालने पर किसी भी अन्य स्तर पर यह क्षुद्र मन हमारे ऊपर बाह्य ढंग का शृंगार लादता है। यह ठाठ-बाट आत्मपूजा ही है। सत्य की खोज सहजता में, स्वतन्त्रता में ही होती है। बुद्धिपूर्वक अनुशासित मन खोज कर ही नहीं सकता। वह कार्यक्षम हो सकता है और इस कारण निर्दय भी हो सकता है। लेकिन उस अथाहता की, उस असीमता की खोज करना उसके लिए सम्भव नहीं। जिसे अनुशासन कहा जाता है, वह वस्तुतः प्रतिकार ही होता है और वह भय के द्वारा ही किया जाता है। लेकिन इस भय का सहजस्फूर्त दर्शन हो जाय तो भय से छुटकारा मिल सकता है। अपनी काल्पनिक जीवन-प्रणालो से किसी भी स्तर पर सुसंगति बनाये रखने के लिए दौड़-धूप करना ही भय है। यह भय संघर्ष, उलझन और वैर को ही जन्म देता है। उपद्रवी मन भी भाररहित नहीं होता। क्योंकि विरोध-वृत्ति से सहजता का अथवा स्वतन्त्रता का आकलन नहीं हो सकता।

सहजता के बिना आत्मज्ञान असम्भव है और आत्मज्ञान बिना परिस्थिति में से सतत आते-जाते रहनेवाले प्रभावों से ही मन का निर्माण होता रहता है। ये नाना प्रकार के प्रभाव मन को संकुचित अथवा विस्तारशील बना सकते हैं। लेकिन विस्तारशील बनने पर भी मन इन प्रभावों के घेरे में ही विचरता है। जो-जो एकत्र किया जाता है, उसे हटाया भी जा सकता है। लेकिन जो कभी एकत्र नहीं किया जाता, मिलाकर गढ़ा नहीं जाता, उस सत्य का आकलन केवल आत्मज्ञान से ही सम्भव है। अहं असंख्य प्रभावों से गढ़ा हुआ होता है। इसलिए इस अहं का पूर्ण विसर्जन होने पर ही जो प्रभावातीत और कारणातीत है, उसका ज्ञान होता है। ●

५४. सबोध मन और अबोध मन

वह व्यापारी भी था और राजनीतिक भी। दोनों क्षेत्रों में उसने सफलता प्राप्त की थी। वह मुस्कराते हुए कह रहा था कि व्यापार और राजनीति, दीनों का मेल बहुत बढ़िया है। इसके बावजूद उसमें विचित्र अंध-श्रद्धा से बद्ध एक प्रकार की बेचैनी दिखाई दे रही थी। फुरसत मिलने पर वह धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन किया करता था, बीच-बीच में लाभदायी मन्त्रों का जाप भी। उसका कहना था कि इससे आत्मा को शान्ति मिलती है। वह बूढ़ा हो चला था और उसने धन भी पर्याप्त कमाया था, लेकिन न वह हाथ का उदार था, न हृदय का। वह पक्का चालाक और हिसाबी था। भौतिक सफलता की अपेक्षा कुछ अधिक प्राप्त करने की व्याकुलता उसमें थी। जीवन के स्पर्श से वह वंचित हो गया था। उसे जीवन का प्रक्षोभक स्पर्श न हो, इसके लिए वह सतत प्रयत्नशील रहा था। शारीरिक और मानसिक दृष्टि से भी उसने अपने को दुर्भेद्य बना डाला था। मन से अपनी असली तस्वीर देखना उसने जान-बूझकर टाल दिया था और ऐसा करना उसे बिलकुल असंगत नहीं लगा था। लेकिन अब उस पर इस बात का असर होने लगा था। उसकी जागरूकता जब थोड़ी शिथिल होती, तब उसके चेहरे पर किसीके द्वारा पछाड़े जाने का भाव व्यक्त हो जाता था। आर्थिक दृष्टि से वह सुरक्षित था। जब तक वर्तमान शासन-व्यवस्था कायम है और देश में क्रांति नहीं हो जाती, तब तक उसे कोई भय नहीं था। उस भौतिक जगत् की भाँति ही तथाकथित आध्यात्मिक जगत् की सुरक्षितता के लिए इस क्षेत्र में भी कुछ पूँजी लगायी जाय, ऐसा उसे महसूस हो रहा था। इसलिए वह विभिन्न आध्यात्मिक कल्पनाओं के साथ खेलना चाहता था। वह इस गलतफहमी में था कि आध्यात्मिक कल्पना ही सत्य है। उपार्जित सम्पत्ति के अलावा अन्य किसीके प्रति उसके मन में कोई प्रेम नहीं था। जैसे कोई बालक अपनी माँ से चिपका रहता है, वैसे ही वह अपनी सम्पत्ति से चिपका हुआ था। क्योंकि उसका दूसरा कोई निकटवर्ती नहीं था। धीरे-धीरे उसे इस बात का बोध होने लगा था कि उसका जीवन दुखी है। लेकिन इस बोध को भी यथासम्भव टालने का वह प्रयत्न कर रहा था। लेकिन अब वह जीवन के भार से दबा जा रहा था।

जब किसी समस्या का हल मन के सबोध स्तर पर नहीं हो पाता, तब क्या अबोध मन उस समस्या को हाथ में लेकर उसके समाधान में मदद कर सकता है?

सबोध मन और अबोध मन, ये कैसी चीजें हैं? सबोध मन और अबोध मन की भिन्नता दिखानेवाली क्या कोई निश्चित सीमारेखा है? जिसके आगे नहीं जा सकते, ऐसी कोई मर्यादा सबोध मन की है? क्या यह सम्भव है कि सबोध मन अपनी सीमा में ही अपने को सीमित कर ले? क्या अबोध मन सबोध मन से बिलकुल भिन्न है। क्या ये दोनों एक-दूसरे से मेल नहीं खाते? जहाँ एक का कार्य समाप्त होता है, क्या वहीं दूसरे का कार्य प्रारम्भ होता है।

जिसे हम सबोध मन कहते हैं, वह आखिर है क्या? इसकी रचना किस प्रकार हुई है, यह समझने के लिए हमें यह देखना चाहिए कि हम किसी समस्या का हल कैसे करते हैं। हममें से अधिकांश लोग समस्या का उत्तर ढूँढ़ने का प्रयत्न करते रहते हैं। हमारा ध्यान उत्तर पर रहता है, समस्या पर नहीं। हम निर्णय चाहते हैं। हम समस्या से बाहर निकलने का रास्ता ढूँढ़ते हैं। समस्या के स्वरूप का बारीकी से निरीक्षण करने के बजाय हमारा प्रयत्न समस्या से छुटकारा पाने का रहता है। हम स्वयं समस्या का निरीक्षण नहीं करते, बल्कि कोई समाधानकारक उत्तर पाने की आशा में अँधेरे में टटोलते रहते हैं। हमारे सबोध मन को केवल समस्या का हल ढूँढ़ने की, समाधानकारक निर्णय प्राप्त करने की ही चिन्ता रहती है। बहुत बार हमें सन्तोषप्रद उत्तर मिलता भी है और फिर हमें ऐसा लगने लगता है कि हमारी समस्या सुलझ गयी है। वस्तुतः हम इतना ही करते हैं कि किसी निर्णय से, किसी संतोषदायक उत्तर से हम समस्या को केवल ढँक देते हैं। लेकिन उस निर्णय के दबाव के नीचे भले ही समस्या तात्कालिक रूप से दम तोड़ती-सी दीखे, वह वास्तव में जीवित ही होती है। समाधानकारक उत्तर ढूँढ़ने का मतलब वास्तव में समस्या को टालना ही है। जब मन को सन्तोषप्रद उत्तर नहीं मिलता, तब सबोध मन शोध करना छोड़ देता है। फिर तथाकथित अबोध मन--मन का वह सबोध स्तर—प्रश्न को अपने हाथ में लेता है और उत्तर ढूँढ़ देता है।

स्पष्ट है कि सबोध मन समस्या से बाहर निकलने का मार्ग खोजता है। किसी सन्तोषजनक निर्णय तक पहुँचने का अर्थ ही मार्ग मिलना है, ऐसा हम समझते हैं। लेकिन क्या यह सबोध मन स्वतः ही नाना प्रकार के प्रवृत्तिशील या निवृत्तिशील निर्णयों से निर्मित नहीं होता है? फिर ऐसे मन को दूसरे किसी प्रकार का शोध लगाना क्या सम्भव भी है? यह सबोध मन अथवा समग्र मन का यह ऊपरी स्तर, क्या नाना निर्णयों का संग्रहालय ही नहीं होता? और पूर्वानुभवों की स्मृति और अतीत की घटनाओं का मन पर उत्कीर्ण आलेख—क्या यही निर्णयों का स्वरूप नहीं है? निश्चय ही सबोध मन भूतकाल के द्वारा ही निर्मित होता है, वह भूतकाल पर ही आधारित होता है। स्मृति है मानो नाना निर्णयों के धागों से बुना हुआ वस्त्र। स्मृतियों अथवा निर्णयों के ऐसे चश्मे से सबोध मन समस्या की ओर देखता है।

निर्णयों के चश्मे से समस्या की ओर देखना, समस्या का भलीभाँति निरीक्षण करना, निःशब्द रूप से केवल समस्या की ओर तरल अवधान रहने देना यह सबोध मन के लिए सम्भव ही नहीं। उसे केवल निर्णयों को ही जानना है, फिर वे सुखद हों या दुःखद। और यह सबोध मन इतना ही कर सकता है कि अधिकाधिक निर्णय, अधिकाधिक कल्पनाएँ और अधिकाधिक पक्की कल्पनात्मक ग्रंथियों को अपने संग्रह में एकत्र करता रहे। इसका कोई भी निर्णय भीतर जमी कोई ग्रंथि ही है। सबोध मन को अपरिहार्य रूप से कोई निर्णय खोज लेना है।

लेकिन जब कोई संतोषप्रद निर्णय इस सबोध मन को नहीं मिलता, तब वह शोध करना छोड़ देता है और इस प्रकार वह शान्त और निस्तब्ध बनता है। और फिर ऊपर से निस्तब्ध बने हुए मन में अबोध मन धीरे से समस्या का उत्तर सुझाता है। हम अब यह देखें कि यह अबोध मन, यह गहन मन उस सबोध मन की अपेक्षा क्या कुछ भिन्न होता है? क्या यह अबोध मन भी वंशपरम्परागत, सामूहिक और सामाजिक स्वरूप के निर्णयों से और स्मृतियों से निर्मित नहीं होता? निश्चय ही यह अबोध मन भी पूर्वानुभवों का और गतकाल का ही परिपाक होता है। यह अबोध मन केवल भीतर नीचे के स्तर पर दबा हुआ होता है और ऊपर के स्तर पर उछलकर आने के लिए दबाव से भरा रहता है। मौका मिलते ही भीतर दबे हुए निर्णयों को वह ऊपर के स्तर पर उछाल देता है। ये निर्णय यदि सन्तोषप्रद लगें तो ऊपर का सबोध मन उन्हें स्वीकार करता है, अन्यथा यह ऊपरी मन उलझकर दौड़-धूप करने लगता है और सोचने लगता है कि किसी भी चमत्कार से हमें अपनी समस्याओं का उत्तर मिल जायगा। यदि उत्तर नहीं मिलता तो वह विवश होकर समस्याओं में ही घुलता रहता है। धीरे-धीरे वह भीतर से खोखला हो जाता है। फिर वह या तो किसी बीमारी में फँस जाता है अथवा उसे पागलपन घेर लेता है।

ऊपर का सबोध मन और नीचे का अबोध मन, ये वस्तुतः विसदृश नहीं होते। मन के ये दोनों स्तर पिछली स्मृति और पिछले निर्णयों से ही निर्मित होते हैं। दोनों ही गतकाल के परिपाक हैं। समस्या का कोई समाधान या निर्णय वे दे सकते हैं, परन्तु समस्या का सम्पूर्ण विसर्जन करना उनके वश की बात नहीं। समस्या का विसर्जन तभी होता है जब मन के ये दोनों स्तर शान्त और निस्तब्ध होते हैं और अपने प्रवृत्तिशील और निवृत्तिशील निर्णय सामने करना छोड़ देते हैं। जब सम्पूर्ण मन अतिशय निस्तब्ध बनता है, जब वह रुचि-अरुचिरहित समस्या का अवधान रखता है, तभी समस्या से सम्पूर्ण मुक्ति होती है। क्योंकि, उस स्थिति में समस्या उत्पन्न करनेवाला अहं वहाँ रहता ही नहीं।

५५. चुनौती और उत्तर

नदी खूब भरी और फैली हुई थी। किसी-किसी स्थान पर तो उसकी चौड़ाई मीलों तक फैल गयी थी। नदी के इतने अपार विस्तार को देखने में अनोखा ही आनन्द आ रहा था। नदी के उत्तर की हरी-हरी पहाड़ियाँ बादल छँट जाने से तरोताजा थीं। नदी के पाट का यह विशाल मोड़ और किनारे पर की नौकाओं के सफेद पाल खूब सुन्दर दीख रहे थे। प्रातःकाल के सुहावने प्रकाश में उस विशाल त्रिकोणाकार पालों के सौन्दर्य से मन मन्त्रमुग्ध हो रहा था। लगता था, जैसे वे पानी में से ही ऊपर आये हैं। दिन का कोलाहल अभी शुरू नहीं हुआ था और नदी के उस पार रहनेवाले मल्लाह के गीत का स्वर नदी पर से वायु के साथ आ रहा था। उस प्रशान्त वेला में उसके गीत से मानो सारी पृथ्वी अभिभूत थी। लगता था, उस गीत ने अन्य सभी ध्वनियों को मूक कर दिया था। रेलगाड़ी की सीटी भी सुसह्य और मन्द हो गयी थी।

धीरे-धीरे दिन चढ़ने लगा और देहात की चहल-पहल की आवाजें सुनाई पड़ने लगीं। सोते पर पानी के लिए होनेवाले झगड़े, बकरियों का मिमियाना, दोहने के लिए उतावली गायों का रँभाना, बैलगाड़ियों की चर्र-चूँ, कौओं की काँव-काँव, बच्चों का रोना-हँसना आदि तरह-तरह की आवाजें कानों में पड़ने लगीं। इस तरह एक नये दिन का जन्म हुआ। ताड़-खजूर के पेड़ों के पीछे सूर्य दिखाई देने लगा। पास की दिवाल पर बन्दर बैठे थे, जिनकी लम्बी-लम्बी पूँछें जमीन को छू रही थीं। ये बन्दर बहुत ही मोटे-तगड़े दीख रहे थे, लेकिन बड़े डरपोक भी थे। धमकाते ही वे तत्काल पेड़ से कूदकर दौड़ते-दौड़ते दूर के खेत में किसी ऊँचे पेड़ पर चढ़ जाते। उन बन्दरों के मुँह और हथेलियाँ, दोनों काले थे। वे होशियार तो दीखते थे, लेकिन छोटे बन्दरों जैसे चपल और चतुर नहीं थे।

वह व्यक्ति पूछ रहा था : "हमारे मन में विचार सतत क्यों घुलता रहता है? क्या उसे क्षणभर भी विश्राम नहीं मिलता? वह इतना पीछा क्यों करता है कि जीव निष्प्राण जैसा हो जाय? हम कुछ भी करें, वह इन बन्दरों की तरह निरन्तर कुछ-न-कुछ करता रहता है। उसकी यह भाग-दौड़ मनुष्य का दम तोड़ देती है। उससे एक क्षण को भी छुटकारा नहीं मिलता। वह निर्दयतापूर्वक सतत पीछा करता है। कोई उसे दबाना चाहे तो वह पलभर बाद पुनः सिर उठाने लगता है। वह कभी भी शान्त नहीं रहता, क्षणभर को भी विश्राम नहीं लेता। वह पीछे ही लगा रहता है,

विश्लेषण करता रहता है और अपने को यातना देता रहता है। सोये हों या जागे हुए हों, विचार सतत खलबली मचाये रहता है। उसे क्षणभर भी शान्ति और विश्राम नहीं।"

क्या विचार कभी भी शान्त हो सकता है? शान्ति का हम विचार कर सकते हैं, अपने को जबरदस्ती मौन बनाने का प्रयत्न भी कर सकते हैं। लेकिन विचार स्वभावतः क्या कभी भी शान्त हो सकता है? क्या विचार की प्रकृति ही मूलतः अशान्त नहीं है? क्या बाहर से या भीतर से आनेवाली प्रत्येक चुनौती को सतत दिया जानेवाला उत्तर ही विचार नहीं है? सतत आती रहनेवाली चुनौती का कोई अन्त नहीं। क्योंकि, जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति चुनौती ही है। इसका यदि सतत अवधान नहीं रहता तो जीवन क्षीण होता रहता है और मृत्यु ही सामने आ खड़ी होती है। बाहर से सतत चुनौती का आगमन और दिया जानेवाला उत्तर ही वस्तुतः जीवन की रीति है। यह उत्तर या तो समुचित होगा या फिर नहीं होगा। अपूर्ण उत्तर ही विचार को जन्म देता है और जीव को बेचैन और प्रक्षुब्ध बना डालता है। चुनौती का उत्तर कृति की माँग करता है, शब्दों से काम नहीं चलता। शाब्दिक उत्तर ही विचार है। ये शब्द, ये प्रतीक कृति के प्रवाह को मन्द करते रहते हैं। कल्पना का अर्थ है शब्द और स्मृति का अर्थ भी शब्द ही है। शब्दरहित अथवा प्रतीकरहित स्मृति जैसी किसी चीज का अस्तित्व नहीं है। स्मृति यानी शब्द, स्मृति यानी विचार। इस वस्तुस्थिति के कारण जीवन की चुनौती को विचार के द्वारा समुचित उत्तर देना क्या सम्भव है? जीवन की चुनौती कोई कल्पना थोड़े ही है? वह तो नित नूतन और ताजा होती है। लेकिन क्या विचार अथवा कल्पना नित नूतन रह सकती है? चुनौती को दिया जानेवाला उत्तर क्या गतकाल पर, गतानुभव पर आधृत नहीं होता?

नये से पुराने की भेट अधूरी होती है। यह अधूरापन वस्तुतः पूर्णता का शोध प्रारम्भ करनेवाला विचार ही है। लेकिन क्या विचार या कल्पना को कभी पूर्णता प्राप्त होना सम्भव है? विचार अथवा कल्पना स्मृति द्वारा दिया हुआ उत्तर होता है और स्मृति सदैव अपूर्ण ही होती है। जीवन की चुनौती को सामान्यतः गतानुभव की सहायता से ही उत्तर दिया जाता है। यह उत्तर गतकाल अथवा स्मृति के द्वारा मूर्त होता है और ऐसे उत्तरों से स्मृति-संस्कारबद्धता और भी दृढ़ होती जाती है। अनुभव मनुष्य को कभी मुक्ति नहीं दे सकता। वह श्रद्धा, निष्ठा और स्मृति को ही अधिकाधिक बल प्रदान करता है। स्मृति को बल देनेवाला यह अनुभव ही मनुष्य की संस्कारबद्धता का कारण है।

"लेकिन इन सब प्रकारों में विचार का कौन-सा स्थान है?"

आप क्या यह पूछना चाहते हैं कि कृति में विचार का कौन-सा स्थान है ? लेकिन इसमें कल्पना को अथवा विचार को वस्तुतः कोई स्थान है भी ? उसका यदि कोई काम होगा भी तो यही कि वह कृति में कोई संशोधन करे, उस पर नियंत्रण रखे और उसे कोई विशिष्ट मोड़ और आकार दे। किन्तु कल्पना कृति नहीं होती। कृति से मनुष्य का बचाव करने के लिए कल्पना होती है। कल्पना कृति का नियंत्रण करनेवाला, मन के द्वारा निर्मित, एक प्रकार का साँचा मात्र है।

"पर किसी भी पूर्वकल्पित साँचे के बिना कृति का निर्माण सम्भव है क्या ?"

यदि हम परिणाम लाने की दृष्टि से सोचें तो हम कह सकते हैं कि ऐसा सम्भव नहीं है। पूर्वनिश्चित साध्य की ओर ले जानेवाली कृति वस्तुतः कृति नहीं होती। ऐसी कृति का अर्थ है विशिष्ट पूर्वनिश्चित कल्पना से अथवा निष्ठा से सुसंगत रहने का एक प्रकार। हमें ऐसी सुसंगति साधनी हो, तब तो उसमें विचार और कल्पना का एक स्थान रह सकता है। इस तथाकथित कृति के लिए एक विशिष्ट आकृति निर्माण करना और उसकी सहायता से सहजकृति को नष्ट कर डालना विचार का कार्य है। हममें से अधिकांश लोग इस प्रकार सहजकृति को नष्ट कर डालना चाहते हैं। कल्पना, निष्ठा या सिद्ध वाक्य इस काम में हमारी मदद करते रहते हैं। सहजकृति में एक प्रकार की असुरक्षितता रहती है। अज्ञात के स्पर्श और उसके स्वागत के लिए वह आघातसुलभ और संवेदन-तरल बन जाती है। इस अज्ञात तक कृति के न पहुँच पाने के लिए विचार, निष्ठा आदि ज्ञात क्षेत्र की बातें भारी रुकावट बन जाती हैं और सहजकृति का मार्ग अवरुद्ध कर देती हैं। विचार का प्रवेश अज्ञात में कभी हो नहीं पाता। उस अज्ञात के उदय और स्पर्श के लिए विचार का अन्त आवश्यक है। अज्ञातानुगामी अर्थात् सहजकृति विचारनिर्मित कृति की कोटि के परे की होती है। विचार को इस बात की जानकारी होती है, इस कारण जान-अनजान में वह ज्ञात से ही चिपका रहता है। अज्ञात की चुनौती को ज्ञान के आधार से ही उत्तर दिया जाता है। यह उत्तर अपूर्ण और अपर्याप्त होता है, अतः उसमें से संघर्ष, भ्रम और दुःख उत्पन्न होते हैं। जब यह कल्पना, यह विचार, यह जानकारी शान्त या समाप्त हो जाती है, तभी वह अज्ञात कृति, असीम कृति सम्भव होती है।

५६. ममत्व-स्वामित्व

वह अपनी पत्नी को भी साथ में लाया था, क्योंकि उसके कथनानुसार उसकी समस्या दोनों की ही समस्या थी। वह दीखने में छोटी-सी थी, लेकिन उसका चेहरा तेजस्वी और आँखें आबदार थीं, हाँ वह कुछ अस्वस्थ लग रही थी। उन दोनों में

सीधापन और स्नेहभाव था। पति अंग्रेजी में सहज रूप से बोल रहा था, लेकिन पत्नी का अंग्रेजी का इतना ही ज्ञान था कि हमारी बात जैसे-तैसे समझ सके। कोई बात समझ में न आने पर वह अपने पति की ओर देखने लगती थी। तब वह उसे अपनी भाषा में समझा देता। उसने बताया कि उसके विवाह को पचीस वर्ष हो गये हैं और उसे कई बच्चे भी हैं। लेकिन समस्या बाल-बच्चों की नहीं, हम दोनों के संघर्ष की है। उसने बताया कि उसकी आय साधारणतः ठीक थी, लेकिन विवाह करके संसार-प्रपंच में पड़ने के बाद इस जगत् में सुख-संतोषपूर्वक जीना अत्यन्त कठिन हो गया है। लेकिन इस बारे में हमें कोई शिकायत नहीं है। पति के नाते मुझे जो कुछ करना चाहिए, वह सब मैं करता आया हूँ, ऐसा कम-से-कम मुझे तो लगता है। लेकिन इस तरह बरतना हमेशा आसान नहीं होता।

जिस मुद्दे पर वे बात करना चाहते थे, उस पर आना उनके लिए कठिन हो रहा था। अतः वे दूसरे अनेक विषयों पर बात करते रहे, जैसे बच्चों का शिक्षण, लड़कियों के विवाह, समारोहों के अनाप-शनाप खर्च और परिवार में अभी-अभी हुई मृत्यु आदि। बातचीत अत्यन्त उन्मुक्त रूप से चल रही थी। उन्हें कोई जल्दी नहीं थी। अपनी बात शान्तिपूर्वक सुनने और समझनेवाले मनुष्य के आगे सब कुछ बोलने में उन्हें संतोष हो रहा था।

दूसरों की कठिनाइयों तथा दुःखों की कहानी शान्तिपूर्वक कौन सुनता है? प्रत्येक के सामने अपनी ही इतनी समस्याएँ रहती हैं कि दूसरे का सुनने की किसीको फुरसत ही नहीं होती। अपनी कठिनाइयाँ दूसरे को सुनाने के लिए या तो आपको पैसा खर्च करना पड़ता है, प्रार्थना करनी पड़ती है अथवा श्रद्धा के रूप में कीमत चुकानी पड़ती है! दूसरों के दु खों को सुनने का जिसका 'व्यवसाय' होता है, वह सुनता है। लेकिन इससे सुननेवाले को स्थायी समाधान नहीं होता, दुःखों से स्थायी छुटकारा नहीं मिलता। हम दूसरे के आगे अपना हृदय उन्मुक्त रूप से खोलकर रख दें, ताकि उससे आगे चलकर पश्चाताप का मौका नहीं आयेगा, इस विश्वास से सब कुछ कह दें और यही हम चाहते हैं। उन्मुक्त रूप से हृदय की बात रख देने से जो चित्त-शुद्धि होती है, वह सुननेवाले पर अवलम्बित नहीं होती। वह उस पर अवलम्बित होती है, जो अपना हृदय खोलकर रख देता है। हृदय को उन्मुक्त करना ही महत्त्वपूर्ण बात है। इसके लिए कोई भिखारी श्रोता मिल जाय तो भी ठीक और उसके आगे हृदय खोला जा सकता है। मन का आन्तरिक विश्लेषण करते-करते बोलने से हृदय उन्मुक्त नहीं होता। ऐसे विश्लेषण से मन का संकोच ही होता है। हममें विषण्णता आती है। इस प्रकार का विश्लेषण पूर्णतः निरर्थक सिद्ध होता है। हृदय के उन्मुक्त होने का अर्थ है अपने हृदय की कथा स्वयं ही शान्तिपूर्वक सुनना और उसी प्रकार हमारे मन में जो विविध वृत्ति-प्रवृत्तियाँ उठती हैं और जो विचार-भावनाएँ चलती हैं, उनका भी

ध्यानपूर्वक अवधान रखना। इतना ही नहीं, हम पर जिन-जिन बातों का प्रभाव पड़ता है, हमारे चारों ओर जो-जो घटित होता रहता है, उस सबका अवधानपूर्वक श्रवण करना। यह बात दूसरी है कि उन सब बातों के बारे में कुछ करना शायद सम्भव हो पाता है अथवा नहीं। लेकिन हृदय खुला होने से उन्मुक्तता की कृति घटित होती है। इस खुलेपन से, इस प्रकार के विमुक्त अवधान से हृदय शुद्ध होता है। मन की सम्पूर्ण विकृतियाँ उसमें से निकल जाती हैं। लेकिन केवल मन की सहायता से सुनते रहना तो कोरी बकवास है। उससे न तो आपको उन्मुक्तता प्राप्त होती है, न आपकी बात सुननेवाले को। उसमें दुःख का प्रवाह पहले की भाँति ही जारी रहता है, इसलिए यह पद्धति मूर्खतापूर्ण है।

अब वे दोनों धीरे-धीरे मुद्दे पर आ रहे थे।

उस व्यक्ति ने मुद्दा छेड़ते हुए कहा : "हम दोनों अपनी समस्या के विषय में आपसे बात करने आये हैं। हम मत्सरग्रस्त हो गये हैं। अर्थात् मैं नहीं, बल्कि यह (मेरी पत्नी)। पहले यह यद्यपि अपनी मत्सर-भावना को इतने स्पष्ट रूप में व्यक्त नहीं करती थी, तथापि यह भावना इसमें अनेक वर्षों से जमी हुई है। मत्सर के लिए मेरी ओर से कोई कारण मिला हो, ऐसा मुझे बिलकुल नहीं लगता। लेकिन यह कोई-न-कोई कारण खोज ही लेती है।"

आपको मत्सर के लिए सचमुच कोई कारण है क्या ? और फिर मत्सर के लिए सचमुच किसी कारण की जरूरत होती भी है क्या ? उसका कारण समझ में आ जाय, तो भी क्या आपकी मत्सर-भावना मिट जायगी ? क्या यह बात आपके ध्यान में नहीं आती कि कारण समझ में आ जाने पर भी मत्सर-भावना ज्यों-की-त्यों कायम रहती है। हमें मत्सर का कारण खोजने के चक्कर में न पड़कर स्वयं मत्सर-भावना को ही समझने का प्रयत्न करना चाहिए। मत्सर के लिए कोई भी निमित्त काफी होता है, यह आप ही स्वीकार करते हैं। इसलिए मत्सर क्या चीज है, यह समझ लेना चाहिए। मत्सर किसके सम्बन्ध में पैदा हुआ, यह देखने की कोई जरूरत नहीं।

पत्नी ने कहा : "यह मत्सर-भावना अनेक वर्षों से मेरे मन में घर बना बैठी है। विवाह के समय मुझे पति का कोई अधिक परिचय नहीं था। और फिर क्या-क्या, कैसे-कैसे घटित होता है, यह आपको मालूम ही है। रसोईघर में जैसे धीरे-धीरे धुआँ घना होता जाता है, वैसे ही मेरे मन में धीरे-धीरे मत्सर बढ़ता गया है।"

ईर्ष्या या मत्सर का अनुभव स्त्री अथवा पुरुष को अपने अधीन रखने का एक मार्ग है। है या नहीं ? हमें मत्सर का जितना अधिक अनुभव होता है, उतना ही उस व्यक्ति-विषयक ममत्व की—स्वामित्व की भावना दृढ़ होती जाती है। कुछ है जो पूरी तरह हमारा है, इस भावना से हमें बहुत सुख अनुभव होता है। कोई भी वस्तु, कोई भी व्यक्ति, यहाँ तक कि सामान्य कुत्ता भी पूरी तरह हमारी मालिकी

का है, तो यह भावना हमें एक प्रकार की मायिक गरमाहट देती है। जो कुछ हमारा है उस पर हमारी पूरी मालिकी होने से हमें एक प्रकार की निश्चिन्तता प्राप्त होती है और जीवन को आधार मिलने जैसा लगता है। किसी वस्तु पर हमारी मालिकी होती है, तो उसका हमें गौरव होता है। फिर हम इस गौरव से, इस महत्त्व से ही चिपक जाते हैं। पेंसिल या घर जैसी साधारण चीज ही नहीं, बल्कि एक मानव-व्यक्ति पूरी तरह हमारा है, इस भावना से हमें एक विचित्र प्रकार की शक्ति, सामर्थ्य और समाधान प्राप्त होता है। मत्सर का दूसरा कोई कारण नहीं होता। हमारा महत्त्व बढ़े, हमारी प्रतिष्ठा बढ़े और उसके लिए खतरा पैदा न हो, यह इच्छा ही हमारी मत्सर-भावना के लिए कारणीभूत होती है।

"लेकिन मेरा तो कोई महत्त्व नहीं है। मैं सचमुच में कुछ नहीं हूँ। मेरे पति ही मेरे सर्वस्व हैं। मेरे बच्चों को भी मेरे जीवन में महत्त्व नहीं है।"

प्रत्येक मनुष्य किसी भी एक बात से चिपक जाता है फिर उसके स्वरूप कैसे भी हों। आप अपने पति से चिपकी हुई हैं। कोई बच्चों से चिपके रहते हैं, कोई किसी निष्ठा से ही चिपके हैं। लेकिन सबका हेतु एक ही है। चिपकने जैसा जीवन में कुछ न हो, तो हमें ऐसा लगता है कि हमारे पास कुछ नहीं है, हमारा जीवन अन्धकारमय हो गया है। हमारा कोई नहीं है इस बात का, अपने एकाकीपन का हमें भय लगने लगता है। मत्सर हो, घृणा हो, अथवा दुःख प्रतीत हो—सबके मूल में भय ही रहता है। ईर्ष्या और घृणा विशेष अन्तर नहीं है।

"लेकिन हम दोनों का तो आपस में प्रेम है।"

ऐसा होता तो आपको मत्सर कैसे लगता? वस्तुस्थिति यह है कि हमारा किसी पर प्रेम ही नहीं होता, यही हमारा दुर्दैव है। सुख प्राप्त करने के लिए, एक साथी बनाये रखने के लिए और अकेलापन महसूस न होने देने के लिए आप और आपके पति एक-दूसरे का उपयोग करते हैं। यह प्रत्यक्ष वस्तुस्थिति है। स्वामित्व की भावना के लिए बहुत अधिक करना पड़ता है, ऐसी बात नहीं है। एक व्यक्ति भी आधाररूप रहे तो पर्याप्त है। एक-दूसरे की आवश्यकता और एक-दूसरे का उपयोग, इसीको हम 'प्रीति' कहते हैं।

"आपका यह कथन तो बहुत ही भयंकर है।"

वह जितना लगता है, उतना भयंकर नहीं है लेकिन इतना सही है कि हम कभी उसके यथार्थ स्वरूप की ओर देखते नहीं। हम इस स्वरूप को भयंकर विशेषण लगाकर दूसरी ओर देखने लगते हैं। आप इस समय ठीक ऐसा ही कर रहे हैं।

"मैं यह समझती हूँ। लेकिन उसके सच्चे स्वरूप की ओर देखना मैं नहीं चाहती। इसके लिए मुझे सतत मत्सर का ग्रास बनना पड़े, तो भी कोई हर्ज नहीं।

लेकिन इस समय जैसा चल रहा है वैसा ही चलता रहे, ऐसा मैं चाहती हूँ। क्योंकि, अपने जीवन में इसके सिवा मुझे कुछ नहीं दीखता।"

आपको अपने जीवन में दूसरा कुछ उपलब्ध हो, तो पति-सम्बन्धी मत्सर-भावना मिट जायगी। लेकिन अभी आप जैसे पति से चिपकी हुई हैं, वैसे ही दूसरी चीज से चिपक जायेंगी। फिर उसके बारे में भी आपके मन में मत्सर पैदा होगा। आप पति के स्थान पर दूसरी किसी चीज की प्रतिष्ठापना करना चाहती हैं, मत्सर से मुक्त होना नहीं चाहतीं। हम सबका यही हाल है। हाथ की चीज को छोड़ देने के पहले, हम नयी चीज को पकड़ना चाहते हैं। लेकिन ध्यान में रखें कि अनिश्चितता ही वस्तुस्थिति है। जब हमारा जीवन पूरी तरह अनिश्चित स्थिति में रहेगा, तभी हमारे जीवन में मत्सर नहीं रहेगा। लेकिन जब आप यह समझते हैं कि हमारे पास अपनी कोई निश्चित चीज है, तब वहाँ मत्सर पैदा होता ही है। सबसे टूटकर सम्पूर्ण रूप से केवल अपना घर-परिवार बसाकर रहना ही निश्चितता की भावना से चिपके रहना है। यह निश्चितता ही ममत्व और स्वामित्व है। जहाँ यह ममत्व और स्वामित्व होता है, वहाँ मत्सर रहेगा ही। स्वामित्व ही घृणा को, द्वेष को जन्म देता है। यह वस्तुस्थिति है कि जिस पर हमारा स्वामित्व होता है उसके प्रति घृणा का ही अनुभव होता है और मत्सर के रूप में वही भाव व्यक्त होता है। जहाँ ममत्व और स्वामित्व रहता है, वहाँ प्रीति का रहना सम्भव ही नहीं। स्वामित्व होने का अर्थ है प्रीति का नाश कर डालना।

"आपकी बात अब मेरी समझ में आ रही है। अपने पति पर मेरा कभी सच्चा प्रेम नहीं रहा, यही न? अब मुझे इस बात का ज्ञान होने लगा है।"

इतना कहकर वह आँसू गिराने लगी। ●

५७. आत्म-सम्मान

वह अपने तीन मित्रों को साथ लेकर आयी थी। उन सबमें एक प्रकार का बुद्धि-गांभीर्य और उत्सुकता भी थी। उनमें से एक की ग्रहण-शक्ति बहुत तीव्र थी, दूसरे की ग्रहण-क्षमता में उतावलापन अधिक था, तीसरे में उत्सुकता थी, लेकिन बहुत अधिक देर तक टिकनेवाली नहीं थी। वे चारों अच्छे मित्र थे। अपनी महिला-मित्र की समस्या के बारे में उन तीनों में समान आत्मीयता थी। पर उसकी समस्या सुलझाने के लिए न तो किसीने उसे सलाह ही दी और न कोई निश्चित मत ही प्रकट किया। वे केवल यही चाहते थे कि उसकी उसके मनोनुकूल सही निर्णय लेने में मदद की जाय और वह परम्परा, जनमत अथवा केवल अपनी निजी रुचि के

प्रवाह में बहकर कोई निर्णय न ले। लेकिन सही निर्णय क्या हो सकता है, इस विषय में वे आश्वस्त नहीं थे। वह स्वयं भी ठीक-ठीक समझ नहीं पा रही थी कि उसे निश्चित रूप से क्या करना चाहिए। उसका मन बड़ी उलझन में पड़ा था और वह बेचैन थी। लेकिन अपनी समस्या के बारे में उसे तत्काल कुछ-न-कुछ अवश्य निर्णय लेना था। उसे आगे धकेलना असम्भव था। उसकी समस्या थी एक निकट के रिश्ते से छुटकारा पाना। 'मुझे मुक्त होना है' यह बात वह बार-बार दोहरा रही थी।

कमरे में शान्ति थी। उनकी मानसिक व्यग्रता कुछ मन्द हो गयी थी। किसी विशिष्ट प्रकार के निर्णय की अपेक्षा न करते हुए अथवा प्राप्त परिस्थिति में हमारा कर्तव्य क्या है, इसकी व्याख्या की अपेक्षा न रखते हुए समस्या के मूल को खोजने के लिए वे लोग आतुर थे। उनकी धारणा शायद यह थी कि जैसे-जैसे समस्या का स्वरूप प्रकट होगा, वैसे-वैसे उपयुक्त कर्तव्य सहज और सम्पूर्ण रूप से सामने आ जायगा। किसी भी समस्या के आशय का शोध करना ही वस्तुत: महत्त्व की बात है। अन्त अथवा परिणाम देखने का महत्त्व नहीं है। समस्या का समाधान खोजने का तात्पर्य है कोई विशिष्ट निर्णय लेना, कोई मत बनाना अथवा सलाह देना, पर उससे तो समस्या सुलझती नहीं है। स्वयं समस्या के स्वरूप का आकलन करना आवश्यक लगता था, समस्या का मुकाबला कैसे किया जाय, यह देखने में कोई सार नहीं था। समस्या को देखने का समुचित दृष्टिकोण स्वीकार करना ही महत्त्वपूर्ण था। क्योंकि, समस्या के स्वरूप-दर्शन में ही समुचित कृति सहजरूप में अन्तर्भूत रहती है।

नदी के विशाल पाट पर चमकनेवाली जल-लहरी का नृत्य चल रहा था, क्योंकि सूर्य-किरणों ने जल पर एक तेजस्वी प्रकाश-पथ ही निर्माण कर दिया था। इस प्रकाश-पथ से एक सफेद नौका उस पार चली गयी। लेकिन इसके कारण जल-लहरी के नृत्य में कोई अन्तर नहीं पड़ा। जल-लहरियाँ सहज, सुन्दर और आनन्द-नृत्य में निमग्न थीं। वृक्षों पर अब पक्षी एकत्र होने लगे थे। कोई एक-दूसरे पर गुस्से में कर्कश आवाज कर रहे थे, कोई अपने पंख साफ कर रहे थे, कोई कुछ दूर उड़कर वापस वृक्षों पर लौट आते थे। बहुत से बन्दर वृक्षों की कोमल पत्तियाँ नोचकर अपने मुँह में डाल रहे थे। उनके भार से नाजुक डालियाँ झुकी जा रही थीं। लेकिन उनकी डालियों की पकड़ छूटती नहीं थी। नीचे गिरने का तो उन्हें कोई डर ही नहीं था। वे एक डाल से दूसरी डाल पर बड़ी चपलता से छलाँग लगाते थे। एक डाल से छलाँग लगाकर दूसरी पर तत्काल उतर आते थे, लेकिन ऐसा लग रहा था कि यह सब एक ही अभंग-क्रिया चल रही है। डाली पर बैठे-बैठे वे बन्दर हाथ बढ़ाकर पत्ते तोड़ते थे और उनकी लम्बी-लम्बी पूँछें नीचे लटक रही थीं। वे पेड़ों की ऊँची

डालियों पर बैठे थे, नीचे के बटोहियों की ओर उनका कोई ध्यान नहीं था। अँधेरा बढ़ने लगा था। सैकड़ों तोते रात्रि के विश्राम के लिए वृक्षों की घनी पत्तियों का आश्रय लेने आ गये थे। आते हुए तो वे दीखते थे, लेकिन घने पत्तों में तत्काल लुप्त हो जाते थे। बिजली की एक चन्द्र-रेखा क्षितिज पर अभी-अभी दिखाई देने लगी थी। नदी के मोड़ पर उस लम्बे पुल पर से जानेवाली रेलगाड़ी की सीटी दूर से सुनाई पड़ रही थी। यह नदी पवित्र मानी जाती है और उसमें स्नान करने तथा अपने पाप धोने के लिए दूर-दूर से लोग आते हैं। वास्तव में हर नदी पवित्रसलिला और सुन्दर होती है। लेकिन इसका वह विशाल घुमावदार प्रवाह बीच में ही बने हुए बालू के टापू से दो हिस्सों में बँटा हुआ पाट तथा प्रतिदिन शान्तिपूर्वक उसके प्रवाह में से आनेवाली नावों की सफेद पाल आदि में इस नदी का अनोखा सौन्दर्य संचित था।

उसने कहा : "मैं एक विशिष्ट रिश्ते से मुक्त होना चाहती हूँ।"

आप मुक्त होना चाहती हैं इसका क्या अर्थ है? 'मुझे मुक्त होना है'—ऐसा जब आप कहती हैं, तब आप यही न कहती हैं कि इस समय आप मुक्त नहीं हैं? तो आप बताइये कि आप किस प्रकार के बन्धन में पड़ी हैं?

"यों शारीरिक दृष्टि से मैं मुक्त हूँ। मैं इच्छानुसार घर से बाहर आ-जा सकती हूँ। क्योंकि शारीरिक दृष्टि से अब उस व्यक्ति के साथ मेरा पत्नी का रिश्ता नहीं रहा है। लेकिन मैं रिश्ते से पूर्ण मुक्ति चाहती हूँ। इस विशिष्ट व्यक्ति से मैं आगे कोई सम्बन्ध रखना नहीं चाहती।"

आप शारीरिक दृष्टि से मुक्त हो गयी हैं, ऐसा आप ही कह रही हैं। तब फिर उस व्यक्ति में आपका कैसा सम्बन्ध शेष है? कोई अन्य प्रकार का सम्बन्ध अभी बना हुआ है क्या?

"यह सब मैं नहीं जानती। लेकिन इतना निश्चित है कि उस व्यक्ति के विषय में मेरे मन में अतिशय सन्ताप है। आगे उसके साथ मैं कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहती।"

आप उस व्यक्ति से पूर्णतः मुक्त होना चाहती हैं, लेकिन उसके प्रति आपमें सन्ताप तो अभी भी बना हुआ है। तब आपका और उसका सम्बन्ध अभी तक छूटा नहीं है। आपको उसके प्रति इतना सन्ताप क्यों है?

"इस व्यक्ति का वास्तविक रूप अभी-अभी मैं देख पायी हूँ। उसकी क्षुद्रता, प्रेम का पूर्ण अभाव, गजब का स्वार्थीपन—कितनी-कितनी भयंकर बातें मुझे उसमें दिखाई दी हैं, बताना कठिन है! पहले उसके जरा हटते ही मैं मत्सर-ग्रस्त हो जाती थी। मैं देवता की तरह उसकी पूजा करती थी। मैं पूरी तरह उसके अधीन हो गयी

थी—इन सब बातों की याद भी अब मुझे भयंकर त्रास देती है। वे आदर्श पति हैं, प्रेमी है, दयालु हृदय के हैं, ऐसी मेरी धारणा थी, लेकिन जब मुझे मालूम हुआ कि वे मिथ्याचारी हैं, तब से मुझे उनके बारे में वेहद सन्ताप होने लगा। उनके साथ कोई भी सम्वन्ध रहने की बात सोचते ही मेरा जी घिना उठता है। इसलिए मैं उनसे पूरी तरह मुक्त होना चाहती हूँ।"

आप शारीरिक दृष्टि से भले ही उससे मुक्त हों, जब तक आप को उसके प्रति तीव्र सन्ताप रहेगा, तब तक आप उससे मुक्त नहीं हो पायेंगी। यदि आप उससे घृणा करती रहेंगी तो आप घृणा के रूप में उससे बँधी रहेंगी। यदि उसके कारण आपको लज्जा लगती तो लज्जा के रूप में आप उसकी दासता में बँधी रहेंगी। आप उस पर नाराज हैं या स्वयं अपने ऊपर नाराज हैं? वह तो जैसा है, वैसा ही है। फिर उस पर आपके क्षुब्ध होने का क्या कारण है? आप का क्षोभ क्या वस्तुतः उसी पर है? अथवा उसका वास्तविक दर्शन होने से आपको यह सोचकर लज्जा लगती है कि आपका इतने वर्ष तक उसके साथ इतना निकट का सम्वन्ध रहा? देखिये, बात तो यह है कि आपको जो चिढ़ है, वह वस्तुतः उसके प्रति न होकर अपनी आज तक की कृति और अपने निर्णय के प्रति है। आपको अपने पर ही लज्जा आ रही है। लेकिन इस बात को आप समझना नहीं चाहती हैं। इसलिए आप उसे दोष देती हैं कि वह ऐसा नहीं, वैसा है। आपने अपने पति में देवत्व की कल्पना की थी। पर उसे तदनुरूप न पाकर आप उस पर अपना सन्ताप उँडेलती हैं। जब आप यह महसूस करेंगी कि यह सन्ताप एक वहाना मात्र है, तब वह आपके जीवन में से पूरी तरह निकल जायगा। वस्तुतः आपको उसकी लज्जा नहीं लग रही है, बल्कि अपनी ही लग रही है कि स्वयं आपने उसके साथ इतना निकट का सम्वन्ध जोड़ा था। वस्तुतः आप अपने पर ही नाराज हैं, उस पर नहीं।

"हाँ, सचमुच यही बात है।"

यह बात यदि आप सचमुच समझ लें, यह वस्तुस्थिति यदि आपके प्रत्यक्ष अनुभव में आ जाय, तो आप उससे मुक्त हो जायँगी। फिर वह आपके विरोध या सन्ताप का विषय नहीं रहेगा। कारण, जैसे प्रेम एक-दूमरे को बाँधता है, वैसे ही घृणा और द्वेष भी बाँधता है।

"अच्छा तो यह बताइये कि मैं अपनी लज्जा से और अपनी मूर्खता से कैसे छुटकारा पाऊँ? अब मैं यह बात स्पष्ट रूप से समझ गयी कि उसका स्वभाव जैसा है वैसा है और उसके लिए उसे दोष देना व्यर्थ है। लेकिन मुझे जो सन्ताप, जो लज्जा, जो घृणा महसूस होती है और जो धीरे-धीरे बढ़कर आज चरम स्थिति पर पहुँच गयी है, उससे मेरा छुटकारा कैसे होगा? मैं अपने उस अतीत को कैसे धो डालूँ?"

आपको अपना अतीत मन से पूरी तरह निकाल डालने की इतनी तीव्र इच्छा क्यों हो रही है, यह जानना ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। बजाय इसके कि अतीत को कैसे नष्ट किया जाय। किस हेतु को मन में रखकर हम समस्या की ओर देखते हैं, यह जानना अधिक महत्त्वपूर्ण है। समस्या के बारे में क्या किया जाय—यह जानना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं। पति के साथ आपका जो सम्बन्ध था, उसकी स्मृति आप क्यों नष्ट कर डालना चाहती हैं ?

"उस सारे काल की स्मृति मुझे तिरस्करणीय लगने लगी है। उन स्मृतियों ने मेरे मन को तिक्त बना दिया है। उन स्मृतियों को जड़-मूल से समाप्त कर डालने के लिए क्या यह कारण पर्याप्त नहीं है ?"

सचमुच, क्या यह कारण पर्याप्त है ? इन अतीत की स्मृतियों को आप क्यों पोंछ डालना चाहती हैं ? उनके कारण आपके मन में कटुता उत्पन्न हुई है, निश्चय ही यह उसका कारण नहीं। मान लीजिये, किसी साधन द्वारा आप अपने अतीत को पोंछ डालती हैं, फिर भी आपके द्वारा ऐसी कुछ कृतियाँ हो सकती हैं कि आपको पुनः अपने पर लज्जा आ सकती है। केवल पुरानी अरुचिकर स्मृतियों को पोंछ डालने से कोई समस्या नहीं सुलझती। है न ऐसी बात ?

"उससे मेरी समस्या सुलझेगी, ऐसा मुझे लगता था। लेकिन फिर मेरी समस्या है भी क्या ? आप तो उसे और भी अधिक उलझा दे रहे हैं, क्या आपको ऐसा नहीं लगता ? अभी भी वह इतनी उलझी हुई है ! कम-से-कम मेरा जीवन तो वैसा ही बन गया है। इस उलझन को और क्यों बढ़ाया जाय ?"

हम इस उलझन को बढ़ा रहे हैं अथवा वस्तुस्थिति को समझने की कोशिश कर रहे हैं ? देखिये, थोड़े धीरज से काम लीजिये। अतीत को पोंछ डालने के लिए कौन-सी तीव्र प्रेरणा आपको प्रेरित कर रही है ? आपका अतीत दुःखमय रहा होगा, लेकिन आप उसे मिटा क्यों देना चाहती हैं ? इसका कारण यह हो सकता है कि आपने अपने विषय में जो काल्पनिक चित्र निर्माण किया है, उससे यह अतीत की स्मृतियाँ पूरी तरह विसंगत हैं और इसीलिए आप उनसे छुटकारा पाना चाहती हैं। अपने भलेपन के विषय में आपकी विशिष्ट कल्पना है, है या नहीं ?

"हाँ-हाँ, है ही, अन्यथा..........."

देखिये, हम सब लोग अपनी कल्पना से अपने को विभिन्न उच्च स्तरों पर स्थापित करते हैं और उन उच्च स्तरों से हम सतत नीचे गिरते रहते है। तब हमें अपने इस अधःपतन पर लज्जा आने लगती है। वस्तुतः अपने सम्बन्ध में हमारी विशिष्ट उच्च कल्पना अथवा हमारा आत्मसम्मान हमारे अधःपतन का, हमारी लज्जा का वास्तविक कारण होता है। इसलिए हमें अपने सम्बन्ध की उच्च कल्पना का स्वरूप समझना चाहिए, अपने अधःपतन का नहीं। यदि आपने कल्पना से अपने

को उच्च सिंहासन पर नहीं बैठाया, तो उस स्थान से गिरने का अवसर ही नहीं आयेगा। तब यह बताइये कि आपने अपने को आत्म-सम्मान, मानवीय प्रतिष्ठा, आदर्श आदि नामों से पहचाने जानेवाले उच्च व्यासपीठ पर क्यों प्रतिष्ठित किया है? इस बात का यदि आप आकलन कर लें तो अतीत-विषयक आपकी लज्जा पूर्णतः नष्ट हो जायगी। फिर आप प्रत्यक्ष में जैसी हैं, वैसी ही रहेंगी, आपके काल्पनिक व्यासपीठ का अस्तित्व ही नहीं रहेगा। जिस ऊँचाई पर से आप नीचे देखती हैं, अथवा जिस ऊँचाई को नीचे से ऊपर देखती हैं, वह उच्च व्यासपीठ, यदि नष्ट हो जाय, तो फिर आप अपने जिस सच्चे स्वरूप को देखना सतत टालती आयी हैं, वह आपका शुद्ध स्वरूप ही रह जायगा। आपका जो वास्तविक स्वरूप है, उसकी ओर देखना आज तक आप टालती आयी हैं और इसी कारण आपके मन में यह विकृति, यह विरोध, यह लज्जा, यह सन्ताप पैदा हुआ है। आपका जो वास्तविक स्वरूप है, उसके बारे में मुझे या किसीको कुछ कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। केवल आपको ही उसका पूरा ज्ञान होना चाहिए. फिर आपका वह स्वरूप सुखद हो या दुःखद। अपने इस स्वरूप का समर्थन अथवा विरोध न करते हुए, वह जैसा है वैसा ही ध्यान में रखकर उसके साथ रहिये। उसका कोई नाम मत रखिये। क्योंकि, नाम रखने का अर्थ ही है या तो उस स्वरूप का समर्थन करना अथवा धिक्कारना। निर्भयतापूर्वक उसके साथ रहिये। किसी प्रकार का भय रहेगा तो आप उस स्वरूप के साथ सुसंवाद नहीं साध सकेंगी और ऐसे सुसंवाद के विना उस स्वरूप के साथ रहना आपके लिए सम्भव नहीं होगा। सुसंवाद साधना ही प्रेम करना है। प्रेम के विना आप अपने अतीत को नहीं पोंछ सकेंगी। हृदय में प्रेम रहे तो फिर अतीत बचता ही नहीं। जहाँ प्रेम होता है, वहाँ काल का कोई अर्थ नहीं।

५८. भय

वह महिला वहुत दूर से, आधी पृथ्वी पार करके आयी थी। वह देखने तथा वातचीत करने में विशेष सावधान थी। बीच में ही वह किंचित् उन्मुक्त भाव से बोलने लगती थी, लेकिन मन के गहरे शोध की सूचना मिलते ही अपने मन को वह सावधानी से समेट लेती। उसमें भीरुता तो नहीं थी, परन्तु अपने मन की भीतरी तस्वीर दिखाने के लिए वह तैयार नहीं थी। लेकिन ऐसा वह जान-बूझकर नहीं कर रही थी। फिर भी वह इतनी दूर से अपनी समस्याओं के विषय में चर्चा करने के लिए ही आयी थी। अपने विषय में वोलने के लिए वह उत्सुक थी अवश्य फिर भी वह अटक-अटककर, रुक-रुककर बोल रही थी। कौन-सा शब्द उपयोग में लाया जाय इस विषय में उसे बीच-बीच में शंका होती थी। उसमें एक प्रकार का दूरीभाव था।

मानसशास्त्रविषयक अनेक ग्रन्थ वह पढ़ चुकी थी। यद्यपि उसने मनोविश्लेषण-शास्त्रज्ञ से अपने मन का विश्लेषण नहीं कराया था, तथापि अपना विश्लेषण करने में वह पूर्णतः समर्थ थी। अपनी भावनाओं और अपने विचारों का सतत विश्लेषण करते रहने की उसकी आदत बचपन से ही थी।

अपना विश्लेषण करने का आपको इतना आग्रह क्यों है ?

"कौन जाने। लेकिन इतना सही है कि जब से मुझे याद है, मैं बराबर ऐसा विश्लेषण करती आयी हूँ।"

क्या आपने अपने से ही अपना बचाव करने के लिए विश्लेषण का यह मार्ग स्वीकार किया है ? अपनी उत्कट भावनाओं का स्फोट न हो और स्फोट के बाद पश्चात्ताप न हो, क्या इसीलिए आपने यह मार्ग स्वीकार किया है ?

मुझे निश्चित रूप से लगता है कि यही कारण होना चाहिए। इसीके लिए मैं सतत अपने से प्रश्न करती रहती हूँ, मनोविश्लेषण करती रहती हूँ। मेरे अपने चारों ओर अथवा सामान्यतः सर्वत्र जो घालमेल चल रहा है, उसमें मैं फँस न जाऊँ, यही मेरा प्रयत्न रहता है। सारा वातावरण इतना असंगत है कि उससे मैं दूर ही रहना चाहती हूँ। मैं विश्लेषणरूपी साधन का उपयोग इसीलिए करती आयी हूँ कि सामाजिक अथवा कौटुम्बिक घालमेल में फँस न जाऊँ और ऐसी सब बातों से सुरक्षित रह सकूँ। यह बात अब मेरे ध्यान में आ रही है।"

लेकिन इस तरह क्या आप अपने को इस जाल में फँसने से बचा सकी हैं ?

"इस बारे में मैं निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकती। कुछ अंशों में मैं सफल हुई हूँ। लेकिन हाँ, कुछ बातों में मुझे सफलता नहीं मिली है। लेकिन ऐसा कहते समय भी, यह जो कुछ विलक्षण घटित हुआ है, उसका स्वरूप मेरे ध्यान में आने लगा है। इतने खुले रूप में मैंने इस ओर पहले कभी देखा ही नहीं था।"

आप इतनी कुशलतापूर्वक अपना संरक्षण क्यों करती हैं ? और किस बात से संरक्षण कर रही हैं ? आप कहती हैं कि चारों ओर जो धाँधली, विकृति व्याप्त है, उससे आप अपना संरक्षण करना चाहती हैं। पर इस विकृति या धाँधली में ऐसी क्या बात है कि जिससे अपना संरक्षण करना चाहती हैं ? यह सब यदि धाँधली ही है और यह फैली हुई है, यह यदि आपको स्पष्ट दीखता है तो उससे आपको अपना बचाव करने की कोई आवश्यकता ही नहीं। जब कोई बात समझ में नहीं आती और इसी कारण जब उसका भय लगता है, तभी मनुष्य अपना बचाव करना चाहता है। आपको किस बात का भय लग रहा है ?

"मैं ऐसा नहीं मानती कि मुझे किसी विशिष्ट बात का भय लगता है। मैं केवल इतना ही चाहती हूँ कि मानव-जीवन के नाना प्रकार के दुःखों और व्यथाओं में उलझने से मैं बचूँ। मेरा अपना एक व्यवसाय है और उससे मेरी गुजर ठीक ढंग से

हो रही है। लेकिन संसार की अन्य सब उलझनों से मैं मुक्त रहना चाहती हूँ। मैं समझती हूँ कि आज उस दृष्टि से मैं मुक्त हूँ भी।''

जब आपको किसी प्रकार का भय नहीं है, तब आप चारों ओर की उलझनों का प्रतिकार क्यों करती रहती हैं ? जब मनुष्य को यह नहीं सूझता कि किस विषय में वह कैसे बरते, तभी वह प्रतिकार करता है। मोटर का यन्त्र कैसे चलता है, यह यदि हमें ज्ञात हो तो यन्त्र की गुत्थी का कोई प्रश्न हमारे सामने नहीं रहेगा। तब हम मोटर में कोई खराबी आ जायगी तो उसे ठीक कर लेंगे। जिसे हम जान नहीं पाते, उसीका प्रतिकार करते हैं। कोई विकृति, कोई अनिष्ट अथवा कोई दुःख कैसे पैदा हो गया है, वह कैसे घटित हुआ है, यह जब तक हम जान नहीं पाते हैं, तभी तक हम उसका प्रतिकार करते रहते हैं। आपके चारों ओर धाँधली कैसे उत्पन्न हुई है, किस प्रकार मूर्त हुई है, यह आप जान नहीं पाती हैं, इसीलिए प्रतिकार करना चाहती हैं। लेकिन यह बात आपकी समझ में क्यों नहीं आती ?

''मैंने इस बात पर इस दृष्टि से आज तक विचार ही नहीं किया।''

चारों ओर की विकृति या धाँधली कैसे क्या मूर्त हुई है, इस बात से जब आपका साक्षात् संबंध जुड़ेगा, तभी विकृति की प्रक्रिया आपकी समझ में आयेगी। दो व्यक्तियों में जब सुसंवाद होता है, तभी वे एक-दूसरे को समझ पाते हैं। लेकिन वे दोनों व्यक्ति यदि एक-दूसरे का प्रतिकार करने लगें, तो उन्हें पारस्परिक आकलन नहीं हो सकेगा। जहाँ भय नहीं रहता, वहीं साक्षात् सम्बन्ध जुड़ता है और वहीं सुसंवाद होता है।

''आपकी बात मेरी समझ में आ रही है।''

फिर आपको भय किस बात का लग रहा है ?

''भय से आपका तात्पर्य क्या है ?''

भय किसी-न-किसीसे सम्बद्ध होता है। वह सम्बन्ध-विहीन अथवा एकाकी नहीं रह सकता। निरपेक्ष अथवा अमूर्त भय जैसी चीज हो ही नहीं सकती। भय या तो ज्ञात का होगा, या फिर अज्ञात का। भय या तो इसका होगा कि हमारे हाथों क्या हुआ, अथवा क्या होनेवाला है। भय अतीत का होगा या भविष्य का होगा। इसी प्रकार हम 'जैसे हैं' अथवा 'जैसे होना चाहते हैं' इन दोनों के बीच जो अन्तर है, उसके कारण भी भय पैदा हो सकता है। हमें कैसी सजा भोगनी पड़ेगी अथवा कैसा पारितोषिक मिलेगा, यह सोच-सोचकर भी हमें भय होता है। कोई जवाबदारी ओढ़ने पर हमें भय लगता है। किसी जवाबदारी से मुक्त होने की इच्छा होने पर भी भय लगता है। सुख और दुःख में जो विरोधी भावना है, भिन्नता है, उसके बोध से भी भय लगता है। परस्पर विरोधी बातों में जो संघर्ष रहता है, उससे भी भय

उत्पन्न होता है। सफलता की पूजा विफलता का भय ले आती है। सारांश, कुछ विशेष होने के लिए मनुष्य के अखण्ड प्रयास के कारण मन में जो प्रक्रिया चलती है, उसीका नाम भय है। अच्छे होने की प्रक्रिया में बुरे का भय दवा रहता है। परिपूर्ण बनने की प्रक्रिया में अपूर्णता का, एकाकीपन का भय सुप्त रहता है। महान् बनने की प्रक्रिया में छोटे बनने का भय निहित रहता है। तुलना की प्रवृत्ति से वस्तुस्थिति का आकलन असम्भव है। ज्ञात विषयों के बारे में मनुष्य को अज्ञात का जो भय लगता है, उसीके कारण तुलना करने की प्रवृत्ति उभरती है। सारांश, अनिश्चित. असुरक्षित, अव्यवस्था में रहनेवाला मन जब निश्चितता का शोध करता है, तभी भय उत्पन्न होता है।

कुछ विशिष्ट बनने के लिए हमारा जो प्रयत्न चलता है, उसीसे भय का आरम्भ होता है। हम जैसे हैं वैसे रहने का भय और जैसे नहीं हैं, वैसे न रहने का भय, इस तरह दो प्रकार का भय होता है। हमारा मन गतानुभवों का संचय होता है। ऐसे मन के समक्ष जीवन जो-जो नयी चुनौतियाँ खड़ी करता है, उनसे मन को हमेशा भय लगता रहता है। मन वस्तुत: केवल एक नाम है, एक शब्द है, स्मृति है। वह केवल ज्ञात के क्षेत्र में काम कर सकता है। लेकिन क्षण-क्षण पर जीवन की जो नित्य नयी चुनौतियाँ होती हैं, वे अज्ञात की होती हैं। अतएव मन या तो उनका प्रतिकार करता रहता है अथवा ज्ञात की भाषा में उनका अर्थ लगाता रहता है। जीवन की नित्य नयी चुनौतियों का यह प्रतिकार अथवा ज्ञात की भाषा में किया गया उसका अर्थ ही भय है। क्योंकि, मन के लिए अज्ञात से सुसंवाद साधना अशक्य ही होता है। ज्ञात का अज्ञात से कभी भी सुसंवाद सम्भव नहीं। अज्ञात के उदय के लिए ज्ञात की समाप्ति आवश्यक है।

मन ही भय का जनक है। इसलिए मन जब भय का विश्लेषण करना चाहता है और भय से मुक्त होने के लिए भय का कारण शोधने लगता है, तब मन अपने को ही अपने से अधिकाधिक अलग करने लगता है, और इस तरह भय अधिकाधिक बढ़ता जाता है। उलझन का प्रतिकार करने के लिए आप जब मनोविश्लेषण का सहारा लेती हैं, तब केवल प्रतिकार-वृत्ति को ही अधिक बल प्रदान करती हैं। उलझन का प्रतिकार करते रहने से उसका भय ही बढ़ता चलता है। इस कारण भय से छुटकारा पाना और भी कठिन हो जाता है। मुक्ति तो सुसंवाद साधने में है। भय के रहते मुक्ति मिलना कभी सम्भव नहीं।

५९. मुझमें प्रेम कैसे पैदा होगा ?

पहाड़ के जिस ऊँचे पठार पर हम रहते थे, वहाँ से सामने की घाटी और उसमें से बहनेवाली नदी साफ-साफ दीख रही थी। सूर्य के प्रकाश में वह रजत मेखला की भाँति चमक रही थी। चारों ओर की घनी झाड़ी में से बीच-बीच में सूर्य-किरणें झाँक रही थीं। सारा वातावरण नाना प्रकार के पुष्पों के परिमल से महक रहा था। ओसकणों से सारी भूमि नम हो गयी थी। प्रातःकाल का वह सौन्दर्य कुछ अद्‌भुत ही था। घाटी से बहकर आनेवाली सुगंधित वायु अपने साथ न जाने कितने प्रकार की ध्वनियाँ ला रही थी—उसमें दूरस्थित लोगों का कोलाहल भी था, घंटियों की ध्वनि भी थी और किन्हीं पक्षियों का कलरव भी था। घाटी में से धुआँ ऊपर की ओर ही उठ रहा था, क्योंकि हवा इतनी तेज नहीं थी कि वह इधर-उधर बिखर जाय। ठेठ तलहटी से सीधे ऊपर उठनेवाला और किसी जीर्ण पाइन वृक्ष की तरह आकाश को छूने की स्पर्धा करनेवाला वह धूम-स्तम्भ देखने में विशेष आनन्द आ रहा था। हम पर क्षुब्ध होकर जोर से चिल्लानेवाली एक गिलहरी आखिर चुप हो गयी और न जाने किस खोज में पेड़ पर से नीचे उतर गयी। ऐसा लगा कि उसका कुछ समाधान हो गया और वह छलाँग लगाती हुई बड़ी तेजी से दूर निकल गयी। आकाश में एक ओर छोटा-सा मेघ लहरा रहा था, शेष सारा आकाश स्वच्छ, निरभ्र था। उसकी हलकी नीलिमा में एक प्रकार का मार्दव था।

लेकिन उस व्यक्ति की दृष्टि में यह सारा सौन्दर्य कुछ था ही नहीं। क्योंकि वह अपनी समस्या में उलझा बैठा था। उसकी समस्याएँ पहले से ही उसे चारों ओर से घेरे हुई थीं और वह उनमें उलझ गया था। वह एक बहुत धनी व्यक्ति था। शरीर से दुर्बल होने पर भी उसमें एक प्रकार का कड़ापन था। उसके बर्ताव में एक प्रकार की सहजता थी। उसके चेहरे पर सदैव मुसकराहट झलकती थी। वह उस घाटी की ओर देख अवश्य रहा था, लेकिन वहाँ के सौन्दर्य का स्पर्श उसे नहीं हो रहा था। उसके चेहरे पर मार्दव की रत्तीभर भी झलक नहीं दीख रही थी। चेहरे की कठोरता और कड़ापन वैसा ही था। वह अपने शिकार के पीछे पड़ा था। इस समय उसका शिकार सम्पत्ति न होकर ईश्वर था, उसकी कल्पना का ईश्वर। वह सदैव प्रेम और परमेश्वर की ही चर्चा करता था। ईश्वर के इस शिकार के लिए उसने दूर-दूर के अनेक देशों का भ्रमण किया था, अनेक गुरु खोजे थे। अब चूंकि उसकी उमर ढल रही थी, इसलिए उसकी यह खोज पहले से कहीं तीव्र होती जा रही थी। इस विषय

की चर्चा करने के लिए वह पहले भी अनेक बार आ चुका था। लेकिन सदैव उसके चेहरे पर चालाकी और हिसाबीपन दीखता था। ईश्वर को खोजने की उसे कितनी कीमत चुकानी पड़ेगी, उसकी ओर जानेवाला मार्ग कितना खर्चीला है, इसीका वह मन में बराबर हिसाब लगाता रहता था। वह यह जानता था कि दुनियावी सिक्के वह परलोक में अपने साथ नहीं ले जा सकेगा। लेकिन वह इस बात का अन्दाज बराबर लगाता रहता था कि परलोक में चलनेवाला कोई सिक्का वह साथ में ले जा सकता है या नहीं। वह हृदय से कठोर था। उसमें हाथ का अथवा हृदय का औदार्य लेशमात्र भी नहीं था। तनिक भी ज्यादा देने का प्रसंग आते ही वह ना-नुच करने लगता था। उसे लगता था कि किसी भी प्रकार का पारितोषिक प्राप्त करने के लिए प्रत्येक को अपनी योग्यता सिद्ध करनी चाहिए। उस दिन सवेरे वह अपना अन्तरंग अधिक खोलकर दिखाने के लिए ही आया था। क्योंकि, उसके उस सफल जीवन को धक्का देने जैसी गम्भीर घटनाएँ अब पूरी तरह उसके अधीन नहीं रह गयी थीं।

वह कहने लगा : "मैं कैसा हूँ, इसका अहसास अब मुझे होने लगा है। इतने वर्षों से मैं सतत आपका विरोध करता आया हूँ, प्रतिकार करता रहा हूँ। आप श्रीमानों के विरुद्ध बोलते हैं, हमें आप हमेशा चाबुक मारते हैं। इसीलिए अब तक मुझे आप पर क्रोध आता था। लेकिन आपके कठोर शब्दों को वापस लौटाना मैं जानता नहीं था। मैं जानता नहीं था कि आप पर आघात कैसे किया जाय! मैंने तरह तरह से प्रयत्न करके देखा, लेकिन मेरे लिए आपके ऊपर प्रतिप्रहार करना कभी सम्भव नहीं हुआ! आप मुझे यह तो बताइये कि मैं क्या-क्या करूँ? कितना अच्छा होता यदि मैंने आपका भाषण कभी सुना न होता, और मैं आपके आस-पास कभी आया न होता! अब रात-रातभर मुझे नींद नहीं आती, जब कि पहले मुझे कितनी अच्छी नींद आती थी। अब मुझे बार-बार भयंकर सपने आते है, पहले मुझे शायद ही कभी सपना आता था। मुझे आपसे भय लगने लगा है। मन ही मन मैंने आपको लाख-लाख शाप भी दिये हैं। लेकिन अब तो मेरा यहाँ से पीछे लौटना असम्भव है। अब मैं करूँ भी क्या? मेरा एक भी मित्र नहीं है, यह भी आपने मेरे ध्यान में ला दिया है। पहले मैं मित्रों को खरीद सकता था, लेकिन अब तो यह भी सम्भव नहीं। क्योंकि, जो कुछ घटित हुआ है, उसके कारण मेरा स्वरूप बिलकुल नग्न रूप में सामने आ गया है। शायद अब मैं 'आपका' मित्र बन सकूँगा। आपने मुझे सहायता का आश्वासन भी दिया है। इसीसे मैं यहाँ आया हूँ। मैं क्या करूँ, सो बताइये।"

देखिये, अपने स्वरूप को उजागर करना जितना आसान लगता है, उतना आसान है नहीं। क्या अपना स्वरूप सचमुच उघाड़कर रख देता है कोई? मनुष्य अपने मन के जिन कपाटों को सावधानी से बन्द करके रखता है, जिनमें अपने को भी न देखने लायक बातें भी दबाकर रखता है, उन अपने मन के कपाटों को क्या वह कभी

खोलता है ? क्या किसीको कभी लगता है कि उन कपाटों को खोलकर देखा जाय कि उनमें क्या-क्या है ?

"कम-से-कम मुझे तो ऐसा लगता है। लेकिन उन्हें कैसे खोला जाय, यह मैं नहीं जानता।"

उन कपाटों को खोलकर देखने की क्या आपकी सचमुच इच्छा है ? अथवा इस इच्छा के साथ आप केवल खेल रहे हैं ? ये कपाट एक बार जरा भी खुल जायँ तो फिर उनका बन्द करना सम्भव नहीं होता। इसके बाद तो उसके पल्ले रात-दिन खुले ही रहते हैं और भीतर की चीजें बराबर बाहर निकलकर उजाले में आने लगती हैं। फिर मनुष्य उनसे दूर भागने लगता है। लेकिन वे दरवाजे खुले ही रहते हैं और अन्दर की चीजें बाहर निकलने का मौका ढूँढ़ती रहती हैं। अब बताइये, सचमुच क्या आपको यह कपाट खोलकर देखने की इच्छा है ?

"सचमुच मेरी ऐसी इच्छा है। इसीके लिए तो यहाँ आया हूँ। अब तो मुझे उसका सामना करना ही होगा। क्योंकि, अब सारी बातें किनारे पर पहुँच गयी हैं। मैं अब करूँ तो भी क्या ?"

फिर खोलिये वह कपाट और देखिये कि भीतर क्या है। धन प्राप्त करने के लिए मनुष्य को क्या-क्या करना पड़ता है, इस पर ध्यान दीजिये। दूसरों पर आघात करना होता है, निर्दयी बनना पड़ता है, अनुदार बनना पड़ता है, निष्ठुरता, झूठ, हिसाबीपन, बेईमानी आदि सारी बातें करनी पड़ती हैं। इसके लिए सत्ता की भी खोज करनी पड़ती है। सत्ताकांक्षा अहंकेन्द्रित होती है। लेकिन उसके इस स्वरूप को ढँकने के लिए उसको जवाबदारी, कर्तव्य, कार्यक्षमता, अधिकार जैसे बढ़िया नाम दिये जाते हैं।

"हाँ, हाँ, यह सब सही है, इतना ही नहीं, इससे भी अधिक है। मैं मानता हूँ कि मैंने आज तक किसीकी कोई कद्र नहीं की। मेरे सारे धार्मिक प्रयास केवल प्रतिष्ठा के चोगे, आवरण थे। आज जब मैं इन सब बातों की ओर देखने लगा हूँ, तब स्पष्ट दिखाई देता है कि मेरी प्रत्येक कृति मेरे स्वार्थ के चारों ओर घूम रही थी। पहले मैं ऐसा बहाना करता था कि ऐसा नहीं है, पर वस्तुत: मेरा अहं ही इन सबका केन्द्र था। अब यह सब मुझे स्पष्ट दिखाई दे रहा है। लेकिन अब मैं करूँ भी तो क्या ?"

सबसे पहले हमें वस्तुओं के असली स्वरूप को जान लेना चाहिए। लेकिन वस्तु-स्थिति जान लेने के बाद भी हृदय में यदि प्रेम का, स्नेह का, उस धूम्ररहित ज्योति का उदय नहीं हुआ तो इन सारी पुरानी बातों को पोंछ डालना कैसे सम्भव होगा ? केवल स्नेह की यह ज्योति ही सारे दोषों का प्रक्षालन कर सकेगी, दूसरे किसीमें

यह सामर्थ्य नहीं है। आप कितना ही मनोविश्लेषण करें, कितना ही त्याग करें, कितनी ही संन्यस्त-वृत्ति धारण करें, तो भी उसे साकार करने की सामर्थ्य इनमें से एक में भी नहीं है। स्नेह की यह ज्योति हृदय में प्रकाशित हो जाय, तो फिर हाथों से जो कृति होगी, वह त्याग नहीं रहेगा अथवा वह सर्वसंग परित्याग भी नहीं होगा। फिर आप बवंडर के अपने निकट पहुँचने की राह न देखकर आप स्वयं ही उसका सामना करने के लिए तैयार हो जायेंगे।

"लेकिन मैं प्रेम करूँ तो कैसे ? मुझे लोगों के प्रति कभी अपनापन महसूस नहीं हुआ, यह बात मैं अच्छी तरह जानता हूँ। आज तक हमेशा मैं निष्ठुरतापूर्वक वर्ताव करता रहा हूँ। इसलिए, जिन्हें वास्तव में मेरा पक्ष लेना चाहिए, वे भी अब मेरे पक्ष में नहीं हैं। मैं पूरी तरह अकेला पड़ गया हूँ। ऐसी स्थिति में मेरे हृदय में प्रेम कैसे निर्माण होगा ? मैं इतना मूर्ख नहीं हूँ कि यह मान बैठूं कि किसी विशिष्ट वृत्ति से यह प्रेम पैदा किया जा सकेगा अथवा किसी भी प्रकार के त्याग अथवा आत्मनिग्रह से उसे खरीदा जा सकेगा। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि मैंने कभी प्रेम नहीं किया है। यदि मैंने प्रेम किया होता, तो आज इस दुर्दशा तक न पहुँचा होता। लेकिन अब मैं करूँ क्या ? क्या मैं अपनी सारी सम्पत्ति का, सारे वैभव का त्याग कर डालूं ?"

देखिये, आपने अब तक बड़ी लगन से जिस बगीचे को बढ़ाया, उसमें यदि सारे विषैले पौधे ही बढ़े हैं और यह बात आपके ध्यान में आ गयी है, तो उन पौधों को जड़सहित उखाड़ डालना ही क्या उचित नहीं है ? जिस चहारदीवारी द्वारा इस बगीचे को घेरा गया था, उसे भी गिरा देना आवश्यक है। लेकिन ऐसा करना या न करना आपकी इच्छा पर अवलम्बित है। क्योंकि, आपकी धन-सम्पत्ति का बगीचा विशाल है और उसके चारों ओर बड़ी धूर्तता से दीवाल खड़ी करके आपने उसका संरक्षण किया है। इसलिए जब आपके हृदय में लेन-देन की भाषा नहीं रहेगी, तभी आप दीवाल को गिरा सकेंगे और इन विषैले पौधों को उखाड़कर फेंक सकेंगे। लेकिन यह होना ही चाहिए। क्योंकि श्रीमंती में मरने का अर्थ ही सारे जीवन को निरर्थक बना डालना है। किन्तु यह सब करने के अतिरिक्त मन और हृदय को निर्मल बनानेवाली और जीवन को नूतनता प्राप्त करा देनेवाली स्नेह की ज्योति आपके हृदय में प्रकट होनी चाहिए। यह ज्योति न तो मन के द्वारा निर्मित होती है और न प्रयत्नपूर्वक निर्माण ही की जा सकती है। दयालुता का भाव प्रकट कर आप ऊपरी चमक भले ले आयें, लेकिन उसे स्नेह की ज्योति नहीं कह सकते। सेवा के रूप में माने जानेवाले कार्य लोकोपयोगी और आवश्यक होने पर भी प्रेम या स्नेह नहीं है। बुद्धिपूर्वक संवर्धित की गयी सहिष्णुता अथवा धर्म द्वारा संवर्धित

करुणा, मृदु व्यवहार एवं कोमल वृत्ति अथवा अवतारी विभूति का या उसकी प्रतिमा की या उसके आदर्श की पूजा—इनमें से कोई भी चीज प्रीति नहीं है।

"मैंने आपकी बात सुनी है और स्वयं भी अनुभव किया है कि ऊपर की बातों में से किसीमें भी प्रीति नहीं होती। लेकिन मेरा हृदय तो पूरी तरह रीता हो गया है। इसे मैं कैसे भर सकता हूँ? मैं अब क्या करूँ?"

देखिये, आसक्ति प्रीति नहीं है। तितिक्षा में भी प्रीति नहीं होती। मत्सर-भावना सामर्थ्यवान् हो तो भी वह प्रीति को बाँधकर नहीं रख सकती। संवेदन और उससे प्राप्त होनेवाला सन्तोष भी सतत नष्ट होता जाता है। लेकिन प्रीति तो अक्षय होती है।

"लेकिन ये सब मेरी दृष्टि में निरे शब्द हैं। मैं भूख से छटपटा रहा हूँ। मेरी क्षुधा शान्त करिये।"

लेकिन भोजन देने के पहले मनुष्य में भूख जागृत होनी चाहिए। आपको यदि सचमुच भूख लगी होगी, तो आपकी अन्न-निश्चित रूप से मिलेगा। आपको सचमुच भूख लगी है? अथवा किसी भी भिन्न प्रकार के अन्न का स्वाद लेने का आपको लोभ लगा है? आपको भिन्न प्रकार के अन्न की केवल इच्छा हुई होगी तो उसे पूरा करने जितना संतोषप्रद अन्न आपको निश्चित रूप से मिलेगा। लेकिन वह सन्तोष टिकेगा नहीं। ऐसा संतोष प्रीति तो कतई नहीं होगा।

"फिर मैं करूँ भी तो क्या?"

आप बार-बार यही प्रश्न पूछ रहे हैं। आपको क्या करना है, इस बात का कोई महत्त्व नहीं है. लेकिन इस समय आप क्या कर रहे हैं, इसका आकलन करना आवश्यक है। भविष्य में क्या किया जाय, इसकी आपको चिन्ता लग गयी है। लेकिन यह इसी क्षण करने की कृति को टालने का ही मार्ग है। आप कुछ करना नही चाहते और इसीलिए 'मुझे क्या करना चाहिए', यह प्रश्न आप बार-बार पूछ रहे हैं। आप पुनः पहले की तरह छल करना चाहते हैं, अपने-आपको धोखा देना चाहते हैं। इसीलिए आपका हृदय खाली हो गया है। उसे आप मनोनिर्मित बातों से भरना चाहते हैं। लेकिन प्रीति मन से निर्माण की जानेवाली वस्तु है नहीं। अपने हृदय को इसी तरह खाली रहने दीजिये। उसे मन के द्वारा कल्पित कृति से अथवा शब्दों से न भरिये। अपने हृदय को पूरी तरह खाली रहने दीजिये। तभी वह सहज रूप से भरा जायगा। ●

६०. कर्मफल की निरर्थकता

वे लोग विश्व के विभिन्न भागों से आये थे। वे ऐसी कुछ समस्याओं पर चर्चा कर रहे थे, जो हममें से अधिकांश लोगों के सामने खड़ी रहती हैं। चर्चा करना अच्छी बात अवश्य है, लेकिन केवल शब्दों द्वारा, केवल युक्तिवाद द्वारा अथवा पाण्डित्य द्वारा छलनेवाली समस्याओं से हमारा छुटकारा नहीं हो जाता। बुद्धि-चातुर्य एवं ज्ञानवैभव की व्यर्थता प्रायः अनुभव में आती है। इस व्यर्थता की पूरी-पूरी जानकारी हो जाने पर मन निस्तब्ध बन जाता है। मन की इस निस्तब्ध अवस्था में ही समस्या का आकलन होता है। लेकिन इस निस्तब्धता को विशेष रूप से प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न करना एक नये संघर्ष को तथा समस्या को जन्म देना होता है। समस्या की व्याख्या करने से, उसके कारणों का पता लगाने से अथवा उसकी विश्लेषणात्मक चीरफाड़ करने से समस्या कभी नहीं सुलझती। क्योंकि ये सारे मार्ग मनोकल्पित होते हैं। मन की सहायता से समस्या कभी हल नहीं की जा सकती। मन तो ज्यादा-से-ज्यादा समस्याएँ पैदा ही कर सकता है। समस्या से दूर भागने के लिए ही मन अनेक व्याख्याओं का, आदर्शों का अथवा नाना हेतुओं का आधार लेता है। लेकिन मन कुछ भी करे, वह समस्या से छुटकारा नहीं पा सकता। वस्तुतः मन के क्षेत्र में ही समस्याएँ और संघर्ष पैदा होते हैं और तेजी से बढ़ते हैं। स्वयं निस्तब्ध बनना मन या विचार के लिए असम्भव है। वह निस्तब्धता का बुरका ओढ़ सकता है, लेकिन ऐसा करने का अर्थ है अपने को ढँक देना और निस्तब्धता का कृत्रिम आविर्भाव करना। किसी पूर्वनिश्चित साध्य की प्राप्ति के लिए विशिष्ट साधना की सहायता से विचार अपना अन्त तो ला सकता है, लेकिन यह अन्त, यह मरण, निस्तब्धता नहीं है। मृत्यु तो जीवन की अपेक्षा भी अधिक गरजती है। मन का कोई भी व्यापार सहज निस्तब्धता के लिए सतत बाधक ही सिद्ध होता है।

खुली खिड़कियों से तरह-तरह की आवाजें आ रही थीं। गाँव के लड़ाई-झगड़ों की गुस्साभरी जोरदार आवाज, भाप छोड़नेवाले इंजन की आवाज, बच्चों के मुक्त हास्य एवं रोने-चिल्लाने की आवाज, सड़क पर से जानेवाली मोटरों की धड़-धड़, मधुमक्खियों की गुनगुन और कौओं की कर्कश काँव-काँव—इन सब ध्वनियों का संमिश्र कोलाहल कानों में पड़ रहा था। लेकिन इस सारे कोलाहल में से भी बिना खोजे, बिना बुलाये एक प्रकार की निस्तब्धता कमरे में धीरे-धीरे संचरित होने लगी थी। शब्दों के और युक्तिवाद के कोलाहल में से, गलतफहमी और आपसी किचकिच

की भीड़भाड़ में से यह निस्तब्धता अपने पंख फैलाने लगी थी। शब्द, बकवास या आवाज का बन्द हो जाना इस निस्तब्धता का स्वरूप नहीं था, यह उसकी गति नहीं थी। सब प्रकार के कोलाहल में भी निस्तब्धता का संचार होने देने के लिए मन की विस्तारक्षमता सिमट जानी चाहिए। यह निस्तब्धता सब प्रकार के बन्धनकारी कर्मों से, सारी सुसंगतियों से और सारे प्रयत्नों से मुक्त होती है। वह अक्षय, अनन्त होती है और सतत ताजा, अम्लान होती है। लेकिन निस्तब्धता शब्द निस्तब्धता नहीं है।

सोचने की बात है कि हम लोग विविध साध्यों के, परिणामों के पीछे क्यों पड़े रहते हैं? कोई ईप्सित साध्य प्राप्त करने के लिए हमारा मन क्यों दौड़ता रहता है? साथ ही हम यह भी सोचें कि मन के साध्यों के, ईप्सितों के पीछे लगने में बुराई भी क्या है; किसी साध्य के लिए कोई न कोई अनुभव अथवा आनन्द प्राप्त करने के लिए ही न हम यहाँ आये हैं? आज तक हम जिन अनेक वस्तुओं से खेलते आये हैं, उनसे अब तंग आ गये हैं, ऊब गये हैं। उनसे अब हमने पीठ फेर ली है और अब हम किसी नये खिलौने से खेलना चाहते हैं। दूकानों के शीशों के भीतर सुन्दर-सुन्दर सजी हुई चीजें देखते हुए रात में जैसे स्त्रियाँ सड़कों पर घूमती हैं, वैसे ही सामान्यतः हम सब लोग एक ईप्सित से दूसरे की ओर बराबर दौड़ते रहते हैं। पूर्ण समाधानकारी ईप्सित प्राप्त होने तक हम इसी तरह भटकते रहते हैं और ऐसी चीज एक बार प्राप्त होने पर फिर उसीसे चिपक जाते हैं और डबरे के पानी की तरह सड़ते रहते हैं। हममें बराबर कोई-न-कोई लालसा बनी रहती है। अनेक वस्तुओं का स्वाद चखने के बाद तथा यह मालूम होने पर कि ये सब असमाधानकारक हैं, हम कोई समाधानकारी वस्तु चाहते हैं, फिर भले ही उसका नाम ईश्वर, सत्य अथवा चाहे जो हो। हम ऐसा परिणाम, ऐसा नया अनुभव, ऐसी नयी संवेदना चाहते हैं, जो कभी भंग न हो। किसी विशिष्ट परिणाम की व्यर्थता हमारी समझ में आती है, लेकिन सभी परिणाम, सभी कर्म-फल मूलतः व्यर्थ हैं, इसकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। इसीलिए हम एक प्रकार के परिणाम से, कर्मफल से दूसरे की ओर, दूसरे से तीसरे की ओर भटकते रहते हैं और ऐसी पागल आशा रखते हैं कि एक दिन हमें खोजते-खोजते कोई अन्तिम शाश्वत कर्मफल हाथ लग जायगा।

वस्तुतः किसी भी परिणाम, कर्मफल अथवा सफलता का शोध करते रहना अपने को संकुचित बना डालना है, आबद्ध कर डालना है। क्योंकि ऐसे शोध का सतत अन्त होता रहता है। प्राप्ति की प्रक्रिया वास्तव में समाप्ति की ही प्रक्रिया है। कहीं भी पहुँचकर वहाँ रुक जाने का अर्थ है अपनी मृत्यु को बुलाना। इस वस्तुस्थिति में भी हम लोग ऐसे ही शोध में रहते हैं। पर हम इसे नाम देते हैं कर्मफल, साध्य

अथवा हेतु की प्राप्ति का। वस्तुतः इस रूप में हम आलिंगन मृत्यु का ही करते हैं। हम एक बार अन्तिम और इच्छित स्थान पर पहुँच जाना चाहते हैं। अपनी अखण्ड दौड़धूप से हम थक जाते हैं, इसलिए हमारा इच्छित स्थान किसी भी स्तर का हो, हम 'वहाँ' पहुँच जाना चाहते हैं। हमारी जो दौड़धूप निरन्तर चलती रहती है, उसकी विनाशकता और व्यर्थता हमारे ध्यान में नहीं आती। लेकिन यह ध्यान में आने के बदले अन्तिम कर्मफल प्राप्त करके, इस दौड़धूप से सदा के लिए मुक्ति प्राप्त करने की हमारी इच्छा रहती है। इस दौड़धूप के पीछे, इस संघर्ष के पीछे रहनेवाले सत्य का दर्शन हमें नहीं होता। इसलिए इस दौड़धूप का और संघर्ष का साधन के रूप में उपयोग करके, अपने को अतिशय संतोषप्रद लगनेवाला प्राप्तव्य प्राप्त करने के फेर में रहते हैं। हमारे लिए अत्यन्त संतोषदायक प्राप्तव्य क्या है, यह हमारे असंतोष की तीव्रता द्वारा तय किया जाता है। कर्मफल प्राप्त करने की इच्छा की समाप्ति किसी न किसी लाभ में होती है। लेकिन हम तो ऐसा परिणाम या लाभ चाहते हैं, जिसका अन्त न हो। हमें देखना है कि आखिर हमारी समस्या का स्वरूप क्या है? यही न कि कर्मफल की लालसा से मुक्ति कैसे प्राप्त की जाय?

"यही होना चाहिए, ऐसा मुझे लगता है। लेकिन मुक्त होने की इच्छा भी कोई प्राप्तव्य-प्राप्ति की इच्छा नहीं है क्या?"

देखिये, यदि हम इस प्रकार विचार करते रहेंगे, तो उलझन के सिवा हमारे पल्ले कुछ नहीं पड़ेगा। कर्मफल किसी भी 'स्तर का हो, आखिर वह निरर्थक ही होता है, यह बात हमारे ध्यान में नहीं आती, यही न आप कहना चाहते हैं? क्या यही समस्या आपके सामने नहीं है? आइये, सबसे पहले हम अपनी समस्या को स्पष्ट रूप से देखें। तभी शायद हम उसका आकलन कर सकेंगे। आपके सामने क्या यह प्रश्न है कि एक विशिष्ट कर्मफल की व्यर्थता दीखने पर समस्त कर्मफलों की इच्छा समाप्त कर दी जाय? एक प्रकार का बहाना निरर्थक है ऐसा आपको दीखा, तो सब प्रकार के बहानों को निरर्थक समझा जाय, यही प्रश्न क्या आपके सामने है? नहीं लगता कि आपका प्रश्न ऐसा ही है। आइए, हम इस प्रश्न पर एक भिन्न दृष्टि से विचार करें।

अनुभव भी तो एक परिणाम है, एक कर्मसाफल्य है। है न? सब प्रकार के कर्मफलों से हम मुक्ति चाहते हैं, तो क्या अनुभव से भी मुक्ति आवश्यक नहीं है? आखिर अनुभव भी क्या एक परिणाम, एक अन्त, एक कर्मफल नहीं है?

"अनुभव किसका अन्त है?"

देखिये, अनुभवन साक्षात् अनुभव-क्रिया का अन्त है। अनुभव साक्षात् अनुभवन-क्रिया की स्मृति है, है या नहीं? साक्षात् अनुभवन जब समाप्त होता है, तभी अनुभव

अथवा परिणाम अस्तित्व में आता है। साक्षात् अनुभवन में अनुभव का अस्तित्व नहीं होता। जो अनुभव किया गया है, उसकी स्मृति ही अनुभव है। साक्षात् अनुभवन की क्रिया सिमटते ही अनुभव अस्तित्व में आता है। यह अनुभव ही साक्षात् अनुभवन-क्रिया के अर्थात् जीवन-क्रिया के आड़े आता है। सारे अनुभवों का, सारे कर्मफलों का आखिर अन्त आना ही है। लेकिन साक्षात् अनुभवन तो अक्षय, अनन्त होता है। इस अक्षय के, इस अनन्त के, इस चिन्मय के आड़े जब स्मृति खड़ी हो जाती है, तभी मनुष्य कर्मफल के पीछे दौड़ने लगता है। कर्मों की परिणति रूप जो हमारा मन है, वह कर्मफल की, विशिष्ट साध्य की अथवा ध्येय की सतत खोज करता रहता है। लेकिन इस तरह की खोज का अर्थ है मरणाधीन होना। जब यह अहं, यह अनुभविता अस्तित्व में नहीं रहता, तब मृत्यु भी नहीं रहती। तभी होता है नित्य-नूतन अक्षय का स्पर्श। ●

६१. परमानन्द की अभिलाषा

उस प्रशस्त हरियाली पर वह एकमात्र विशाल वृक्ष आसपास के क्षेत्र का केन्द्र-बिन्दु ही बन गया था। उस क्षेत्र में वह घर, वह छोटा-सा जलाशय और वह झाड़ी भी समाविष्ट थी और ऐसा लग रहा था, मानो वहाँ का जीवन-प्रवाह उस केन्द्र-बिन्दु की ओर --उस विशाल और उत्तुंग वृक्ष की ओर बहता चला जा रहा है। वह वृक्ष बहुत प्राचीन था। लेकिन उसमें कुछ ऐसी ताजगी विलसित हो रही थी मानो यह वृक्ष अभी-अभी जमीन से ऊपर उभरा है। उसकी शायद ही कोई शाखा सूखी हो। उसके ताजे पत्ते प्रातःकालीन कोमल प्रकाश में विलक्षण रूप से चमक रहे थे। आस-पास के सारे क्षेत्र में यही एक विशाल वृक्ष था, इसलिए सभी प्राणी उसीकी ओर खिंचे चले जा रहे थे। उसकी विस्तीर्ण छाया में हरिण, बगुले, खरगोश और गाय-भैंस आदि सारे प्राणी विश्राम पाते थे। विशेष रूप से दोपहर में तो मानो उन सबकी सभा ही जमती थी। उस वृक्ष की शाखाओं के भरे-पूरे सरस-सौन्दर्य के कारण आकाश को भी एक अनोखा सौन्दर्य प्राप्त हो गया था। प्रातःकाल के कोमल प्रकाश में तो ऐसा लगता था कि यह वृक्ष ही एक जीवन्त चिन्मय वस्तु है। चारों ओर की झाड़ी में से देखने पर यह वृक्ष दूर-दूर लगता था, लेकिन वृक्ष के निकट से देखने पर वह झाड़ी, वह घर और आकाश तक एकदम निकट लगते थे—इतने निकट कि हाथ ऊँचा करते ही मानो आकाश में दौड़नेवाले मेघों का स्पर्श हो जायगा।

इस विशाल वृक्ष के नीचे हम कुछ देर बैठे थे। इतने में वह व्यक्ति हमारे निकट आकर बैठ गया। वह कह रहा था कि ध्यान-धारणा की ओर उसका विशेष झुकाव

था और पिछले अनेक वर्षों से वह ध्यान-धारणा करता आया है। वह किसी भी विशिष्ट सम्प्रदाय का नहीं था। वह यह भी कह रहा था कि ईसाई-धर्म के गूढ़ तत्त्ववादियों की अनेक पुस्तकें उसने पढ़ी हैं। फिर भी हिन्दू और बौद्धधर्मीय सत्पुरुषों द्वारा प्रवर्तित ध्यान-धारणा और साधना के रूपों और प्रकारों का उसे विशेष आकर्षण है। वह बता रहा था कि कठोर तपस्या की अपक्वता शीघ्र ही उसके ध्यान में आ गयी थी और इसीलिए संयम की ओर आरम्भ से उसका झुकाव था और सब प्रकार की अति या चरमावस्था को वह बराबर टालता रहा है। वह दीर्घकाल से साधना कर रहा है और आत्मसंयम का पालन अव्यभिचारी रूप से करता आ रहा है। ध्यान-धारणा के परे जो है उसे ध्यान-धारणा से ही प्राप्त करने का उसका अटल निश्चय था। उसने बताया कि नैतिक समझी जानेवाली जीवन-प्रणाली का पालन वह ठीक ढंग से करता आया है, लेकिन वह कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। उसने यह भी कहा कि सामान्य लोग जो बातें चाहते हैं, उनका मुझे आकर्षण नहीं है। इस भौतिकता का खेल एक बार खेल चुका हूँ। लेकिन कुछ वर्षों पहले वह खेल खतम हो गया। वह एक छोटा-सा व्यवसाय कर रहा है, वह भी आनुषंगिक रूप में।

ध्यान-धारणा का वास्तविक लक्ष्य और कुछ न होकर स्वयं ध्यानमग्नता ही है। ध्यान से परे की बातों का ध्यान के द्वारा शोध करना साध्य के पीछे लगने जैसी बात है; पर जो उपलब्ध किया जा सकता है, वह नष्ट भी हो सकता है। विशिष्ट साध्य के पीछे लगने का अर्थ है अहं-विक्षेपित बात का ही सातत्य जारी रखना। अन्तिम परिणति अथवा साध्य कितनी ही उच्च कोटि का हो, अन्ततः वह हमारी अभिलाषा के द्वारा ही निर्मित होता है। विशिष्ट स्थान पर पहुँचने के लिए, विशिष्ट साध्य का शोध करने के लिए अथवा उसे प्राप्त करने के साधन के रूप में ध्यान का उपयोग करने से ध्यान करनेवाले को, ध्याता को, अहं को ही अधिक बल प्राप्त होता है। वस्तुतः ध्याता और ध्यान एक ही हैं, अभिन्न हैं। ध्याता के स्वरूप को समझ लेना ही ध्यान है।

"लेकिन मैं तो अन्तिम सत्य की प्राप्ति के लिए या उसका दर्शन पाने के लिए ध्यान करता हूँ। मुझे कोई विशिष्ट साध्य प्राप्त नहीं करना है। मैं तो 'कभी-कभी मिलनेवाली परमानन्द की हल्की-सी झाँकी पाना चाहता हूँ। मुझमें निश्चय ही यह अभिलाषा है। जैसे प्यासे आदमी को पानी की प्यास लगती है, वैसे ही उस अवर्णनीय परमानन्द-प्राप्ति की मुझे अनिवार प्यास लगी हुई है। यह परमानन्द अन्य किसी भी आनन्द से अनन्तगुना श्रेष्ठ है और उसे अपने अन्तःकरण की उत्कट आशा मानकर मैं उसके पीछे पड़ा हूँ।"

इसका सीधा स्पष्ट अर्थ यह है कि आप इसीलिए ध्यान करते हैं कि आपको वह प्राप्त हो, जो आप चाहते हैं। अपने इस ईप्सित के लिए आप विशिष्ट अनुशासन स्वीकार करते हैं, विशिष्ट यम-नियमों का पालन करते हैं। उसके लिए एक कार्यक्रम बनाकर आप उस मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं। ऐसा करते हुए अपने न्यूनाधिक प्रयत्न से हमें कोई निश्चित प्रकार की स्थिति प्राप्त होगी और उत्तरोत्तर अधिकाधिक आनन्द की प्राप्ति होती रहेगी, ऐसी आपको आशा है। यह सारा कार्यक्रम एक पूर्वनियोजित प्रबन्ध है और इसी कारण आपको इस बात का विश्वास है कि इस प्रकार आपको अपना अन्तिम ईप्सित मिल जायगा। इससे स्पष्ट है कि आपकी ध्यान-साधना परिणाम के पहले ही पूरा अनुमान लगाकर बनायी हुई प्रक्रिया है। है या नहीं ?

"आप जिस ढंग से यह चीज रख रहे हैं, उसके अनुसार तो ऊपर-ऊपर से देखने पर, यह पागलपन दीखता है। लेकिन गहराई से विचार करने पर, मेरी समझ में नहीं आता कि इसमें क्या गलती है ? परमानन्द के पीछे लगने में कौन-सी गलती है ? मैं मानता हूँ कि मैं अपने अब तक के प्रयत्नों का फल चाहता हूँ। लेकिन इसमें गलती कहाँ है ?"

परमानन्द-प्राप्ति की आपकी अभिलाषा का अर्थ यह है कि आपकी भावना यह है कि यह परमानन्द अक्षय और शाश्वत स्वरूप का है। है न ? आपने अब तक जो-जो साध्य हस्तगत किये, वे सब असमाधानकारक थे, अनेक सांसारिक ईप्सितों के पीछे पड़े, लेकिन उनका क्षणभंगुर स्वरूप आपके ध्यान में आ गया, इसीलिए अब उस अक्षय और शाश्वत स्थिति के, उस अनन्त स्थिति के आप इच्छुक हैं—क्या यही आपकी अभिलाषा का अर्थ नहीं है ? आपका मन अब अन्तिम और अविनाशी आश्रयस्थान शोध रहा है और इसीलिए वह अपने को विशिष्ट अनुशासन से बाँध रहा है और जो चाहिए, उसकी प्राप्ति के लिए विशिष्ट सद्गुणों का संवर्धन कर रहा है। सम्भव है कि इस मन को किसी समय उस परमानन्द का आस्वाद भी मिला होगा, इसीलिए उसे पुनः प्राप्त करने के लिए उसका प्रयत्न चल रहा हो। ईप्सित के पीछे लगनेवाले अन्य व्यक्तियों की भाँति आप भी अपना ईप्सित प्राप्त करने के पीछे पड़े हैं। अन्तर इतना ही है कि आपका ईप्सित एक भिन्न स्तर का है। आप कहेंगे कि 'मेरे ईप्सित का स्तर बहुत ऊँचा है', लेकिन यह बात मूल मुद्दे से असम्बद्ध है। परिणाम का अर्थ होता है एक परिसमाप्ति। एक साध्य तक पहुँचने का अर्थ है, किसी अन्य साध्य के लिए प्रयत्न आरम्भ करना। हमारा मन कभी चुप नहीं बैठता। वह अखण्ड दौड़धूप करता रहता है। वह सतत कुछ-न-कुछ प्राप्त करता रहता है और यह प्राप्त वस्तु कहीं नष्ट तो नहीं हो जायगी, इस भय से व्याकुल रहता है। इस सारी प्रक्रिया को ही ध्यान का सुन्दर नाम दिया जाता है। कुछ विशिष्ट

होने के चक्कर में जो मन सतत अटका रहता है, उसे क्या कभी परमानन्द का दर्शन हो सकता है ? जिस मन ने अपने ऊपर विशिष्ट अनुशासन का बन्धन लाद दिया है, वह मन परमानन्द के स्वागत के लिए कभी मुक्त रह सकता है ? प्रयत्न और दौड़धूप द्वारा, प्रतिकार और त्याग द्वारा मन अपने को संवेदन-शून्य बना डालता है। ऐसे मन को, शुद्ध नित्यनूतन के स्पर्श के लिए आवश्यक विमुक्तता और सरल संवेदनशीलता कैसे प्राप्त होगी ? परमानन्द की अभिलाषा से क्या आपने अपने चारों ओर एक परकोटा ही खड़ा नहीं कर लिया है ? तब, क्या उस अज्ञात और अनिर्वचनीय का प्रवेश इस परकोटे को भेदकर आपके पास तक होना सम्भव है ? अपने को दृढ़तापूर्वक बन्द करके आपने उस नवीन की फुहार को क्या अशक्य ही नहीं कर दिया है ? पुरातन के अवगुण्ठन में से ही आपने नवीन के लिए मार्ग प्रशस्त किया है, तो क्या पुरातन में इस नूतन का समावेश सम्भव है ?

मन के लिए नवीन का निर्माण करना सम्भव ही नहीं। कारण, मन ही किसी-का परिणाम, परिपाक होता है और सब प्रकार के परिणाम पुरातन से ही निर्मित होते हैं। परिणाम कभी भी नूतन नहीं हो सकते। विशिष्ट परिणाम को मूर्तिमन्त करने के पीछे लगने से कभी भी स्वयंस्फूर्त कृति नहीं हो सकती। जो विमुक्त होता है, वह साध्य के पीछे कभी नहीं लगता। आदर्श अथवा साध्य सदैव ही मन का विक्षेप होता है। निश्चय ही वह ध्यान नहीं हो सकता। ध्याता को विमुक्तावस्था में ले आना ही वास्तविक ध्यान है। इस विमुक्तावस्था में नवीन का शोध लग सकता है। नवीन को ग्रहण करने की तरल संवेदनक्षमता मुक्तावस्था में ही सम्भव है। मुक्त हुए बिना परमानन्द सम्भव ही नहीं। लेकिन साधना अथवा अनुशासन की सहायता से मुक्ति कभी अस्तित्व में नहीं आती। अनुशासन विमुक्तता का एक ढाँचा खड़ा कर सकता है। लेकिन वह मुक्ति नहीं है। मुक्ति के उदय के लिए तो सारे ढाँचों को तोड़ देना होगा। इन साँचों को भंग करते रहना ही ध्यान है। लेकिन ढाँचों का विनाश भी कोई आदर्श अथवा साध्य नहीं है। ये साँचे क्षण-क्षण पर भंग होते जाने चाहिए। भंग होनेवाला क्षण विस्मय क्षण है। स्मृति में रहनेवाला क्षण इस साँचे को आकार देता है। इसी स्मृतिमृत क्षण में वह साँचा उत्पन्न करनेवाला, सब प्रकार की समस्या, संघर्ष और दुःख उत्पन्न करनेवाला अहँ अस्तित्व में आता है।

सब स्तरों पर चलते रहनेवाले अपने विचारों से मन को मुक्त रखना ही ध्यान है। विचार ही विचारक को जन्म देता है। वस्तुतः विचारक विचार से भिन्न नहीं होता। विचार-प्रक्रिया और विचारक की विचार-प्रक्रिया ये दोनों भिन्न प्रक्रियाएँ नहीं हैं। यह एक ही एकात्मक प्रक्रिया है। इन दोनों को भिन्न प्रक्रिया मानने से अज्ञान और भ्रम उत्पन्न होता है। ध्याता ही ध्यान है। इस ध्यानावस्था में मन एकाकी होता है, एकाकी किया नहीं जाता। वह निस्तब्ध होता है, निस्तब्ध किया नहीं

जाता। केवल एकाकी के ही निकट उस कारणातीत का उदय होता है। केवल एकाकी को ही परमानन्द का स्पर्श होता है।

६२. विचार और बोध

सारी वस्तुएँ अपने में सिमट रही थीं। वृक्ष अपने में अवगुण्ठित हो गये थे। दिनभर के अपने परिभ्रमण पर शान्ति से विचार करने के लिए पक्षियों ने अपने पंख अन्दर समेट लिये थे। नदी के प्रवाह का चमचमाता सौंदर्य लुप्त हो गया था। जल-प्रवाह का तरंग-नृत्य शान्त और अवरुद्ध हो गया था। पहाड़ियाँ दूर-दूर होती चली गयीं। मनुष्य भी अपने-अपने घर में आश्रय लेने चले गये थे। रात हो गयी थी और आसपास के जगत् से सब कुछ टूटने के कारण चारों ओर निस्तब्धता व्याप रही थी। परस्पर-संवाद ठिठक गया था। प्रत्येक वस्तु ने मानो अन्य से अपने को तोड़ लिया था। सारे फूल, सारी ध्वनियाँ, सारे शब्द, सब संकुचित हो बैठे थे। प्रत्येक ने अपने को दुर्भेद्य बना डाला था। बीच में कहीं किसीकी हास्य-ध्वनि कानों में पड़ रही थी, लेकिन वह ध्वनि बहुत दूर और टूटी-सी लगती थी। शब्द भीतर ही भीतर ऐसे लग रहे थे, मानो दम घुट रहा हो। केवल आकाश में तारिकाएँ खुला और मुक्त आवाहन कर रही थीं, संवाद कर रही थीं। लेकिन वे भी बहुत दूर थीं।

विचार जीवन की चुनौती को दिया जानेवाला उथला और बहिर्मुखी उत्तर होता है। उसका गहन और गम्भीर होना कभी सम्भव नहीं। विचार सदैव बहिर्मुखी होता है, एक परिणाम होता है और विचार करने का अर्थ है अनेक प्रभावों का समन्वय करना। विभिन्न स्तर का भले ही हो, पर विचार होता है सदा उथला ही। जो गहन-गम्भीर और वस्तुमात्र में अन्तर्भूत हो, उसके अन्तरंग में विचार का प्रवेश कभी सम्भव नहीं है। क्योंकि, विचार अपने से आगे जा ही नहीं सकता। उस पार जाने का उसका हर प्रयत्न निष्फलता में ही परिणत होता है।

" 'विचार' शब्द से आपका क्या तात्पर्य है?"

विचार किसी भी चुनौती को दिया जानेवाला केवल उत्तर होता है। विचार का अर्थ करना नहीं है, कृति नहीं है। विचार एक प्रकार की निष्पत्ति है। वह परिणामों का परिणाम होता है। वह स्मृति का फल होता है। विचार का अर्थ है स्मृति, स्मृति का शब्दबद्ध आलेख। स्मृति का अर्थ है अनुभव। हमारी सारी विचार-प्रक्रिया हमारे बोध की ही प्रक्रिया है। फिर यह प्रक्रिया गुप्त हो या प्रकट, आवरिता हो अथवा खुली हुई। हमारी सम्पूर्ण विचार-प्रक्रिया का अर्थ है हमारा बोध। बोध की जागृतावस्था और निद्रावस्था, उसका उथला और गहरा स्तर—ये सब स्मृति के या अनुभूति के ही

अंग हैं। विचार कभी स्वतन्त्र नहीं होता। स्वतन्त्र रूप से विचार करना कभी सम्भव ही नहीं।'स्वतन्त्र विचार' वदतोव्याघात का ही एक प्रकार है। विचार एक परिणाम है, किसीका विरोध करना, किसीसे सहमत होना, किसीसे तुलना करना अथवा किसीसे मेल बैठाना, किसीको धिक्कारना अथवा किसीका समर्थन करना ही विचार का कार्य है। अतएव वह कभी भी स्वतन्त्र नहीं हो सकता। जो किसी न किसीका परिणाम होता है, वह स्वतन्त्र कैसे रह सकता है? विचार किसी बात का विपर्यास कर सकता है, किसी बात का विभिन्न तरह से मेल बैठा सकता है, किंचित् दूर-दूर अथवा इधर-उधर भटक सकता है, लेकिन वह अपने खूंटे से अलग नहीं हो सकता। क्योंकि, वह स्मृति के खूंटे से बँधा रहता है। इसलिए किसी भी समस्या के पीछे स्थित सत्य को शोध निकालने की स्वतन्त्रता विचार को कभी प्राप्त नहीं हो सकती।

"तब तो आपकी दृष्टि से विचार का कोई मूल्य नहीं?"

विचार का मूल्य इतना ही है कि वह नाना प्रभावों का समन्वय कर सकता है। यथार्थ कृति मूर्तिमंत करने के साधन की दृष्टि से विचार का अपना कोई स्वतन्त्र मूल्य नहीं है। क्योंकि, सहज कृति वस्तुतः क्रान्ति होती है, वह नाना प्रभावों का समन्वय नहीं होती। विचार, कल्पना अथवा निष्ठा से मुक्त कृति किसी विशिष्ट साँचे की नहीं होती। विचार की साँचाबद्ध परिधि में कोई हलचल अथवा क्रिया चालू हो सकती है। यह हलचल या तो हिंसात्मक, रक्तरंजित हो सकती है, अथवा उसके विपरीत हो सकती है। लेकिन वह सहज कृति नहीं होती। किसीके विपरीत कोई कारवाई करने का अर्थ कृति करना नहीं है। वह तो केवल पहले की बात से किया गया थोड़ा-सा संशोधन मात्र होता है, जो लगातार जारी रहता है। किसीके भी विरुद्ध की जानेवाली क्रिया परिणाम के क्षेत्र की ही क्रिया होती है। ऐसा विरोध करते रहने से विचार अपने ही प्रत्युत्तरों के जाल में फँस जाता है। किन्तु सहजकृति कभी भी विचार की परिणति नहीं होती। सहजकृति का विचार से कोई सम्बन्ध नहीं होता। विचार चूँकि परिणाम होता है इसलिए वह नव निर्माण करने में सर्वथा असमर्थ होता है। नवीन तो क्षण-क्षण पर नूतन होता है और विचार तो पुराना, गतकालात्मक और पूर्णसंस्कारबद्ध होता है। विचार का मर्यादित मूल्य अवश्य है, लेकिन उसमें स्वातन्त्र्य नहीं है। मूल्य सीमित होता है, बाध्यकारी होता है। विचार स्नेहशील, संवर्धनशील है, इसी कारण विचार बंधनकारी होता है।

"विचार और बोध में क्या सम्बन्ध है?"

ये दोनों सरीखे, एक ही नहीं हैं क्या? विचार करना और बोध होना, क्या इन दोनों में कोई फर्क है? विचार करना जीवन को चुनौती की दिया जानेवाला उत्तर है और बोध भी वही है। कुर्सी का जब बोध होता है, तब बाह्य उत्तेजना को दिया जानेवाला मेरा उत्तर ही होता है। क्या विचार भी स्मृति के द्वारा चुनौती

को दिया जानेवाला उत्तर ही नहीं होता ? इसी उत्तर को हम अनुभव कहते हैं। साक्षात् अनुभवन का अर्थ है चुनौती और उत्तर की एकात्मता। इस साक्षात् अनुभवन का नाम देना, अथवा उसका आलेखन करना—यह विभिन्न स्तरों पर होती रहनेवाली सम्पूर्ण प्रक्रिया ही ज्ञान अथवा बोधावस्था है। है या नहीं ? अनुभव परिणाम है, वह साक्षात् अनुभवन की निष्पत्ति है। इस परिणाम को एक नाम दिया जाता है। यह नाम भी निष्पत्ति ही है। जिन अनेक निष्पत्तियों और परिणामों से मिलकर स्मृति बनती है, उन्हींमें से यह भी एक निष्पत्ति है। निष्पत्ति की यह प्रक्रिया ही ज्ञान या बोधावस्था है। यह निष्पत्ति, यह परिणाम, यह पर्यवसान ही स्वबोधावस्था या आत्मचेतना है। स्व अथवा अहं ही स्मृति है, वह अनेक निष्पत्तियों का संचय है। विचार ऐसी स्मृति के द्वारा परिस्थिति को अथवा चुनौती को दिया जानेवाला उत्तर है। विचार सदैव किसी न किसीकी निष्पत्ति होता है। विचार करने का अर्थ है किसी न किसी निष्पत्ति तक पहुँचना। इसीलिए विचार कभी स्वतन्त्र अथवा मुक्त नहीं हो सकता।

विचार हमेशा केवल निष्पत्ति ही होता है। वह सदैव ही उथला और ऊपरी होता है। इन उथली निष्पत्तियों का अन्तःकरण पर किया जानेवाला आलेखन ज्ञान अथवा बोधावस्था है। विचार अपने उथलेपन के दो भाग करता है—बाह्य और आन्तरिक। लेकिन इन विभागों के कारण विचार के मूलतः उथलेपन में कोई कमी नहीं आती।

"लेकिन विचार से परे, काल से परे, मन से न बनाया हुआ कुछ भी नहीं है क्या ?"

आप जिस स्थिति के विषय में पूछ रहे हैं, वह स्थिति किसीने आपको बतायी है या इस बारे में आपने कहीं पढ़ा है अथवा ऐसा कुछ अनुभव किया है ? विचार से परे का अनुभवन कभी अनुभव नहीं हो सकता। वह अपरिणामी होता है। वह विचार का विषय नहीं होता और यदि हो भी, तो वह केवल स्मृति होगी, साक्षात् अनुभवन नहीं होगा। आपने जो पढ़ा या सुना हो, उसे आप दोहरा सकते हैं, लेकिन ये शब्द वह वस्तु नहीं है। दूसरी बात यह कि ये शब्द या इन शब्दों का पुनरुच्चार ही साक्षात् अनुभवन में बाधक है। जब तक विचार चलता रहेगा, तब तक यह साक्षात् अनुभवन अस्तित्व में ही नहीं आयेगा। विचार तो परिणाम है, प्रभाव है। वह साक्षात् अनुभवन की स्थिति का आकलन कर नहीं सकता।

"तब विचार का अन्त कैसे होगा ?"

पहले इस तथ्य को समझ लीजिये कि ज्ञात का निष्पत्तिरूप जो विचार है, उसका प्रवेश साक्षात् अनुभवन की स्थिति में नहीं हो सकता। साक्षात् अनुभवन नित्यनूतन होता है और विचार सदैव भूतकाल पर आधृत होता है। इस सत्य को जान लीजिये।

सत्य ही विचार से, परिणाम से मुक्ति दिलायेगा। फिर ज्ञान अथवा बोधावस्था के परे जो है, वही केवल वहाँ होगा। वह निद्रा भी नहीं है और जागृति भी नहीं है, वह नामातीत है। जो है सो वही है।

६३. स्वार्थत्याग

शरीर से वह कुछ मोटा था और वह अपने से बहुत प्रसन्न था। वह कई बार जेल जा चुका था और उसने पुलिस की मार भी खायी थी। आज वह प्रसिद्ध राजनीतिक नेता था और मन्त्रिपद के लिए भी प्रयत्नशील था। वह अनेक सभाओं में उपस्थित रहता था तथा दूसरों की तरह शान्त बैठा रहता था। लेकिन उसकी उपस्थिति की अन्य लोगों को जानकारी रहती थी और वह भी इसे जानता था। जब वह बोलना शुरू करता, तब लगता कि भाषा पर उसका अधिकार है। लोगों की दृष्टि तत्काल उसकी ओर घूम जाती। तुरत वह अपनी आवाज धीमी कर देता ताकि लोग उसकी बात ठीक से समझ लें। वह उन सबके बीच बैठता था सही, पर अपने को वह सबसे निराला और श्रेष्ठ मानता था। वह जानता था कि वह एक मान्य राजनीतिक नेता है, लोग उसे जानते हैं और लोगों की दृष्टि उसकी तरफ है। लेकिन उसके प्रति लोगों का यह आदरभाव एक निश्चित मर्यादा से आगे नहीं बढ़ पाता था। जैसे ही चर्चा शुरू हुई, यह वस्तुस्थिति अधिकाधिक स्पष्ट रूप से सामने आने लगी। एकत्रित समुदाय में कोई सुप्रसिद्ध पुरुष होता है तो वैसा ही वातावरण उत्पन्न हो जाता है। यही यहाँ हुआ। ऐसे वातावरण में विस्मय भी होता है, अपेक्षा भी रहती है। एक प्रकार का पारस्परिक स्नेहभाव रहता है और कुछ संशय भी। कुछ दूरीभाव भी होता है और थोड़ी-बहुत मौज भी।

वह अपने एक मित्र के साथ आया था। मित्र ने उसका परिचय देना शुरू किया कि वह व्यक्ति कितनी बार जेल भुगत आया है, कितनी बार इसने पुलिस के हाथों मार खायी है और देश की आजादी के लिए कितना बड़ा त्याग किया है! वह राजनीतिक व्यक्ति बड़ा धनी था, पाश्चात्य संस्कृति में रमा हुआ था, बड़ी कोठी, बड़े बगीचों और अनेक मोटरों का मालिक था। इस बड़े व्यक्ति के विक्रम का वर्णन करते समय मित्र की आवाज में अधिकाधिक आदर और विस्मय-विमुग्धता का भाव स्पष्ट दिखाई देने लगा। लेकिन इस गौरवपूर्ण वर्णन में भी बीच-बीच में एक निराले ही भाव की छटा दिखाई देती थी कि 'यह व्यक्ति भले ही सर्वगुणसम्पन्न न हो, फिर भी इसने कितना बड़ा त्याग किया है, यह तो देखिये। इतना बड़ा त्याग कोई उपेक्षा की वस्तु नहीं है।' मानो यही वह कहना चाहता था। इसके बाद वह राजनीतिक

व्यक्ति विभिन्न विषयों पर बोलने लगा। वर्तमान परिस्थिति में आवश्यक सुधार, जलविद्युतशक्ति के द्वारा किया जानेवाला विकास, जनता के अभ्युदय के लिए प्रयास, वर्तमान स्थिति में सामने दीखनेवाला साम्यवाद का संकट, बड़ी-बड़ी योजनाएँ और ऊँचे-ऊँचे ध्येय आदि विषयों पर वह बोल रहा था। उसके पूरे भाषण में ऐसा लगा कि वह मनुष्य को भूल गया था और योजना तथा विचारधारा को ही अपार महत्त्व दे रहा था।

कोई प्राप्तव्य साध्य करने के लिए त्याग करने का अर्थ है केवल लेन-देन करना। इस सारे तरीकों में देना बिलकुल नहीं होता, वह केवल वस्तु-विनिमय या व्यवहार होता है। स्वार्थत्याग वस्तुतः अहं-विस्तार ही होता है। स्वार्थत्याग का अर्थ है अपने पर, अहं पर मुलम्मा चढ़ाना। अपने को अदृश्य बना डालने की कितनी ही चतुराई 'स्व' दिखाये, तो भी अन्त में यह स्व, यह अहं संकुचित, क्षुद्र और सीमित ही रहता है। कितना ही बड़ा, विशाल और महत्त्वपूर्ण ध्येयवादी स्वार्थत्याग किया जाय, वह स्व के स्थान पर उस ध्येय की प्रतिष्ठापना करने का दिखावा खड़ा करना ही है। यह प्राप्तव्य अहं का, 'मैं और मेरा' का, ही एक रूप होता है। बुद्धिपूर्वक किया जानेवाला त्याग वस्तुतः अहं का ही विस्तार होता है। यह त्याग भविष्य में कुछ प्राप्त करने के लिए आज कुछ पूँजी लगाने जैसा है। बुद्धिपूर्वक किये जानेवाले त्याग से स्व का ही अस्तित्व स्थापित किया जाता है, विशेषता यही होती है कि वह निवृत्तिशील ढंग से किया जाता है। त्याग करना कुछ प्राप्त करने का एक निराला ढंग है। 'वह' प्राप्त करने के लिए 'यह' त्याग दिया जाता है। त्यागी जानेवाली वस्तु को निचला दर्जा दिया जाता है और प्राप्त की जानेवाली वस्तु को ऊपर का, ऊँचा। लोग उस 'उच्च' श्रेणी की वस्तु को प्राप्त करने के लिए 'निम्न' श्रेणी की वस्तुओं का त्याग करते हैं। इस सारी प्रक्रिया में त्याग नहीं होता। यह केवल अपेक्षाकृत बड़ा समाधान प्राप्त करने की ही प्रक्रिया होती है। इसमें सच्चे त्याग का लेशमात्र नहीं रहता। वस्तुतः स्व-संतोष के लिए सब लोग इसी रीति का सहारा लेते हैं। तब ऐसे इस त्याग-प्रकार को उच्च नैतिकता का आभास पैदा करनेवाला कोई सुन्दर नाम देने की क्या आवश्यकता है? आपने अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा का जो 'त्याग' किया, वह दूसरे प्रकार की प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए ही किया और अब आपको वह राजनीतिक प्रतिष्ठा आगे-पीछे मिल ही रही है। आपके त्याग ने आपको मनचाहा पारितोषिक दिला दिया है। कुछ लोग परलोक में पारितोषिक प्राप्त होने के लिए त्याग करते हैं, कुछ लोग इसी लोक में लाभान्वित होने के लिए त्याग करते हैं।

"लेकिन मुझे तो यह पारितोषिक संयोग से ही मिला है। मैं जब स्वतन्त्रता-आन्दोलन में पहली बार कूदा, तब समझ-बूझकर किसी इनाम की अपेक्षा से नहीं कूदा था।"

किसी लोकप्रिय अथवा लोकप्रियताहीन आन्दोलन में भाग लेना ही क्या उसका पारितोषिक नहीं है ? संभव है कि मनुष्य जान-बूझकर किसी पुरस्कार के लिए ऐसे आन्दोलन में भाग न ले। लेकिन जिस आन्तरिक प्रेरणा से भाग लेने की इच्छा होती है, वे प्रेरणाएँ उलझनभरी, संकुल, मिश्र स्वरूप की होती हैं। उनके स्वरूप का आकलन किये विना, आपने किसी पुरस्कार की अपेक्षा से भाग नहीं लिया था, यह कहना उचित नहीं है। महत्त्व की वात तो यह है कि यह समझ लिया जाय कि त्याग की ओर प्रवृत्त करनेवाली प्रेरणाएँ कौनसी थीं ? हम त्याग क्यों करना चाहते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व हमें यह पता लगाना चाहिए कि जिन वातों का हम त्याग करते हैं, उनके प्रति हममें आसक्ति क्यों होती है ? आसक्ति होती है, इसीलिए उसके त्याग की भाषा हम बोलते रहते हैं। आसक्ति न हो तो त्याग का प्रयास भी नहीं होता। हमारे पास अपनी मालिकी जैसी कोई चीज ही नहीं होगी तो त्याग का प्रश्न ही पैदा नहीं होगा। पहले तो हम किसी पर स्वामित्व प्राप्त करते हैं, फिर अन्य किसी बड़े स्वामित्व के लिए पहले का त्याग करते हैं। अधिकाधिक पाने को यह प्रक्रिया अत्यन्त उदात्त एवं अनुकरणीय समझी जाती है।

"वात तो यही है। मूल में स्वामित्व की भावना न हो तो उसके परित्याग की आवश्यकता ही नहीं रहेगी, यह स्पष्ट है।"

तो, इसका सीधा अर्थ यह है कि स्वार्थत्याग अथवा परित्याग कोई वड़प्पन का लक्षण नहीं है। न वह अनुकरणीय है न प्रशंसनीय। हम जिस किसी पर स्वामित्व प्राप्त करते हैं, वह इसीलिए कि यदि हमारे ऐसा कुछ स्वामित्व न हो तो हमारा अस्तित्व ही नहीं है, ऐसा हमें लगता है। यह स्वामित्व नाना प्रकार का होता है। भले ही किसीके पास कोई लौकिक मिल्कियत न हो, वह ज्ञान-सम्पादन या ध्येय-आदर्श-कल्पना आदि में आसक्त हो सकता है। दूसरा कोई सद्गुण-संवर्धन में, कोई अनुभव-संचय में और कोई नाम, प्रतिष्ठा अथवा कीर्ति आदि में आसक्त हो जाता है। किसी भी प्रकार का स्वामित्व यदि न हो तो अहं अस्तित्व में ही नहीं आयेगा। हमारी मिल्कियत की वस्तुएँ, हमारा फर्नीचर, हमारे सद्गुण अथवा हमारी प्रतिष्ठा, ही वस्तुतः 'हम' या हमारा 'अहं' है। हमारा अस्तित्व ही नहीं रहेगा, इस भय से प्रतिष्ठा, फर्नीचर, मूल्य आदि में हमारा मन आसक्त हो जाता है। और इससे भी ऊँचे स्तर पर जाने के लिए यही मन इन चीजों का त्याग करता है। यह उच्चतर स्तर केवल अधिक संतोषदायक और अधिक स्थायी लगता है। मानव-मन को सतत अस्तित्वहीनतः और अनिश्चितता का भय लगा रहता है। इसीलिए वह लगातार कुछ न कुछ प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है, किसी न किसीमें आसक्त हो जाता है। जब यह पहले की मिल्कियत असंतोषकारी अथवा दुःखद प्रतीत होने लगती है, तव हम उससे अधिक सुखदायी वस्तुओं की आसक्ति के लिए

उसका त्याग करते रहते हैं। मनुष्य को सबसे अधिक संतोषदायक यदि कोई वस्तु लगती है तो वह है ईश्वर नामक वस्तु; अथवा उसका राज्य जैसा कोई अन्य विकल्प।

"लेकिन मनुष्य का यह भय क्या नैसर्गिक ही नहीं है कि वह अस्तित्व-शून्य अथवा अर्थ-शून्य हो जायगा? 'हम कोई नहीं हैं, कुछ भी नहीं'—इसीमें मनुष्य को आनन्द प्रतीत होना चाहिए, शायद यही आप कहना चाहते हैं।"

देखिये, आप जब तक कुछ विशिष्ट होने का प्रयत्न करते रहेंगे, जब तक आप किसीकी भी पकड़ में बने रहेंगे, तब तक संघर्ष, उलझन और सतत वर्द्धमान दुःख का निर्माण होता ही रहेगा। आप ऐसा सोच सकते हैं कि हम अपनी सफलता के कारण उत्तरोत्तर बढ़ती हुई विघटित जीवन-पद्धति में नहीं फँसेंगे, लेकिन आप अपने को दूर नहीं रख सकेंगे। क्योंकि, आप स्वयं इस विघटन के एक अंग बन जाते हैं। आपकी सारी हलचल, आपके सारे विचार, आपके जीवन की सम्पूर्ण रचना ही मूलतः संघर्ष और उलझन पर आधृत है, अर्थात् विघटन की प्रक्रिया पर आधृत है। वस्तुतः हम कुछ भी नहीं हैं, कोई भी नहीं हैं। इस वस्तुस्थिति को स्वीकार करने के लिए जब तक हम तैयार नहीं होंगे, तब तक दुःखों और विरोधों को ही जन्म देते रहेंगे। हम कुछ नहीं हैं, इसे मान्य करना कोई त्याग करने की बात नहीं है, अपने पर भीतरी या बाहरी जबरदस्ती करने की भी यह बात नहीं है, बल्कि प्रत्यक्ष वस्तुस्थिति क्या है इसका यथार्थ दर्शन करने की ही बात है।. वस्तुस्थिति में अन्तर्भूत सत्य का आकलन होते ही अनिश्चितता के भय से मनुष्य को छुटकारा मिल जाता है। इस भय के चलते ही मनुष्य को किसी भी वस्तु की आसक्ति होती है। फिर यह भय ही मनुष्य को खींचकर निरासक्ति और त्याग की दिशा में ले जाता है, लेकिन वह वस्तुतः भ्रमात्मक होता है। जो वास्तविक सत्य है, उसके प्रति प्रेम होना ही ज्ञान का प्रारम्भ होना है। हमारे पास जो है, उसमें दूसरों को भागीदार बनाने का काम केवल प्रेम ही कर सकता है। केवल प्रेम ही दूसरों से सुसंवाद साध सकता है। त्याग या आत्मबलिदान जिसे कहा जाता है, वह वस्तुतः भ्रम का ही मार्ग है और अपने को दूसरों से पृथक् कर लेने का ही मार्ग है।

६४. ज्योति और धुआँ

दिनभर खूब गर्मी रही। घर से निकलना मुसीबत का सामना करना था। इस गर्मी से सड़क और पानी की चमक आसपास के घरों की सफेदी से मिलकर और भी

झलमला रही थी तथा ताप दे रही थी। पहले की हरी-भरी जमीन गर्मी से झुलस गयी थी। सूर्य के तेज से उसका सुनहरापन खूब चमचमा रहा था। वर्षा आरम्भ होने में अभी कई महीनों की देर थी। वह छोटा-सा सोता सूख गया था। उसके घुमावदार जलप्रवाह के स्थान पर अब बालू की पट्टी दिखाई पड़ रही थी। वृक्षों की छाया में अनेक पशु खड़े थे। उनका चरवाहा दूर बैठकर पत्थर फेंक रहा था। उसका गाँव दूर था औय वह यहाँ अकेला था। अपने अकेलेपन में वह गीत गुनगुनाकर जी बहला रहा था। यों वह बड़ा दुबला-पतला था, शायद आधे पेट ही रहता था। फिर भी वह खुश था और उसके गीत में उदासी की कोई झलक नहीं थी।

वह घर टेकड़ी के उस पार था। सूर्यास्त के समय हम वहाँ पहुँचे। घर की छत से समुद्र-किनारे के पीले-पीले बालू के मैदान तक ताड़ के ऊँचे-ऊँचे पेड़ों के हरे-हरे सिरों की पाँत फैली दीखती थी। ताड़ के पेड़ों के हरे रंग में सुनहरी झलक थी। इस कारण या कौन जाने, उनकी छाया पीली-पीली दीख रही थी। उनसे लगे हुए उस पीले-पीले बालू के मैदान के उस पार हरी राख के रंग का सागर फैला हुआ था, जो सफेद-शुभ्र लहरों को ठेलता हुआ गरज रहा था। लेकिन आगे का गहन समुद्र-प्रवाह शान्त, निस्तब्ध था। उधर दूर, पश्चिम में सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा था, इधर पूर्व में समुद्र पर बादल रंग-बिरंगा रूप ले रहे थे। सांध्य-तारा अभी-अभी निकला था। ठंडी हवा अब चलने लगी थी। लेकिन छत अभी भी गरम थी। कुछ थोड़े से लोग वहाँ जमा थे। उन्हें आये कुछ देर अवश्य हुई होगी।

वह कह रही थी : "मैं विवाहित हूँ और मेरे कई बच्चे भी हैं। लेकिन प्रेम की भावना मैंने कभी महसूस नहीं की। अब मुझे शंका होने लगी है कि क्या प्रेम-भावना का कोई अस्तित्व भी है! हम नाना प्रकार की संवेदनाओं को समझते हैं, विविध वासनाओं और लालसाओं को जानते हैं, तरह-त'ह के उद्दीपनों से और मन को संतोष देनेवाले सुखों से भी हम परिचित हैं। लेकिन ऐसा नहीं लगता कि हम प्रेम-भावना को समझते हैं। 'हम प्रेम करते हैं' ऐसी भाषा का हम उपयोग तो अक्सर करते हैं, पर शायद हम सदैव अपने भीतर कुछ चीज रखते हैं। ऊपर-ऊपर से शारीरिक दृष्टि से हम भले ही आत्मसमर्पण कर दें और हाथ में कुछ न रखें, आरम्भ में स्वतः का सम्पूर्ण दान भी कर दें, फिर भी हम कुछ न कुछ हाथ में रख ही लेते हैं। हमारी ओर से क्रिया जानेवाला दान केवल इंद्रिय-संवेदनाओं के द्वारा होनेवाला दान है। पर दान देनेवाला दाता तो अभी सो ही रहा है। वह कहीं दूर है, बहुत दूर। हम परस्पर मिलते हैं, एक-दूसरे का आलिंगन करते हैं, पर इस मिलन में चारो ओर धुआँ ही हमें लपेटे रहता है, ज्योति का कहीं पता नहीं रहता। सोचने की बात है कि यह हमारे हृदय में क्यों नहीं जगमगाती? अथवा यह ज्योति धूमरहित क्यों नहीं होती? हम बहुत चतुर, बहुत चालाक हो गये हैं। शायद इसीलिए वह सुगन्धि हमें

प्राप्त नहीं होती, ऐसा मुझे लगता है। बहुत अध्ययन के कारण, अत्यधिक आधुनिक हो जाने के कारण शायद मैं बुरी तरह उथली-सी हो गयी हूँ। यों मैं बड़ी होशियारी से बात करती हूँ पर भीतर से अब मुझे ऐसा लगने लगा है कि मैं महामूर्खा हूँ।,'

लेकिन क्या यह प्रश्न बुद्धिहीनता का है? प्रेम क्या कोई दुष्प्राप्य आदर्श है? क्या वह ऐसा साध्य है कि सारी शर्तें पूरी करने पर ही प्राप्त होता है? इन शर्तों को पूरा करने का समय भी मनुष्य के पास है क्या? हम हमेशा सौन्दर्य का नाम लेते रहते हैं। लेखन से, चित्रकारी से, नृत्य से और प्रवचनों से उसे व्यक्त करते रहते हैं। लेकिन स्वयं हममें वह सौन्दर्य नहीं होता। उसी तरह प्रेम भी हमारी समझ में नहीं आता। हम केवल इन शब्दों को जानते हैं।

ग्रहणसुलभ होना खुले होना, संवेदनशील होना है। जो ग्रहणसुलभ होता है, वह अरक्षित होता है। आगामी कल से, भविष्य से वह पूर्ण मुक्त होता है। जो खुला होता है, वह अज्ञात होता है, अव्यक्त और सुन्दर होता है। जो संकुचित और परिवेष्ठित होता है वह बुद्धिहीन और संवेदनशून्य होता है। चातुरी की भाँति बुद्धिहीनता भी स्व-रक्षण का एक प्रकार है। हम एक ओर का दरवाजा खोलते हैं और दूसरी ओर का बन्द कर लेते हैं। क्योंकि, हम खुली हवा एक विशेष दरवाजे से ही चाहते हैं। न तो हम कभी कमरे के बाहर जाते हैं और न हम सारे दरवाजे और खिड़कियाँ एक साथ खोलते हैं। संवेदनशीलता कालांतर से प्राप्त की जानेवाली वस्तु नहीं है। बुद्धिहीन कभी संवेदनशील नहीं बन सकता। बुद्धिहीन सदैव बुद्धिहीन ही रहता है। मूर्खता का रूपान्तर बुद्धिमत्ता से कभी नहीं होता। बुद्धिमान् बनने का प्रयत्न करना मूर्खता का ही लक्षण है। यही हमारी कठिनाई है। है न? हम सतत कुछ विशिष्ट होने का प्रयत्न करते रहते हैं और हमारी मूर्खता चालू रहती है।

"तब हम करें भी तो क्या?"

कुछ मत कोजिये। आप जैसी हैं, वैसी ही रहिये। संवेदनशून्य हैं तो वैसी ही रहिये। कुछ भी विशेष रूप से करने का अर्थ है—जो है उसकी ओर दुर्लक्ष्य करना और ऐसी दुर्लक्ष्यता तो बुद्धिहीनता की चरमसीमा ही है। बुद्धिहीनता से कुछ भी करने के प्रयत्न में बुद्धिहीनता ही रहती है। जो संवेदन-शून्य होता है, उसका संवेदनशील बनना सम्भव ही नहीं है। आपके वास्तविक स्वरूप को ध्यान में लाना ही उसके हाथ में है। इस तरह वह संवेदनशून्यता अपनी कथा स्वयं ही कहने लगती है और अपना स्वरूप उघाड़कर दर्शाती है। अपनी इस संवेदनशून्यता में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न न करें। क्योंकि, हस्तक्षेप करनेवाला जो है, वही स्वयं संवेदनशून्य और बुद्धिशून्य है। आप कुछ न करें। केवल शान्तिपूर्वक सुनती रहें। वही आपको अपनी कहानी सुनायेगी। जो कुछ आप सुनती रहें, उसका कोई अर्थ लगाने का भी प्रयत्न न करें, उस विषय में कोई कृति न करें। किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप न

करते हुए और भाष्य न करते हुए अन्त तक यह कहानी शान्तिपूर्वक सुनती रहें। इसके बाद ही आपकी ओर से सच्ची सहजकृति होगी। कृति क्या होती है, यह महत्त्व की बात नहीं है। महत्त्व की बात है—उस कहानी को शान्तिपूर्वक सुनना।

दान करने के लिए दाता होना चाहिए अक्षय, अनन्त। हाथ रोककर जब दिया जाता है, तब वहाँ समाप्ति का भय रहता है इसलिए हाथ रुक जाता है। लेकिन जहाँ समाप्ति है, वहीं अक्षय उदित होता है। देते रहने का अर्थ समाप्ति नहीं है। अपने पास बहुत होने पर भी दिया जाता है, अल्प होने पर भी दिया जाता है। लेकिन जहाँ अधिक और कम होता है, वहाँ लेन-देन का भाव रहता है, वहाँ मर्यादितपन ही रहता है। यह मर्यादितपन, यह संकुचितता ही वह 'धुआँ' है। यह धुआँ मत्सर, क्रोध, निराशा आदि के रूप में प्रकट होनेवाली मनुष्य की अभिलाषा ही है। धुआँ ही काल का भय, स्मृति या अनुभूति है। ऐसी स्थितियों में कुछ भी नहीं दिया जाता। दिया जाने जैसा जो लगता है, वह केवल धुएँ का विस्तार है, यहाँ हाथ का रुक जाना अपरिहार्य है। क्योंकि यहाँ देने जैसा कुछ होता ही नहीं। दूसरे को सहभागी बनाना भी देना नहीं है। सहभागी बनाना और देना परस्पर सुसंवाद को समाप्त करना है। यह सब धुआँ ही है। धुएँ का अर्थ ज्योति नहीं है, लेकिन हम धुएँ को ही ज्योति समझ बैठते हैं। यहाँ जो है वह धुआँ है, इतना बोध बना रहने दीजिये। ज्योति का दर्शन पाने के लिए धुएँ को फूँकने का प्रयत्न न कीजिये।

"इस ज्योति का प्राप्त होना सम्भव है न? अथवा वह थोड़े से भाग्यवानों को ही प्राप्त होती है?"

ज्योति थोड़ों के लिए है या बहुतों के लिए, यह मुद्दा ही नहीं है। है या नहीं? यदि हम इस मुद्दे में उलझ जायेंगे, तो अज्ञान और भ्रम के अतिरिक्त उसमें से अन्य कुछ निकलेगा नहीं। हमें केवल ज्योति से ही मतलब है। वह ज्योति, वह धूम्ररहित ज्योति आपको मिल सकती है क्या?—यह खोजिये। निस्तब्धतापूर्वक और सहनशील रहकर धुएँ का निरीक्षण करती रहिये। आप उस धुएँ को मिटा नहीं सकेंगी, क्योंकि आप स्वयं वह धुआँ हैं। जैसे-जैसे यह धुआँ मन्द होगा, वैसे-वैसे ज्योति दिखाई देने लगेगी। यह ज्योति अक्षय है, अव्यय है। हर बात का आदि और अन्त है। हर चीज शीघ्र ही समाप्त हो जाती है, घिस जाती है। हृदय को घेरनेवाली सारी मनोनिर्मित बातें जब पूरी तरह नष्ट होकर हृदय रीता हो जाता है, मन का एक-एक विचार जब पूरी तरह नष्ट हो जाता है, तभी प्रेम का उदय होता है। जो रिक्त होता है, वही वस्तुतः अक्षय और अनन्त होता है।

संघर्ष ज्योति और धुएँ के बीच नहीं होता, बल्कि धुएँ के क्षेत्र में जो आदान-प्रदान या आह्वान,प्रत्युत्तर चलते हैं, उन्हींमें यह संघर्ष चलता रहता है। ज्योति

और धुएँ में परस्पर संघर्ष कभी सम्भव ही नहीं। परस्पर संघर्ष के लिए पारस्परिक सम्बन्ध का होना आवश्यक है। लेकिन ज्योति और धुएँ में किसी प्रकार का सम्बन्ध सम्भव भी है क्या? जहाँ एक रहता है, वहाँ दूसरा रह नहीं सकता। जब धुएँ का अन्त होता है, तभी ज्योति का उदय होता है।

६५. मन की व्याप्ति

वह एक सँकरी सड़क थी, जिस पर लोगों की काफी भीड़ थी। लेकिन बहुत अधिक आवागमन नहीं था। हाँ, किसी बस या मोटर के आते ही लोगों को एकदम किनारे से सटकर नाली में ही जाना पड़ता था। उस रास्ते पर कुछ छोटी-छोटी दूकानें और एक खुला मन्दिर था। मन्दिर इतना स्वच्छ था कि आश्चर्य होता था। उसमें कुछ थोड़े से स्थानीय लोग बैठे थे। पास की एक दूकान में बारह-चौदह साल का एक लड़का जमीन पर बैठकर मालाएँ और गुच्छे तैयार कर रहा था। माला का धागा उसने पानी से भरे एक घड़े में डाल रखा था। उसके सामने गीले कपड़े पर चमेली, गुलाब और गेंदे के फूलों के छोटे-छोटे ढेर रखे थे। वह एक हाथ में धागा रखकर दूसरे हाथ से अलग-अलग फूल उठाता था और धागे को कुशलता से एक हलका-सा झटका देकर उन फूलों को बाँधकर गुच्छा तैयार करता था। हाथ से चल रहे काम की ओर ध्यान देने की उसे कोई आवश्यकता नहीं थी। बीच-बीच में वह सामने के पथिकों को देख लेता था और कोई पहचानवाला दीखने पर मुस्करा देता था। बार-बार वह अपने काम की ओर ध्यान देता था और बार-बार उसकी नजर कहीं भटक जाती थी। कुछ देर बाद एक दूसरा लड़का उसके निकट आकर बैठ गया। दोनों हँसते-हँसते गपशप करने लगे। लेकिन उसका काम बराबर जारी था। इतनी देर में उसने बहुत से हार और गुच्छे तैयार कर लिये थे। लेकिन उसके ग्राहकों के आने में अभी देर थी। लड़के ने काम बन्द कर दिया और कहीं निकल गया। लेकिन जल्दी ही एक छोटे-से लड़के को लेकर वापस लौट आया। शायद वह उसका भाई था। आते ही उस लड़के ने अपनी पसन्द का काम हाथ में ले लिया और उसे वह सहजता और कुशलता से जल्दी-जल्दी करने लगा। अब हार और गुच्छे खरीदने के लिए ग्राहक अकेले-दुकेले अथवा भीड़ के रूप में आने लगे। वे प्रायः उसके हमेशा के ग्राहक थे। क्योंकि, उनके चेहरों पर परिचय की मुस्कान थी और बीच-बीच में वे दो-एक बातें भी कर लेते थे। लगभग घण्टेभर तक वह लड़का अपनी जगह से बिलकुल नहीं हिला। तरह-तरह के फूलों की महक व्याप्त थी। हम एक-दूसरे की ओर देखकर मुस्करा दिये।

उस सड़क से एक छोटी-सी गली गयी थी। उस गली के सिरे पर एक घर था।

हम भूतकाल से कितने बद्ध हो बैठते हैं! लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि हम भूतकाल से बद्ध न होकर, स्वयं ही भूतकाल बन जाते हैं। यह भूतकाल कितना उलझनभरा, संकुल होता है। इस भूतकाल में सुखद और दुःखद, दोनों प्रकार की अनेक अपक्व स्मृतियाँ स्तर-स्तर पर जमी रहती हैं। यह भूतकाल रात-दिन हमारे पीछे हाथ धोकर पड़ा रहता है। इस गतकाल के भंग होने के मौके बहुत कम आते हैं। तब कहीं क्षणभर के लिए स्पष्ट प्रकाश का दर्शन होता है। भूतकाल एक छाया की तरह है। उसमें सारी चीजें भद्दी और क्लान्तिकर दीखती हैं। भूतकाल की इस छाया में वर्तमान की ताजगी और स्पष्टता भी जाती रहती है। भविष्य में भी इस घनी छाया का सातत्य कायम रहता है। भूत, वर्तमान और भविष्य ये तीनों काल स्मृति के लम्बे धागे से एक साथ बँधे रहते हैं। गतानुभवों का यह संचय ही स्मृति है। इस संचय की सुगंधि करीब-करीब उड़ जाती है। विचारों का संचरण वर्तमान से होकर भविष्य की ओर और भविष्य से पुनः वर्तमान की ओर बराबर होता रहता है। खूँटे से मजबूती से बँधे हुए किसी चंचल, अस्वस्थ जानवर की तरह विचार भी अपने छोटे या बड़े घेरे में बराबर घूमता रहता है, लेकिन अपनी छाया से उसे कभी मुक्ति नहीं मिलती। विचारों का यह संचरण ही भूत, वर्तमान और भविष्य से मन की व्याप्ति है। मन स्वयं ही व्याप्ति है। मन यदि किसी से व्याप्त न हो तो उसका अस्तित्व ही नष्ट हो जाय। व्याप्ति ही उसका अस्तित्व है, जीवंतता है। मन अपमान से व्याप्त हुआ हो या स्तुति से, ईश्वर से हुआ हो या मद्य से, सद्गुण से हुआ हो या वासना से, कार्य से हुआ हो या आविष्कार से, संग्रह से हुआ हो या विसर्जन से—वह किसीसे भी व्याप्त हुआ हो, यह व्याप्ति एक ही जाति की होती है। सब व्याप्ति ही तो है, फिर वह चिन्तायुक्त व्याप्ति हो अथवा अस्वस्थतामूलक। मन ईश्वर के विचार से व्याप्त हो या फर्नीचर के विचार से, मन की व्याप्ति क्षुद्र और उथली ही होती है।

मन किसीसे भी व्याप्त हो, उसके व्याप्त रहने पर ऐसा लगने लगता है कि कुछ कार्य चल रहा है और हम जीवित हैं। यहि कारण है कि मन सतत कुछ-न-कुछ जमा करता रहता है, अथवा कुछ छोड़ता रहता है। किसीसे भी अपने को व्याप्त रखकर वह अपना सातत्य जारी रखता है। मन को हमेशा किसी न किसीसे अपने को व्याप्त रखना ही पड़ता है। इस बात का विशेष महत्त्व नहीं है कि मन अपने को किस बात से व्याप्त रखता है। किसी न किसीसे सतत व्याप्त रहना ही मन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। वह उत्तम बातों से व्याप्त रहेगा तो सामाजिक दृष्टि से उसे अधिक महत्त्व प्राप्त होगा। व्याप्त रहना मन का स्वभाव है। इसीमें उसके व्यापारों का मूल है। ईश्वर की कल्पना से व्याप्त रहना हो अथवा राज्यशासन या ज्ञान के विचार से व्याप्त रहना हो—ये सभी व्यापार क्षुद्रता के ही निदर्शक हैं। किसीसे भी अपने को व्याप्त रखने

का अर्थ है अपने को मर्यादित और संकुचित कर डालना। मन के द्वारा निर्मित देव हमेशा क्षुद्र ही होते हैं, फिर मन उन्हें कितना ही उच्च स्थान क्यों न प्रदान करे। मन व्याप्न न हो तो उसका अस्तित्व ही नहीं रहता। अपना अस्तित्व नष्ट होने के भय के कारण मन अविश्रांत रूप से क्रियाशील रहता है। ऐसी अविश्रांत क्रियाशीलता जीवन का, चैतन्य का आभास पैदा करती है। लेकिन वह वस्तुतः जीवन नहीं होती। वह सजीवता नहीं होती। वह मन को सदैव मृत्यु की ओर ही खींचती है। मृत्यु भी तो उस अविश्रांत क्रियाशीलता का ही एक निराला प्रकार है।

स्वप्न भी मन की व्याप्ति का ही एक प्रकार है। वह मन की व्याकुलता या व्यग्रता का ही एक लक्षण है। स्वप्नावस्था मन की सबोध स्थिति का ही चालू स्वरूप है। जागृतकाल में जो क्रियाशीलता नहीं होता, उसीका वह विस्तार होता है। मन के ऊपरी स्तर की क्रियाशीलता हो या गहरे स्तर की, दोनों ही व्यप्ति के स्वरूप हैं। ऐसा मन किसी बात के अन्त की कल्पना भी कर ले, तो भी यह अन्त दूसरी किसी व्याप्ति का ही आरम्भ होता है। किसी भी बात का स्थायी अन्त मन की जानकारी की कोटि में नहीं आ सकता। उसे केवल किसीका परिणाम ही समझ में आ सकता हैं। एक परिणाम में से अनेक परिणामों की परम्परा ही उद्भूत होती रहती है। किसी भी परिणाम का अथवा पर्यवसान का शोध सातत्य का ही शोध है। मन का, उसकी व्याप्ति का कोई अंत नहीं है। किन्तु जिसका अन्त है, उसीको नया जन्म प्राप्त होता है। मरनेवाले को ही नया जीवन मिल सकता है। मन की, मन की व्याप्ति की मृत्यु ही निस्तब्धता का, सम्पूर्ण निस्तब्धता का प्रारम्भ है। इस अनिर्वचनीय और अकल्पनीय निस्तब्धता और मन के व्यापार के बीच कोई सम्बन्ध नहीं होता। किन्हीं भी दो में सम्बन्ध स्थापित होने के लिए उनका सम्पर्क आवश्यक है, सुसंवाद आवश्यक है। किन्तु निस्तब्धता और मन में कोई सम्पर्क नहीं होता। मन कभी निस्तब्धता से सुसंवाद नहीं साध सकता। मन अपनी स्व-विक्षेपित स्थिति से ही सुसंवाद साध सकता है। मन स्व-विक्षेपित निस्तब्धता को निस्तब्धता का नाम दे सकता है। लेकिन यह मनोनिर्मित निस्तब्धता यथार्थ नहीं होती। वह मन की व्याप्ति का ही एक प्रकार होती है। व्याप्ति निस्तब्धता नहीं है। स्वनिर्मित निस्तब्धता की व्याप्ति का जब अन्त आ जाता है, तभी सच्ची निस्तब्धता का उदय होता है।

निस्तब्धता स्वप्न के परे होती है। वह गहरे मन की व्याप्ति के भी परे होती है। गहरा मन एक अवशेष है। वह भूतकाल का व्यक्त या गुप्त अवशेष है। इस अवशेपरूप भूतकाल को निस्तब्धता का अनुभव होना कभी सम्भव नहीं। इस निस्तब्धता का वह सपना देख सकता है। मन अनेक बार ऐसा करता है। लेकिन स्वप्न वास्तविकता नहीं है। अनेक बार स्वप्न को ही वास्तविक मान लिया जाता है। लेकिन स्वप्न और स्वप्न देखनेवाला, दोनों मन की व्याप्ति की ही उपज हैं।

मन एकात्मक और सम्पूर्ण प्रक्रिया है। उसका कभी विभाग नहीं हो सकता। मनो-व्यापारों की इस सम्पूर्ण प्रक्रिया का उस सच्ची निस्तब्धता से, उस अक्षय अनन्त निस्तब्धता से कभी सुसंवाद सध नहीं सकता।

६६. विचार का विराम

वह प्राचीन साहित्य का पारंगत विद्वान् था। प्राचीन ग्रंथों के वचन उद्धृत कर अपने प्रत्येक निष्कर्ष पर कलश चढ़ाने की उसकी आदत थी। ग्रंथगत विचारों से भिन्न, स्वतन्त्र कोई विचार उसके पास था भी या नहीं, इसमें सन्देह था। वस्तुतः विचार 'स्वतन्त्र' हो ही नहीं सकता। प्रत्येक विचार किसी न किसी पर आधृत होता है, पूर्वसंस्कारबद्ध होता है। नाना प्रभावों का शब्दांकन ही विचार है। विचार करने का अर्थ है किसी न किसी पर अवलम्बित रहना। विचार कभी स्वतन्त्र नहीं हो सकता। उस व्यक्ति के लिए केवल पाण्डित्य का ही महत्त्व था। ज्ञान का भार वह लादे हुए था और अपने इस ज्ञान-संभार को वह बड़े गौरव से ढोता था। उसने एक-दम संस्कृत में ही बोलना शुरू किया। लेकिन यह देववाणी कोई समझ ही नहीं पा रहा है, यह पता चलने पर वह चकित हो गया, उसे विस्मय का धक्का लगा। उसे इस बात पर विश्वास ही नहीं हो रहा था। वह कहने लगा : "आप आपने सभा-प्रवचनों में जो कुछ कहते है, उस पर से ऐसा दीखता है कि या तो आपने मूल संस्कृत ग्रंथ पढ़े हैं अथवा महान् ऋषियों के ग्रन्थों के अंग्रेजी अनुवादों का अध्ययन किया है।" जब उसे यह पता चला कि धार्मिक तत्त्वज्ञानविषयक अथवा मानसशास्त्रीय किसी भी ग्रन्थ का अध्ययन यहाँ नहीं किया गया है, तब तो वह अपना अविश्वास खुले रूप में व्यक्त करने लगा।

हम मुद्रित शब्दों को और तथाकथित पवित्र ग्रन्थों को कितना अधिक महत्त्व देते हैं! सामान्य जन हों या पण्डित, सभी लोग ग्रामोफोन के तवे जैसे ही हैं। ये सब लोग एक ही बात को दोहराते रहते हैं, फिर वे तवे कितनी ही बार बदले जायँ। पण्डितों को केवल ज्ञान-सम्पादन से मतलब रहता है, साक्षात् अनुभवन से नहीं। ज्ञान साक्षात् अनुभवन में बाधक ही बनता है। लेकिन ज्ञान-भण्डार कुल मिलाकर बड़ा सुरक्षित आश्रय-स्थल होता है, वह थोड़े लोगों का ही विचरण-स्थल होता है। चूंकि विद्वानों का अज्ञानी जनों पर सदैव ही प्रभाव पड़ता है, अतएव विद्वानों को लोगों से आदर और सम्मान मिलता है। वस्तुतः ज्ञान-सम्पादन मदिरा जैसा ही व्यसन है। पठित ज्ञान से सम्यक्ज्ञान अथवा सत्यदर्शन प्राप्त नहीं होता। ज्ञान सिखाया जा सकता है, लेकिन सिखाने से सम्यक्ज्ञान अथवा प्रज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती। प्रज्ञा के

उदय के लिए ज्ञान से सम्पूर्ण मुक्ति आवश्यक है। प्रज्ञा प्राप्त करने के लिए ज्ञान का सिक्का नहीं चलता। लेकिन जो व्यक्ति एक बार ज्ञान के आश्रय-स्थल से चिपक जाता है, वह उसकी परिधि से बाहर निकलने का साहस ही नहीं करता। क्योंकि शब्द उसके विचार को सदैव पोसते रहते हैं और विचार करते रहने में इन विद्वानों को संतोष मिलता रहता है। पर विचार करना साक्षात् अनुभवन के लिए प्रतिवन्धक ही सिद्ध होता है। साक्षात् अनुभवन के विना प्रज्ञा का उदय नहीं होता। ज्ञान, कल्पना, निष्ठा आदि बातें प्रज्ञा के मार्ग के लिए प्रतिबन्धक हैं।

व्याप्त मन मुक्त नहीं होता। उसमें स्वयंस्फूर्ति नहीं होती। विमुक्त और स्वयं-स्फुर्त स्थिति में ही नवीन का शोध लगता है। व्याप्त मन अपने को परिवेष्टित करता है, प्रकाश का प्रवेश उसमें होना कठिन है, वह दुर्भेद्य हो जाता है। इसीमें उसकी सुरक्षितता और प्रतिष्ठा संचित रहती है। विचार की रचना ही ऐसी होती है कि उसके कारण मनुष्य अपनी ही नाकेबन्दी कर डालता है। वह सहजभेद्य हो ही नहीं सकता। विचार कभी सहजस्फूर्त नहीं होता। इसी तरह वह विमुक्त और स्वतन्त्र भी नहीं होता। क्योंकि विचार भूतकाल का सातत्य चलाता रहता है। और यह तो है ही कि जो सातत्यवान् है, वह स्वतन्त्र और मुक्त हो ही नहीं सकता। सातत्य भंग होने पर उसका अन्त होने पर ही मुक्ति का उदय होता है।

व्याप्त मन चालू व्यापार को अर्थात् सातत्य को ही पैदा करता है। वह जैसे बैलगाड़ी का निर्माण करेगा, वैसे ही जेट विमान का भी निर्माण कर सकेगा। हम बुद्धिहीन हैं, ऐसा हम विचार से मान लेते हैं, तो सचमुच हम बुद्धिहीन वन जाते हैं। हम ईश्वर हैं, ऐसी हम कल्पना कर लेते हैं तो हम अपनी कल्पना की साकार मूर्ति बन जाते हैं। 'अहं ब्रह्मास्मि।'

'लेकिन लौकिक विचारों से मन को व्याप्त होने देने की अपेक्षा ईश्वर के विचारों से उसे व्याप्त होने देना क्या अधिक श्रेयस्कर नहीं है?' उसने पूछा।

हम जैसा विचार करते हैं, वैसे वन जाते हैं। लेकिन हम किसका विचार करते हैं, इस बात का कोई महत्त्व नहीं है, वास्तविक महत्त्व तो अपनी विचार-प्रक्रिया के आकलन का है। हम ईश्वर का विचार करते हैं अथवा मदिरा का, इस बात का कोई महत्त्व नहीं है। इन दोनों विचारों का अपना-अपना विशिष्ट परिणाम निकलता ही है। लेकिन इन दोनों प्रकारों द्वारा विचार स्वयं ही विक्षेपित की हुई कल्पना से व्याप्त हो जाता है। सारी कल्पनाएँ, सारे ध्येय, सारे साध्य विचार के ही विक्षेप और विस्तार हैं। स्वयंनिर्मित विक्षेपों से, फिर वे किसी भी स्तर के हों, मन को व्याप्त कर लेने का अर्थ है अहं की पूजा करना। अहं अथवा 'आत्मा' विचार का ही विक्षेप है। जिस बात से विचार व्याप्त हुआ होगा, वही मनुष्य का स्वरूप

होता है। और उसका यह जो स्वरूप है, वह भी विचार-विकल्पन के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। इसलिए विचार की प्रक्रिया का आकलन करना ही महत्त्व की बात है।

विचार जीवन की चुनौती को दिया जानेवाला उत्तर है। है या नहीं? चुनौती नहीं होगी, तो विचार ही उद्भूत नहीं होगा। यह चुनौती और उत्तर की प्रक्रिया ही अनुभव है। अनुभवों का शब्दांकन ही विचार है। अनुभव केवल भूत का ही नहीं होता, बल्कि भूत का वर्तमान से संयोग होने के कारण भी अनुभव आकार धारण करता है। अनुभव सबोध स्वरूप की भाँति अबोध स्वरूप का भी होता है। अनुभवों का अवशेष है स्मृति यानी संस्कार-प्रभाव। इस स्मृति के द्वारा, इस भूतानुभव के द्वारा दिया जानेवाला उत्तर ही विचार है।

"पर क्या विचार का इतना ही अर्थ है? स्मृति के द्वारा दिया जानेवाला उत्तर ही विचार का स्वरूप है? इससे अधिक गहरे स्तर पर क्या विचार नहीं होता?"

विचार अपने को विभिन्न स्तरों पर प्रस्थापित करता रहता है—कभी बुद्धिहीन और उथले स्तर पर तो कभी सुबुद्ध, गहरे स्तर पर, कभी उदात्त स्तर पर तो कभी निकृष्ट स्तर पर। किसी भी स्तर पर हो, आखिर वह रहता विचार ही है। है या नहीं? विचार द्वारा निर्मित ईश्वर मन और कल्पना द्वारा ही निर्मित ईश्वर होता है। वह केवल शब्दरूप ईश्वर है। ईश्वर का विचार ईश्वर नहीं है, वह केवल पूर्वस्मृति द्वारा दिया गया उत्तर है। स्मृति दीर्घकाल तक टिकनेवाली होती है, इसलिए ऐसा भ्रम होता है कि वह गहरी है। लेकिन स्मृति की रचना ही ऐसी होती है कि वह गहरी हो ही नहीं सकती। स्मृति को छिपाकर रखा जा सकता है, वह एकदम दिखाई भी नहीं देगी। लेकिन इस कारण वह गहन नहीं हो जाती। विचार सदैव विचार ही रहता है। उसे सत्य की गहनता का स्पर्श तक नहीं हो सकता। विचार अपने को विशेष मूल्यवान् मान सकता है, लेकिन अन्ततः वह होता है केवल विचार ही। मन जब स्व-विक्षेपित बातों से व्याप्त हो जाता है, तब वह विचार के उस पार नहीं जाता, बल्कि वह एक नया रूप, नया चोगा धारण कर लेता है। इस नये आवरण में जो रहता है, वह भी केवल विचार ही होता है।

"तब विचार के उस पार मनुष्य कैसे जायगा?"

वस्तुतः यह कोई महत्त्व का मुद्दा नहीं है। अहं का विचार के उस पार जाना सम्भव नहीं है। क्योंकि यह प्रयत्न करनेवाला जो अहं है, वह भी विचार का ही परिपाक है। विचार-प्रक्रिया का अन्तरंग उघाड़कर देखना ही आत्मज्ञान है और यही आवश्यक है। ऐसा होने पर वास्तविकता के अन्तर्गत जो सत्य है, वह उजागर होता है और उसीसे विचार-प्रक्रिया का अन्त होता है। वास्तविक सत्य किसी भी

पुरातन अथवा आधुनिक ग्रंथ में नहीं मिलेगा। ग्रंथों में केवल शब्द मिलते हैं, सत्य नहीं मिलता।

"फिर कोई सत्य का शोध कैसे करेगा?"

सत्य का शोध नहीं हो सकता। सत्य-शोधन के लिए किये जानेवाले प्रयत्न के कारण केवल एकाध स्व-विक्षेपित साध्य निर्माण किया जाता है। लेकिन यह साध्य सत्य नहीं होता। सत्य किसीकी निष्पत्ति या किसीका परिणाम नहीं होता, परिणाम विचार का ही सातत्यरूप होता है—फिर वह विस्तारित हो या विक्षेपित। विचार का जब अन्त होता है, तभी सत्य का दर्शन होता है। बलप्रयोग द्वारा, कठोर अनुशासन द्वारा अथवा किसी भी प्रकार के प्रतिकार द्वारा विचार का अन्त नहीं होता। जो वास्तविक है, उसकी कहानी शान्तिपूर्वक सुनते रहने से ही उससे मुक्ति मिलती है। मुक्त होने का प्रयत्न कभी मुक्ति नहीं दिला सकता, केवल सत्य-दर्शन से ही मुक्ति मिलती है।

६७. अभिलाषा और संघर्ष

वह एक सुखकर समुदाय था। श्रोताओं में बहुत से केवल सुनने को उत्सुक थे, पर कुछ लोग शंकाएँ निकाल-निकालकर उनका निरसन चाहते थे। श्रवण-कला, ठीक-ठीक सुनने की कला मनुष्य में बहुत ही कम पायी जाती है। यथार्थ श्रवणशीलता के साथ सौन्दर्य और यथार्थबोध सहजरूप से संलग्न रहते हैं। हम जो कुछ श्रवण करते हैं, वह जीवन के विभिन्न स्तरों पर रहकर और किसी पूर्वकल्पना अथवा विशिष्ट दृष्टिकोण के वश होकर सुनते हैं। हम सहसा, सहजरूप से, खुलेपन से श्रवण नहीं करते। कारण, हम जो श्रवण करते हैं, उसके आगे हम अपने विचारों, निर्णयों अथवा पूर्वग्रहों का परदा हमेशा खड़ा कर देते हैं। हम या तो रुचि से श्रवण करते हैं या प्रतिकार करते हुए श्रवण करते हैं। हम या तो पूरी पकड़ के साथ सुनते हैं, या फिर सुनी हुई सारी बातें झटक देते हैं। लेकिन यह सही श्रवण नहीं है। श्रवण करने के लिए एक प्रकार की आंतरिक शान्ति आवश्यक है। सुनकर हमें कुछ न कुछ प्राप्त करना है, मन पर से यह दबाव पूरी तरह दूर कर देना चाहिए। सही श्रवण के लिए एक प्रकार का प्रयत्नशून्य एवं शान्त अवधान आवश्यक है। ऐसी तरल किन्तु प्रयत्नशून्य स्थिति में ही शाब्दिक निष्पत्तियों के परे जो होता है, उसका श्रवण किया जाता है। शब्द भ्रम निर्माण करते हैं। वे संवाद करने के केवल बाह्य साधन हैं। सच्चे सुसंवाद के लिए शब्दध्वनि के परे जाना पड़ता है और इसके लिए तरल किन्तु निष्क्रिय श्रवणशीलता आवश्यक है। जिनके हृदय में प्रीति होती है, वे ही सच्चा

श्रवण कर सकते हैं। सच्चे श्रोता का मिलना अत्यन्त कठिन है। हममें से अनेक लोग परिणामों के या पर्यवसानों के या साध्य प्राप्त करने के पीछे पड़े रहते हैं। हम निरन्तर कुछ न कुछ जीतने के पीछे, किसीको मात करने के पीछे लगे रहते हैं। इसीलिए हममें सहज श्रवणशीलता नहीं होती। सहजरूप से जब कोई श्रवण करता है तभी शब्दों का संगीत सुना जा सकता है।

"सब प्रकार की अभिलाषाओं से क्या मनुष्य अपने को मुक्त कर सकता है? कोई अभिलाषा ही न हो तो जीवन ही क्या? क्या जीवन का अर्थ अभिलाषा ही नहीं है? अभिलाषा से मुक्त होने का प्रयत्न करना तो मृत्यु का आवाहन करने जैसी बात है। है न?"

सबसे पहले हम देखें कि अभिलाषा क्या है? हमें अभिलाषा का बोध कब होता है? अमुक विषय की हमें अभिलाषा है, यह हम कब कहते हैं? अभिलाषा कोई अमूर्त कल्पना नहीं है। वह किसी-न-किसी मूर्त वस्तु के विषय में ही उत्पन्न होती है। किसी-न-किसी के सम्पर्क अथवा सम्बन्ध के कारण ही वह उदित होती है। सम्पर्क के बिना अभिलाषा अस्तित्व में ही नहीं आ सकती। यह सम्पर्क किसी भी स्तर का हो सकता है। किन्तु यदि सम्पर्क नहीं होगा तो न तो संवेदना ही उद्‌भूत होगी, न अनुक्रिया और न अभिलाषा। इस पर से ध्यान में आ सकता है कि अभिलाषा कैसे निर्माण होती है, उसकी प्रक्रिया कैसी होती है। इन्द्रिय-ज्ञान, सम्पर्क, संवेदना और अभिलाषा,—यह है प्रक्रिया। पर अभिलाषा का बोध हमें कब होता है? 'मुझमें अमुक विषय की अभिलाषा पैदा हुई है', यह हम कब कहते हैं? हम इस तरह तभी बोलते हैं, जब हमारे मन में सुखद या दुःखद क्षोभ होता है। जब हमें भीतरी संघर्ष का या क्षोभ का बोध या ज्ञान होता है, तभी हमें अभिलाषा का भी बोध होता है। अभिलाषा बाह्य चुनौती को दिया जानेवाला अपर्याप्त उत्तर है। कोई बढ़िया मोटर देखते ही हममें एक प्रकार का सुखद क्षोभ पैदा होता है। यही क्षोभ अभिलाषा का बोध है। सुख या दुःख के कारण उत्पन्न होनेवाला केन्द्रित क्षोभ ही अहं का बोध है, अहं-बोध है। अहं-बोध ही अभिलाषा है। बाह्य चुनौती को दिये जानेवाले पर्याप्त उत्तर के कारण जब क्षोभ उत्पन्न होता है, तभी हम अहं-बोध की स्थिति में आते हैं। संघर्ष अर्थात् अहं-बोध। प्रश्न है कि ऐसे क्षोभ से, अभिलाषा के संघर्ष से मुक्ति प्राप्त करना क्या सम्भव है?

"आप अभिलाषा के संघर्ष से मुक्ति प्राप्त करने की बात कहते हैं या स्वयं अभिलाषा से ही मुक्त होने की बात कहते हैं?"

लेकिन क्या संघर्ष और अभिलाषा, ये दो भिन्न स्थितियाँ हैं? यदि ऐसा हो तब तो उनका स्वरूप-सम्बन्धी हमारा यह शोध हमें केवल भ्रम में ही ले जाकर पटक देगा। सोचने की बात है कि यदि सुखद या दुःखद क्षोभ पैदा न हो, सकारात्मक या

नकारात्मक रूप में किसीको चाहने, किसीके पीछे लगने, किसी भी तरह तृप्ति प्राप्त करने की वृत्ति ही न उठे, तो क्या अभिलाषा उत्पन्न भी होगी ? हम सचमुच क्या इस क्षोभ से मुक्ति चाहते हैं ? यह बात यदि ध्यान में आ जाय तब तो हमें अभिलाषा के विशिष्ट स्वरूप का आकलन हो सकता है। संघर्ष का अर्थ है अहं-बोध। क्षोभ के कारण ध्यान का अहंकेन्द्रित होना ही अभिलाषा है। इसमें निहित सुखद अंश को मनुष्य जतन से सँभालकर रखना चाहता है, लेकिन उसके दुःखद अंश से वह मुक्ति चाहता है। क्या ऐसी बात नहीं है ? वस्तुतः सुख और संघर्ष दोनों ही क्षोभकारक हैं। क्या ऐसा नहीं है ? अथवा क्या आप यह मानते हैं कि सुख के कारण क्षोभ पैदा नहीं होता ?

"सुख तो क्षोभकारक नहीं होता।"

आइये, अब हम देखें कि इस कथन में कितनी सचाई है। क्या आपके अनुभव में कभी यह बात नहीं आयी कि सुख में भी एक प्रकार की वेदना होती है ? सुख की लालसा बराबर बढ़ती ही नहीं जाती है ? क्या वह सतत अधिक-से-अधिक की माँग नहीं करती है ? क्या अधिकाधिक की यह लालसा, दुःख को टालने की उतावली जैसी ही क्षोभकारक नहीं होती ? ये दोनों बातें संघर्ष ही उत्पन्न करती रहती हैं, हम अभिलाषा के केवल सुखद अंश को बनाये रखना चाहते हैं और दुःखद अंश को टालना चाहते हैं। लेकिन यदि हम गहराई से देखें तो पता चलेगा कि दोनों ही क्षोभकारक ही हैं। पर आप केवल क्षोभ से ही मुक्ति चाहते हैं क्या ?

"यदि अभिलाषा ही नहीं रहेगी, तो हमारी मृत्यु ही न हो जायगी ? हममें कोई संघर्ष ही नहीं रहेगा, तो हमारी निद्रा जैसी स्थिति न हो जायगी ?"

आप यह स्वानुभव से कह रहे हैं या केवल कल्पना से ? संघर्ष समाप्त हो जाने पर हम किस स्थिति पर पहुँचेंगे, इसकी हम केवल कल्पना ही करते हैं और इस प्रकार संघर्षशून्य स्थिति के अनुभवन में अड़ंगा लगाते हैं। हमारी समस्या तो यह है कि संघर्ष किस कारण उत्पन्न होता है ? क्या संघर्ष के बिना कोई सुन्दर अथवा कुरूप वस्तु हम देख नहीं सकते ? अहंकेन्द्रित बोध के बिना क्या हम निरीक्षण अथवा श्रवण नहीं कर सकते ? क्या क्षोभ के बिना हम जीवित नहीं रह सकते ? अभिलाषा से शून्य होकर क्या हम जीवित ही नहीं रह सकते ? वास्तव में हमें क्षोभ को समझ लेना चाहिए। अभिलाषा को जीतने अथवा उसे उदात्तता प्राप्त करा देने के मार्ग शोधने में कोई सार नहीं है। अपने संघर्ष के स्वरूप को हमें समझ लेना चाहिए। न तो संघर्ष को दबा देना ही उपयुक्त है और न उसका उदात्तीकरण ही।

अब हम देखें कि संघर्ष का मूल किसमें है। जीवन की चुनौती को जब समुचित उत्तर नहीं दिया जाता, तभी संघर्ष पैदा होता है। संघर्ष पैदा होने का अर्थ है हमारे बोध का अहंकेन्द्रित होना। संघर्ष के द्वारा अहंकेन्द्रित होनेवाला बोध ही अनुभव है।

चुनौती को अथवा उद्दीपन को दिया जानेवाला उत्तर ही अनुभव है। जब तक किसी घटना का नामकरण नहीं किया जाता, तब तक अनुभव अस्तित्व में नहीं आता। यह नामकरण स्मृति के संग्रहालय में से ही किया जाता है। यह नामकरण शब्दांकन, प्रतीक, प्रतिमा, शब्द आदि के निर्माण की ही प्रक्रिया है। इससे स्मृति को ही अधिकाधिक बल प्राप्त होता है। संघर्ष के द्वारा अहंकेन्द्रित होनेवाला बोध ही नामकरण की, आलेखन की और अनुभव की सम्पूर्ण प्रक्रिया है।

"इस प्रक्रिया में वह कौन सी वस्तु है, जिसके कारण संघर्ष पैदा होता है? क्या हम संघर्ष से पूर्णतया मुक्त हो सकते हैं? और संघर्ष से परे आखिर क्या होता है?"

नामकरण से, नाम रखने से ही संघर्ष पैदा होता है। है न? बाह्य चुनौती किसी भी स्तर की हो, आप उसकी तरफ देखते हैं किसी न किसी कल्पना के चश्मे से, किसी निर्णय के, किसी पूर्वग्रह के अथवा पूर्वसंस्कार के चश्मे से। इसका अर्थ यही है कि आप अनुभव को विशिष्ट नाम देते हैं। इस नामकरण के कारण उस अनुभव को विशिष्ट गुणवत्ता प्राप्त होती है और नामकरण के कारण ही गुणवत्ता उत्पन्न होती है। यह नामकरण ही स्मृति का आलेखन है। यहाँ जो भूत है, वही नूतन से भेट करता है। नयी चुनौती को भूतकालीन स्मृति की सहायता से ही उत्तर दिया जाता है। लेकिन ऐसे उत्तर द्वारा उस नवीन का, उस चिन्मय का, उस नव चुनौती का बोध नहीं होता। भूतकाल के द्वारा दिये गये उत्तर अधूरे होते हैं। और इस अधूरेपन के कारण ही संघर्ष पैदा होता है। यही अहंकेन्द्रित बोध अथवा ज्ञान है। जब नामकरण की प्रक्रिया अस्तित्व में नहीं होती, तभी संघर्ष का अन्त होता है। आप अपना अवलोकन करेंगे, तो पता चलेगा कि चुनौती का उत्तर और उसका नामकरण, ये दोनों लगभग एक ही साथ मूर्त होते हैं। उत्तर और नामकरण के बीच जो अवधि होती है, वही साक्षात् अनुभवन है। जिसमें अनुभविता भी नहीं और अनुभाव्य भी नहीं, ऐसा जो साक्षात् अनुभवन होता है, वह संघर्ष से परे होता है। संघर्ष का अर्थ है अहंकेन्द्रितता। यह संघर्ष नष्ट होते ही सब प्रकार के विचार का भी अन्त हो जाता है। वह जो अक्षय और अव्यय है, यही उसके स्पर्श का आरम्भ है।

६८. हेतुरहित कृति

वह भिन्न-भिन्न प्रकार की अनेक संस्थाओं और संघों का सदस्य था। हर संस्था में वह प्रत्यक्ष कार्य भी करता था। भाषण करना, लेख लिखना, चन्दा उगाहना

और संगठन खड़ा करना आदि विविध कार्य वह करता था। उसमें एक प्रकार का आग्रहीपन और आक्रामकता थी और प्रभावशीलता भी। सभी संघटनों को उसका विशेष उपयोग था, अतः उसको जगह-जगह से बुलावे आते थे। देशभर में उसे प्रवास करना पड़ता था। पहले वह राजनीतिक आन्दोलनों में भाग ले चुका था। जेल भी भुगत चुका था। अनेक राजनीतिक नेताओं को उसने गुरु-स्थान पर माना था और अब तो स्वयं उसने अपने पौरुष से विशेष महत्त्व प्राप्त कर लिया था। वह स्वयं ही नेता बन गया था। उसका आग्रह था कि बड़ी-बड़ी योजनाएँ तुरन्त अमल में आनी चाहिए। सभी शिक्षित लोगों की भाँति वह तत्त्वज्ञान में भी पारंगत था। वह बार-बार कहता था कि हम कर्ममार्गी हैं, चिन्तनमार्गी नहीं। वह एक संस्कृत-वचन उद्धृत करता था, जिसमें कर्ममार्ग का सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान व्यक्त होता था। 'हम कर्ममार्गी' हैं, उसके इस कथन से यह भाव व्यक्त होता था कि वह और उसके जैसे लोग जीवन के एक आवश्यक अंग हैं। उसने 'कर्ममार्गी' के रूप में अपना विशिष्ट वर्गीकरण कर लिया था और इस तरह उसने अपना सच्चा स्वरूप जानने का मार्ग अवरुद्ध कर लिया था।

हम जब अपने पर कोई मोहर लगा लेते हैं या कोई विशिष्ट उपाधि ओढ़ लेते हैं तो हमें सन्तोष होता है। जिस विशिष्ट वर्ग में होने की हमारी धारणा होती है, उसे हम स्वीकार कर लेते हैं और जीवन का यह वर्गीकरण हमें बड़ा सन्तोषप्रद प्रतीत होने लगता है। हम सब शब्दपूजक और उपाधिपूजक हैं। किसी प्रतीक के मूल्य-मापन के लिए उस प्रतीक के परे हम कभी नहीं जाते। अपने को कोई न कोई विशिष्ट विशेषण लगाकर अपने जीवन में अधिक अस्तव्यस्तता उत्पन्न न होने देने का हम प्रबन्ध करते है। एक बार ऐसा हो जाने पर हम चुपचाप वहीं पड़े रहते हैं। वस्तुतः विचार-प्रणालियाँ अथवा संगठित निष्ठाएँ मनुष्य को जो आत्मघाती संतोष देना चाहती हैं, वही अभिशाप सिद्ध होता है। गे विचार-प्रणालियाँ अथवा निष्ठाएँ हमें सुला देती हैं और नींद में हमें सपने दीखने लगते हैं। यह स्वप्नरंजन ही हमारा प्रत्यक्ष कार्य बन जाता है। कितनी सरलता से हम विभ्रांत हो जाते हैं! हममें से अधिकांश लोग ऐसी विभ्रांति चाहते हैं। जीवन के अविरत संघर्ष के कारण हम थक चुके होते हैं। इसीलिए हमें विभ्रांतियों की सतत आवश्यकता महसूस होती है। जो साक्षात् है, उसकी अपेक्षा हमें ये विभ्रांतियाँ ही अधिक महत्व की प्रतीत होती हैं। क्योंकि इनसे हम खेल सकते हैं। लेकिन जो साक्षात् है, उससे खेलना सम्भव नहीं हैं। वस्तुतः ये विभ्रांतियाँ भ्रम हैं, भ्रमाभास हैं और उनमें रमने में हमें एक उल्टे प्रकार का आनन्द मिलता है।

आइये, अब हम यह देखें कि यथार्थ कृति क्या है। कृति की प्रक्रिया कैसी होती है? हम कृति क्यों करते है? निश्चय ही निरन्तर कुछ-न-कुछ करते रहना कृति नहीं

है। केवल व्यस्त बने रहना कृति नहीं है। गृहिणी सदैव किसी न किसी कार्य में व्यस्त रहती है, लेकिन उसके काम को क्या आप कृति कहेंगे ?

"नहीं, नहीं, बिलकुल नहीं। गृहिणी केवल बिखरे हुए दैनन्दिन कामों में फँसी रहती है, किन्तु कर्मप्रधान मनुष्य तो अधिक विशाल समस्याओं और जवाबदारियों से व्याप्त रहता है। अधिक व्यापक और अधिक गहन मुद्दों के समाधान में लगे रहने को कृति कहा जा सकता है। फिर ये मुद्दे राजनीतिक ही नहीं, आध्यात्मिक भी हो सकते हैं। कृति के लिए कार्यक्षमता, कार्यकुशलता, संघटित प्रयत्न और विशिष्ट हेतु से किया जानेवाला अविश्रांत उद्योग—इन सब बातों की आवश्यकता होती है। ऐसी कृति करनेवाला मनुष्य चिन्तनशील, गूढ़वादी अथवा आश्रमवासी नहीं कहा जायगा, वह कर्मप्रधान, क्रियाशील व्यक्ति माना जायगा।"

व्यापक मुद्दों से घिरे रहने को आप 'कृति करना' कहते हैं। लेकिन ये व्यापक मुद्दे हैं क्या ? क्या दैनन्दिन जीवन से वे अलग होते हैं ? क्या सम्पूर्ण जीवन-प्रक्रिया से कृति भिन्न होती है ? जीवन के सारे स्तरों में जब एकात्मकता नहीं व्यापती, तब क्या यथार्थ कृति निर्मित होती है ? जीवन की सम्पूर्ण प्रक्रिया का यथार्थ आकलन किये बिना और जीवन में एकात्मता आये बिना व्यक्त होनेवाली कृति केवल विनाशक ही नहीं होती ? वस्तुतः मानव एक समग्र प्रक्रिया है। इस सम्पूर्ण एकात्मकता के परिपाक के रूप में व्यक्त होनेवाली कृति ही वास्तविक कृति होगी।

"लेकिन इस तरह तो केवल निष्क्रियता ही उत्पन्न नहीं होगी, एक अनिश्चित व्याक्षेप भी आ जायगा। आज तो कृति करने की ही उतावली है। उसकी तात्त्विक चर्चा करने में कोई लाभ है, ऐसा मुझे नहीं लगता।"

लेकिन हम कोई तात्त्विक चर्चा नही कर रहे हैं। बल्कि इस बात का शोध कर रहे हैं कि आपकी इस तथाकथित कृतिशीलता से भयंकर हानि तो नहीं होनेवाली है। सुधार की प्रकृति ऐसी होती है कि एक बार सुधार करने पर बार-बार नये सिरे से सुधार करते रहने की आवश्यकता उत्पन्न होती रहती है। क्योंकि कोई भी अंशात्मक कृति वस्तुतः कृति ही नहीं होती। यह अंशात्मक कृति केवल विनाश, केवल विघटन ही ले आती है। आप यदि धीरज से काम लें तो सम्पूर्ण और एकात्मक कृति कौन-सी है, इसका भविष्य में नहीं, इसी क्षण, यहीं शोध लग सकता है।

सहेतुक कृति को क्या यथार्थ कृति कह सकते हैं ? किसी हेतु या आदर्श की कल्पना करना और उस दिशा में कार्य करते रहना—क्या इसे यथार्थ कृति कह सकते हैं ? किसी विशिष्ट परिणाम के लिए किया जानेवाला कार्य क्या सचमुच कृति है ?

"तो फिर अन्य किस प्रकार से मनुष्य के लिए कार्य करना सम्भव है ?"

जिस कार्य से विशिष्ट परिणाम लाना होता है, उसे आप कृति कहते हैं न ?

आप विशिष्ट परिणाम के लिए योजना करते हैं अथवा एकाध कल्पना या निष्ठा सामने रखकर उस दिशा में कार्य करते हैं। कोई व्यावहारिक अथवा काल्पनिक हेतु मानकर अथवा कोई साध्य या ध्येय सामने रखकर उसके लिए कार्य करने को सामान्यतः कृति माना जाता है। पुल-निर्माण जैसे व्यावहारिक कार्य के विषय में यह प्रक्रिया सहज ध्यान में आ सकती है। लेकिन जहाँ काल्पनिक या मानसिक हेतु या साध्य सामने रखकर कार्य किया जाता है, वहाँ यह कार्य-प्रक्रिया उस व्यावहारिक कार्य जैसी ही सरल और समझने में सुलभ होती है क्या? हम इस समय मानसिक हेतु के विषय में किसी आदर्श, विचार-प्रणाली अथवा निष्ठा को सामने रखकर किये जानेवाले कार्य के सम्बन्ध में विचार कर रहे हैं। ऐसे मानसिक हेतु को सिद्ध करने की दृष्टि से किये जानेवाले कार्य को क्या आप कृति कहेंगे?

"हेतुरहित कृति कृति ही नहीं है, वह तो मृत्यु ही है। क्योंकि निष्क्रियता का नाम ही मरण हैं।"

निष्क्रियता कृति की विरोधी स्थिति नहीं है। वह एक सर्वथा निराली स्थिति है। किन्तु अभी हमें उससे कोई तात्पर्य नहीं है। पर हम बाद में चर्चा कर सकते हैं। अब हम अपने विषय की ओर आयें। किसी आदर्श या साध्य की दिशा में कार्य करने को सामान्यतः कृति कहा जाता है। है न ऐसी बात? पर हम यह देखें कि यह आदर्श या यह हेतु मूल में कैसे निर्माण होता है। जो वास्तविक है, उससे यह आदर्न या हेतु क्या सर्वथा भिन्न रहता है? कोई विशिष्ट भूमिका और सर्वथा उससे विरोधी भूमिका, ये दोनों क्या सर्वथा भिन्न हैं? अहिंसा का आदर्श हिंसा से सर्वथा भिन्न होता है क्या? कोई भी आदर्श क्या स्व-विक्षेपित ही नहीं होता? क्या वह हमारी निर्माण की हुई वस्तु नहीं होती? किसी साध्य की या आदर्श की दिशा में कार्य करना क्या स्वविक्षेप के ही पीछे लगना नहीं है? क्या यही वास्तविक स्थिति नहीं है?

"क्या कोई आदर्श या ध्येय केवल स्व-विक्षेप ही होता है?"

देखिये, आप 'यह' हैं और 'वह' बनना चाहते हैं। यह भी आपके विचारों का परिणाम है। भले ही वह स्वयं आपके अपने विचारों की निष्पत्ति न हो, लेकिन वह किसी-न-किसी के विचारों की निष्पत्ति तो होती ही है, है न?" विचार ही आदर्श या ध्येय उत्पन्न करता है, आदर्श या ध्येय विचार का ही अंश होता है, वह विचार के परे नहीं होता। वह प्रत्यक्ष विचार ही होता हैं।

"लेकिन विचार में गलत क्या है? विचार से आदर्श या ध्येय का निर्माण क्यों न किया जाय?"

देखिये, आज आप जैसे हैं, उसमें आपको संतोष नहीं है। इसलिए आप वैसे यानी दूसरे प्रकार के होना चाहते हैं। यदि इस स्थिति का यथार्थ बोध हो जाय कि हम ऐसे हैं, तो फिर आपके उस काल्पनिक स्वरूप का अस्तित्व भी रहेगा?

वस्तुस्थिति यह है कि आपको अपने इस स्वरूप का आकलन नहीं हुआ है, इसलिए आप अपने स्वरूप की वैसी कल्पना करते हैं और उसके द्वारा अपने स्वरूप के आकलन की आशा रखते हैं, अथवा अपने इस स्वरूप से कतराना चाहते हैं। वस्तुतः हमारा विचार जैसे आदर्श अथवा ध्येय का निर्माण करता है, वैसे ही वह समस्याएँ भी खड़ी करता है। हमारा ध्येय या आदर्श केवल स्व-विक्षेप होता है। ऐसे स्व-विक्षेपित ध्येय की दिशा में कार्य करते रहने को आप सहेतुक कृति कहते हैं। अर्थात् यह कृति आपके विक्षेप-क्षेत्र के अवगुण्ठन में ही तैयार होती है। फिर आपका आदर्श ईश्वर-विषयक हो अथवा राज्य-शासन, अथवा समाज-रचना विषयक। आपकी यह विशिष्ट परिधि की हलचल वैसी ही होती है, जैसे कोई कुत्ता अपनी पूंछ पकड़ने के लिए अपने ही चारों ओर चक्कर काटता है। लेकिन क्या यह यथार्थ कृति है?

"लेकिन हेतु के बिना कार्य करना सम्भव भी है क्या?"

हाँ, सम्भव है। सहेतुक कार्य क्या चीज है, इसका यदि आपको दर्शन हो जाय, तो यह सत्यदर्शन ही यथार्थ कृति पैदा कर देगा। इस अवस्था में विक्षेप, कल्पना समाप्त होकर शुद्ध कृति ही शेष रह जायगी। ऐसी कृति ही वास्तव में प्रभावशाली होती है, यह सचमुच में मूलगामी क्रांति है।

"आपका तात्पर्य अहंशून्य कृति से है? यही आप कहना चाहते हैं न?"

हाँ, यही कल्पनारहित कृति है। अहं का ईश्वर से अथवा राज्यशासन से अथवा ऐसी ही किसी बात से तादात्म्य स्थापित होना कल्पना है। ऐसी एकरूपता-जन्य कृति अधिक उलझन, संघर्ष और दुःख पैदा करने में कारणीभूत होती है। लेकिन तथाकथित कर्ममार्गी व्यक्ति को अपनी कल्पना अथवा अपने आदर्श को एक बाजू रखना अत्यन्त कठिन लगता है। विचार-प्रणाली अथवा कल्पना का आधार न हो तो उसे पूरी तरह निराधार होने जैसा लगता है और वह सचमुच निराधार होता ही है। इसका अर्थ यही है कि वह कर्ममार्गी या कृतिप्रधान व्यक्ति नहीं होता, बल्कि अपने विक्षेपों के जाल में उलझा हुआ व्यक्ति होता है। उसकी सारी क्रियाएँ आत्मगौरवात्मक ही होती हैं। उसकी ये क्रियाएँ विघटन को, भेदभाव को बढ़ाने में ही मदद करती है।

"फिर मनुष्य करे भी तो क्या?"

अपनी चालू क्रियाओं के यथार्थ स्वरूप का आकलन कर लीजिये। इसीसे यथार्थ कृति का उदय होगा।

६६. कार्य और कारण

वह मनुष्य अपनी कथा सुना रहा था : "आप रोग दूर करते हैं, यह मुझे मालूम है। आप मेरे लड़के का रोग क्यों नहीं दूर करेंगे ? वह लगभग अन्धा हो गया है। कुछ डाक्टरों को भी दिखाया था। लेकिन वे इस विषय में कुछ भी करने में असमर्थ हैं। उनकी सलाह है कि लड़के को यूरोप या अमेरिका ले जाऊँ। लेकिन मैं कोई धनी नहीं हूँ। अतः ऐसा करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है। क्या आप कृपापूर्वक उसके लिए कुछ नहीं कर सकेंगे ? वह हमारा एकमात्र लड़का है और मेरी पत्नी हृदय-रोग से पीड़ित है।"

वह एक निम्न श्रेणी का कर्मचारी था। गरीब होते हुए भी सुशिक्षित था और संस्कृत-साहित्य से भी उसका परिचय था। वह बार-बार यही कह रहा था कि उसके पुत्र की बीमारी का कारण उसके तथा उसके पुत्र के पूर्वजन्म के कर्म हैं। ऐसा दण्ड मिलने के लिए हमारे हाथ से कौन-सा कर्म हुआ होगा ? पूर्वजन्म में अथवा इस जन्म में हमारे हाथ से कौन-सा पाप हुआ, जिसके कारण हमें यह दुःख सहना पड़ रहा है ? इस विपत्ति का कोई-न-कोई कारण होना ही चाहिए। हमारे ही किन्हीं पूर्वकर्मों में वह दबा होगा। उसके कहने का सार यही था।

बच्चे के अन्धेपन का कोई तात्कालिक कारण हो सकता है, जो शायद डॉक्टरों की समझ में न आया हो। शायद किसी आनुवंशिक रोग के कारण लड़के में यह अन्धापन आया हो। लेकिन डॉक्टरों को यदि इस अंधता के भौतिक कारण का पता नहीं चल सका, तो इसे निमित्त बनाकर भूतकाल के किसी अ-भौतिक कारण को खोजने के पीछे आप क्यों पड़े हैं ?

"इसीलिए कि कारण का शोध लगाने से, कार्य का अथवा परिणाम का मुझे अधिक आकलन हो सकेगा।"

कारण समझने से सचमुच किसी बात का आकलन होता है ? हमें भय क्यों लगता है, इसका कारण समझने से क्या हम भय से मुक्त हो जाते हैं ? मनुष्य को किसी बात का कारण ज्ञात हो जाय, तो केवल उसके कारण उस बात का यथार्थ आकलन हो सकता है क्या ? कारण ज्ञात होने पर परिणाम का आकलन होगा, ऐसा जब आप कहते हैं, तब यह आपत्ति कैसे उत्पन्न हुई यह समझने पर आप उसीमें समाधान मान लेंगे—यही न आपके कहने का तात्पर्य है ?

"जी, हाँ ! इसीलिए तो पूर्वजन्म के किस कर्म के कारण यह अन्धत्व आया है, यह मैं जानना चाहता हूँ । इससे हमारे मन को बड़ी सान्त्वना मिलेगी ।"

यानी आप सान्त्वना चाहते हैं, समाधान चाहते हैं । आप इस बात का यथार्थ बोध प्राप्त करना नहीं चाहते ।

"लेकिन क्या ये दोनों बातें एक ही नहीं हैं ? यथार्थ बोध होने का अर्थ ही समाधान प्राप्त होना है। यथार्थ बोध से यदि समाधान न हो, तो उस यथार्थ बोध का आनन्द ही क्या है ?"

यह आवश्यक नहीं कि किसी घटना का यथार्थ बोध होने से समाधान ही होगा। उससे विचलितता अथवा अस्वस्थता भी उत्पन्न हो सकती है। लेकिन आप तो केवल समाधान चाहते हैं और उसीके पीछे लगे हैं। अपने लड़के की बीमारी से आप व्यथित हैं और केवल आत्म-सन्तोष चाहते हैं । इस आत्म-सन्तोष को ही आप यथार्थ बोध कहते हैं । आप समाधान प्राप्त करने के लिए निकले हैं, न कि यथार्थ बोध प्राप्त करने । आप अपने मन की व्यथा अथवा विचलितता को शान्त करना चाहते हैं । इस हेतु को ही आप कारण की खोज कहते हैं । आप केवल यही चाहते हैं कि आपके मन की बेचैनी मिटकर आपको अच्छी नींद आये । इसीका उपाय आप खोज रहे हैं। लेकिन नींद लाने के लिए हम अनेक साधन काम में लाते हैं। जैसे, ईश्वर, कर्मकाण्ड, आदर्श की साधना, अथवा मद्यपान आदि । हम अपने मन की क्षुब्धता से दूर भागना चाहते हैं और इस प्रकार कारण का शोध करते रहना भी पलायन का एक प्रकार ही है ।

"मनुष्य को क्षुब्धता से छुटकारा पाने का प्रयत्न क्यों नहीं करना चाहिए ? दुःख टालने का प्रयत्न करने में क्या हर्ज है ?"

दुःख टालने का प्रयत्न करने से क्या दुःख से छुटकारा मिल जाता है? कोई भद्दी, बुरी या डरावनी चीज दरवाजा बन्द करके बैठ जाने से क्या दूर हो जाती है ? वह दरवाजे के बाहर वैसी ही खड़ी रहती है। जिसे-जिसे दबाया जाता है, जिस-जिसका प्रतिकार किया जाता है, उसका आकलन नहीं होता । क्या यही वस्तु-स्थिति नहीं है ? मान लीजिये, आपने अपने लड़के को दबाव में रखा, अथवा उसे कठोर अनुशासन में रखा, तो आपको उसका सही आकलन होना सम्भव ही नहीं है। आप अपने दुःख का जो कारण खोज रहे हैं, वह क्षोभ के कारण उत्पन्न होनेवाले दुःख को केवल टालने के लिए ही तो है । ऐसा हेतु मन में रखकर यदि आप शोध करेंगे, तो सम्भवतः आपको आपकी इच्छित वस्तु मिल जायगी । लेकिन दुःख से सचमुच छुटकारा पाने की सम्भावना केवल तभी है जब आप दुःख की सम्पूर्ण प्रक्रिया का अवलोकन करें, उसके प्रत्येक स्वरूप का अवधान रखें और उसकी सम्पूर्ण रचना

को जानें, समझें। इसके विपरीत, यदि आप दुःख को टालने का प्रयत्न करेंगे, तो इससे दुःख में वृद्धि ही होगी। दुःख के कार्य-कारणात्मक स्पष्टीकरण से दुःख का यथार्थ बोध नहीं होगा। ऐसे स्पष्टीकरण से दुःख से छुटकारा नहीं होता। दुःख ज्यों का त्यों बना रहता है। आप इतना ही करते हैं कि अपने या दूसरों के शब्दों या निर्णयों द्वारा दुःख पर परदा डाल देते हैं। स्पष्टीकरणों का अध्ययन प्रज्ञा का अध्ययन नहीं है। जब व्याख्या और स्पष्टीकरण समाप्त हो जाते हैं, तभी प्रज्ञा का उदय सम्भव है। आप नींद या बेहोशी लानेवाले व्याख्या-विवरणों को बड़ी आतुरता से खोज रहे हैं, वे आपको निश्चित रूप से मिल भी जायँगे, लेकिन व्याख्या-विवरण और कुछ हैं, वे सत्य नहीं हैं। जब शब्दों, विवरणों अथवा निष्कर्षों से रहित वास्तविकता का निरीक्षण किया जाता है, तभी सत्य का दर्शन होता है। निरीक्षक का निर्माण शब्दों से होता है, वह वास्तविक नहीं होता। यह निरीक्षक अथवा यह अहं नाना विवरणों, निर्णयों, धिक्कारों और समर्थनों आदि का समुच्चय होता है। जब इस अहंरूप निरीक्षक का विसर्जन हो जाता है, जब उसका अस्तित्व विलीन हो जाता है, तभी निरीक्षित के साथ सुसंवाद हो सकता है, तभी यथार्थ बोध होता है। तभी समस्या से छुटकारा मिल पाता है।

"आपकी बात मेरी समझ में आने लगी है, ऐसा लगता है। लेकिन तब क्या कर्म नाम की वस्तु का कोई अस्तित्व ही नहीं है?"

'कर्म' शब्द का आप निश्चित रूप से क्या अर्थ समझते हैं?

"मेरे कहने का अर्थ यह है कि मनुष्य की आज की परिस्थिति उसके पूर्वकर्म का परिपाक होती है, फिर वे कर्म निकट-भुतकाल के हों या दूर के भूतकाल के। कार्य-कारण की यह प्रक्रिया और उसके सारे अंगोपांग ही सामान्यतः कर्म माने जाते हैं।"

लेकिन यह तो केवल शाब्दिक निरूपण या स्पष्टीकरण है। आइये, अब हम शब्दों के उस पार चलें। कोई निश्चित परिणाम व्यक्त करनेवाला कोई निश्चित कारण होता है? जहाँ कारण और कार्य अचल और निश्चित स्वरूप के होते हैं, क्या वहाँ मृत्यु ही नहीं होती? जो दृढ़, स्थिर और विशिष्ट गुणसम्पन्न होता है, उसकी मृत्यु अटल ही समझो। जो प्राणी कुछ विशिष्ट धर्मों से युक्त होते हैं, उनकी मृत्यु जल्दी ही होती है। है न? मानव-प्राणी विशिष्ट धर्मों से मर्यादित नहीं है। इसीलिए उसके अस्तित्व के सदा बने रहने की सम्भावना है। जो मृदु और लचीला होता है, वही टिकता है। जो लचीला नहीं होता, वह टूट जाता है। वट के बीज से वटवृक्ष के अलावा और कुछ निर्माण होने की सम्भावना नहीं। कारण और कार्य दोनों इस बीज में ही निहित हैं। लेकिन मानव इस प्रकार पूर्णतः मर्यादित और विशिष्ट गुणसम्पन्न नहीं है। अतः यदि वह नाना प्रकारों से अपना विनाश न कर ले तो उसे चिरंजीवित्व प्राप्त हो सकता

है। क्या कारण और कार्य अचल तथा खम्भे की तरह होता है ? जब आप कारण और कार्य के बीच 'और' शब्द जोड़ते हैं, तब क्या यह ध्वनित नहीं होता कि ये दोनों अचल तथा खम्भे की तरह हैं ? वास्तव में कारण क्या कभी स्थिर हो सकता है ? और कार्य अथवा परिणाम भी क्या सदैव अपरिवर्तनीय होता है ? निश्चय ही कार्य-कारण-प्रक्रिया एक सतत चलनेवाली अविच्छिन्न प्रक्रिया है। है न ? आज विगत कल का परिणाम अथवा कार्य है। और आगामी कल आज का कार्य या परिणाम है। जो कारण था वह कार्य बनता है और जो कार्य था वह कारण बनता है। कार्य-कारण एक शृंखलात्मक प्रक्रिया है। है न ऐसी बात ? एक दूसरी में और दूसरी तीसरी में बहती जाती है, और इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में कहीं खण्ड नहीं पड़ता। यह अखण्ड गति है, उसमें कहीं स्थिरता नहीं होती। यह जो कारण कार्य-परम्परा है, वह अनेक घटकों की बनी होती है।

सब प्रकार के स्पष्टीकरण अथवा निर्णय अचल या अटल होते हैं, फिर चाहे वे दाहिने पक्ष से आये हों या बायें पक्ष से अथवा धर्म नाम की संगठित निष्ठा से आये हों। जो जीवन्त और अखण्ड चिन्मय है, उसे जब आप स्पष्टीकरणों से ढँकना चाहते हैं, तब वह मृत बन जाता है। और हममें से अधिकांश लोग यही चाहते हैं। किन्हीं भी शब्दों से, कल्पनाओं से अथवा विचारों से अपने को मदहोश कर लेने, निद्राधीन कर लेने की ही हमारी इच्छा होती है। दलीलबाजी करना भी अपनी क्षुब्ध और अशान्त स्थिति को शान्त करने का ही एक उपाय है। लेकिन स्वयं को निद्राधीन करने की इच्छा अथवा कारण खोजने की या निर्णय तक पहुँचने की इच्छा ही मूलतः हममें क्षोभ उत्पन्न करती है और इस प्रकार विचार आत्मनिर्मित जाल में ही उलझ जाता है। विचार न तो मुक्त ही हो सकता है और न वह अपने को कभी मुक्त ही कर सकता है। विचार अनुभव का ही परिपाक होता है और अनुभव मनुष्य को संस्कारबद्ध ही करता है। अनुभव कभी भी सत्य का माप नहीं हो सकता। असत्य के असत्यत्व का सदैव अवधान रहने पर, और इस अवधान के सतत जागृत रहने पर ही सत्य में अन्तर्भूत मुक्ति का दर्शन होता है। ●

७०. जड़ता और संवेदनशून्यता

ट्रेन छूटी तब भी सांध्य प्रकाश बाकी था, पर लम्बी-लम्बी छाया पड़ने लगी थी। वह कस्बा रेलवे-लाइन से सटकर ही था, अतः लोग घरों से निकल-निकलकर गाड़ी को देखते हुए खड़े थे। गाड़ी में बैठे यात्री लोग हाथ हिला-हिलाकर अपने मित्रों को संकेत कर रहे थे। टेढ़ी-मेढ़ी नदी के विशाल पुल पर से जब गाड़ी चलने

लगी, तो जोर की आवाज होने लगी। यहाँ नदी का पाट कई मील चौड़ा था। उस सांध्यकालीन मिटते हुए प्रकाश में दूसरी ओर का किनारा स्पष्ट दिखाई दे रहा था। गाड़ी अत्यन्त धीमी गति से चल रही थी। नदी के दोनों किनारों के बीच पुल की कमानी पर लिखे आँकड़ों के अनुसार उनकी संख्या कुल मिलाकर ५८ थी। नदी का वह शान्त, विस्तीर्ण, गहन-गम्भीर प्रवाह कितना सुन्दर था। पाट में, बीच-बीच में बालू के टापू दिखाई दे रहे थे। उनकी सुखद शीतलता काफी दूर से भी महसूस हो रही थी। वह कस्बा, उसका कोलाहल, उसकी गर्द और गन्दगी सब पीछे छूट गयी थी। खिड़की में से सायंकाल की स्वच्छ, प्रसन्न हवा भीतर आ रही थी। लेकिन लम्बे पुल के समाप्त होने पर फिर से धूल भीतर आयेगी ही।

नीचे की बर्थ पर बैठा मनुष्य बड़ा वाचाल था। हमें सारी रात एक साथ बितानी थी, इसलिए शायद वह मानता था कि चाहे जितने प्रश्न करने का उसे हक ही है। वह खूब ऊँचा-पूरा, मोटा-तगड़ा मनुष्य था। उसके हाथ-पाँव भी खूब लम्बे थे। उसने अपने ही विषय में बोलना शुरू किया। अपने जीवन, अपने कष्ट और अपने बच्चों की वह चर्चा करने लगा। लेकिन बाद में वह अन्य विषयों की ओर मुड़ गया। भारत को अमेरिका की भाँति समृद्ध होना चाहिए, यहाँ की बेशुमार बढ़ती हुई जनसंख्या मर्यादित होनी चाहिए, लोगों को अपनी जवाबदारी समझनी चाहिए, आदि विषयों पर वह अपने विचार व्यक्त करने लगा। बाद में वह देश की राजनीतिक परिस्थिति, युद्ध की सम्भावना आदि विषयों की चर्चा करने लगा। अपने विविध प्रवासों का वर्णन करके उसने अपनी बात समाप्त की।

हम कितने संवेदनशून्य बन गये हैं ! जीवन की प्रत्येक चुनौती को शीघ्र और समुचित उत्तर देने में हम कितने असमर्थ हैं ! निरीक्षण के लिए आवश्यक उन्मुक्तता हममें कितनी कम है ! मनुष्य में ऐसी संवेदनशीलता न रहे तो मन का लचीलापन और निरीक्षण की तरलता कैसे आ सकती है ? ग्रहणक्षमता और प्रयत्नशून्य तथा सहज आकलनशीलता भी कैसे आयेगी ? किसी भी प्रकार का प्रयत्न यथार्थ आकलन में बाधक ही होता है। उत्कट संवेदनशीलता हो, तभी आकलन सहजरूप से होता है। लेकिन संवेदनशीलता प्रयत्नसाध्य वस्तु नहीं है। संवेदनशीलता के नाम पर जो कुछ प्रयत्न से साध्य और संवर्धित किया जाता है, वह एक प्रकार का कृत्रिम ढब है, बनावटी चेहरा है। यह ऊपरी परत संवेदनशीलता नहीं है, वह एक प्रकार की शिष्टता या रस्म-रिवाज की पाबन्दी है। अपने प्रभावों के अनुसार यह मुद्रा हलका या गहरा कोई भी रूप धारण कर सकती है। संवेदनशीलता संस्कारों या विशिष्ट प्रभावों से निर्मित परिणाम नहीं होती, बल्कि वह तो एक ग्रहणसुलभ और विमुक्त स्थिति है। जो विमुक्त होता है, वह अन्तर्निहित होता है, अज्ञात और अचिन्तनीय होता है। हम जान-बूझकर ऐसा

प्रयत्न करते हैं कि हममें संवेदनशीलता न आने पाये। कारण, संवेदनशील रहना अत्यन्त तापदायक और कष्टकर है। वह हमसे सतत समन्वय ही करते रहने की अपेक्षा रखती है। प्रत्येक प्रसंग में हमें सुसंवादी रहने को विवश करती है। इसीका नाम है आकलन या गम्भीर चिन्तन या सौजन्यशील जीवन। सौजन्यशील रहने का अर्थ है अखण्ड जागृत अवधान रखना। लेकिन हम सब तो केवल सुख-सुविधा चाहते हैं, केवल मीठी-मीठी बेहोशी चाहते हैं। इसीलिए हम संवेदनशून्यता में सो जाना पसन्द करते हैं। संवेदनशून्यता लानेवाली बातें हमारे जीवन में चलती ही रहती हैं। जैसे, हमें पढ़ने का व्यसन होता है। समाचारपत्र, मासिक पत्रिकाएँ और पुस्तकें मनुष्य को संवेदनशून्य बनाने का ही कार्य करती हैं। मदिरापान या धार्मिक विधिसम्मत निश्चित आचरण की भाँति पढ़ना भी वास्तविकता से दूर भागने का एक उत्कृष्ट बहाना है। हम जीवन के दुःखों से निरन्तर दूर भागना चाहते हैं। संवेदनशून्यता इसके लिए उत्कृष्ट और अत्यन्त प्रभावी उपाय है। संवेदनशून्यता लाने के विभिन्न प्रकार हैं। जैसे, किसी भी बात का स्पष्टीकरण देते रहना, किसी आदर्श का अथवा नेता का अनुसरण करते रहना, अथवा किसी वैशिष्टय से, किसी उपाधि से अथवा किसी साध्य से एकरूप होना आदि। हममें से अधिकांश लोग ऐसे ही संवेदन-शून्य बने रहना चाहते हैं। एक बार आदत पड़ जाने पर वह हमारे मन को मजबूती से निद्राधीन कर देती है। विशिष्ट प्रकार का अनुशासन, विशिष्ट साधना अथवा कुछ भी बनने का अविरत प्रयत्न—इनकी आदत लगना, यह सब अपने को संवेदनशून्य बनाने के ही प्रतिष्ठित उपाय हैं।

''लेकिन मनुष्य यदि संवेदनशील रहे, तो क्या वह जीवन में कुछ भी कर सकेगा? तब तो सब लोग संकुचित हो जायेंगे, सिमट जायेंगे। और कोई भी सार्थक कार्य होना असम्भव हो जायगा।''

लेकिन ये सारे जड़ और संवेदनाशून्य लोग आज भी जीवन में क्या साध रहे हैं? संसार पर कौन-सा उपकार कर रहे हैं? उनके 'प्रभावपूर्ण या सार्थक' कार्य की फलश्रुति क्या है? भीतर-बाहर चारों ओर उलझन और अस्तव्यस्तता, दुष्टता और निर्दयता, अपने को और जगत् को अधिकाधिक दुःख में गिराना और अन्त में सारे विश्व को युद्ध की खाई में ढकेल देना, यही उनके 'सार्थक' कार्य की फलश्रुति है। असावधान लोगों की ओर से होनेवाले कार्य जगत् को विनाश की ओर, भौतिक असुरक्षा तथा विघटन की ओर अपरिहार्य रूप से खींचकर ले जाते हैं। लेकिन साथ ही साथ यह भी सच है कि संवेदनशीलता ऐसी चीज नहीं है कि सहज ही प्राप्त हो जाय। संवेदनशीलता का अर्थ है सीधी सहज बात का यथार्थ बोध। लेकिन यह सीधी-सादी बात ही अत्यन्त उलझनपूर्ण हो जाती है। सीधी, सहज बात का यथार्थ बोध प्राप्त करना अपने-आपको संकुचित कर लेना नहीं है, स्वयं सिमट जाना नहीं

है, अथवा अपने को जगत् से तोड़ डालना भी नहीं है। संवेदनशील कृति करते रहने का अर्थ है अपने मन की सम्पूर्ण प्रक्रियाओं का सतत अवधान रखना।

"अपने मन की सम्पूर्ण प्रक्रिया को जानने में तो बहुत समय लगेगा। उस अवधि में मेरा सारा व्यवसाय गुड़-गोबर हो जायगा और मेरा परिवार भूखों मरने लगेगा।"

आपने यदि पर्याप्त धन नहीं बचाया, तो भी आपका कुटुम्ब भूखों नहीं मरेगा। उसके उदर-निर्वाह की कुछ-न-कुछ व्यवस्था कठिन नहीं है। हाँ, यह निश्चित है कि आपका व्यवसाय नष्ट हो जायगा। लेकिन आज जीवन का विभिन्न स्तरों पर विघटन और विनाश तो हो ही रहा है। आपको तो अपने बाह्य विनाश की ही चिन्ता है, लेकिन आपके मन में क्या चल रहा है, इसे जानने की आपकी इच्छा ही नहीं होती। आप आन्तरिक की उपेक्षा करते और बाह्य का निर्माण करना चाहते हैं। फिर भी आन्तरिक सदैव ही बाह्य पर हावी रहता है। यदि हमारा आन्तरिक समृद्ध न रहे, तो बाह्य टिक ही नहीं सकता। लेकिन आन्तरिक की समृद्धि का मतलब संगठित धर्मों द्वारा निर्मित संवेदनाओं की पुनरावृत्ति नहीं है, अथवा ज्ञान के नाम से समझा जानेवाला अनेक जानकारियों का संग्रह भी नहीं है। यदि हम चाहते हैं कि हमारा बाह्य स्वस्थ बना रहे और निरामय स्वरूप में टिका रहे, तो हमारा मन जिन अनेक बातों के पीछे दौड़ता रहता है उन सबकी प्रक्रिया जान लेना आवश्यक है। यह न कहिये कि उसके लिए हमारे पास समय नहीं है। समय आपके पास पर्याप्त है। समय न होने का बहाना सही नहीं है। सही बात तो यह है कि आपको उसकी अनिच्छा है और आपको उसका कोई महत्त्व ही प्रतीत नहीं होता। आपमें यथार्थ आन्तरिक समृद्धि नहीं है, लेकिन आप केवल यह समाधान चाहते हैं कि आपके पास बाह्य समृद्धि की भाँति आन्तरिक समृद्धि भी है। आप अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण के लिए पैसा कमा रहे हैं, यह वस्तुस्थिति नहीं है, बल्कि आप कमा रहे हैं सम्पत्ति के स्वामित्त्व की भावना के समाधान के लिए। जिस मनुष्य के पास सम्पत्ति होती है—फिर वह जायदाद के रूप में हो या ज्ञानसंग्रह के रूप में—वह भी संवेदनशील नहीं हो सकता। वह सहज-मेद्य रह ही नहीं सकता, उसे विमुक्तता का भी स्पर्श नहीं हो सकता। किसी भी प्रकार की सम्पत्ति रखने का अर्थ है—अपने को संवेदनशून्य बनाना, फिर वह सम्पत्ति सिक्के के रूप में हो या सद्गुणों के रूप में। जो बात सम्पत्ति के विषय में है वही व्यक्ति के विषय में भी है। कोई व्यक्ति हमारी मालिकी का रहे, इसका अर्थ है उस व्यक्ति की ओर पूरा दुर्लक्ष्य रहना। सत्य का शोध करना और उसे अपनी मिल-कियत बनाने की कोशिश करना सत्य की ओर से पीठ फेर लेना है। जब आप सद्गुणी होने का प्रयत्न करते हैं, तब आप सद्गुणी नहीं रहते। क्योंकि सद्गुण

सम्पादन करना एक भिन्न स्तर की केवल आत्मसंतुष्टता ही है। आत्मसंतुष्टता सद्-गुण नहीं है, सद्गुण है विमुक्तता या स्वतन्त्रता।

प्रश्न यह है कि जड़, सद्गुणशून्य और प्रतिष्ठित व्यक्तियों की मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है? विमुक्त का एकाकीपन अपने को संकुचित करनेवाला खण्डितपना या पृथकता नहीं है। सम्पत्ति से या दरिद्रता से, ज्ञान से या सफलता से, ध्येय से या तथाकथित सद्गुण से अपने को परिवेष्टित कर लेना, घेर लेना जड़ बनना है, संवेदन-शून्य बनना है। प्रतिष्ठित और संवेदनशून्य व्यक्ति किसीके भी साथ सुसंवाद नहीं कर सकता। जब वे संवाद करने का प्रयत्न करते हैं, तब वे स्वविक्षेपित बातों की सहायता से ही यह साधना चाहते हैं। किन्तु यथार्थ सुसंवाद साधने के लिए मनुष्य में संवेदनशीलता, आघाताभिमुखता और कुछ न कुछ विशेष होने की इच्छा से विमुक्तता अत्यन्त आवश्यक है। यह मुक्तता वास्तव में भयमुक्तता है। प्रीति होने का अर्थ कुछ विशेष होना नहीं है। 'मैं अमूक बनूँगा' यह वृत्ति उसमें नहीं होती। जो लोग कुछ विशेष होना चाहते हैं, वे किसीसे भी सुसंवाद नहीं साध सकते। क्योंकि कुछ विशेष होने की इच्छा के कारण वे अपने को दूसरों से पृथक् कर लेते हैं। प्रीति सहजभेद्य होती है। वह मुक्त, कल्पनातीत और अज्ञात होती है। ●

७१. कृति की स्पष्टता या शुद्धता

वर्षा के स्नान से निर्मल वह प्रातःकाल बड़ा मनोरम था। पेड़ों पर नयी कोमल पत्तियाँ विलसित थीं। समुद्र पर से आनेवाली हवा के झोकों से वे कोमल पत्तियाँ नाच रही थीं। हरियाली का वैभव अपनी समृद्धि से हिल-डोल रहा था और पशु बड़ी लालसा से उस तृण-समृद्धि का आस्वाद ले रहे थे। क्योंकि, कुछ महीनों के बाद घास का तिनका तक बचनेवाला नहीं था। बाग के पुष्पों के परिमल से कमरा महक रहा था। बच्चों के हँसने-चिल्लाने की आवाज दूर से सुनाई पड़ रही थी। ताड़-वृक्षों पर सुनहरे रंग के नारियल लटक रहे थे। उधर केले के लम्बे-चौड़े पत्ते हवा से डोल रहे थे। कालपक्व होकर भी हवा की मार से वे अभी तक फटे नहीं थे। सारी पृथ्वी कितनी सुन्दर, कितनी मोहक दीख रही थी! मानो विविध रंगों की कविता ही हो! गाँव के उस पार के बड़े मकान वृक्षों की पाँत से ढँके हुए थे। उनके भी आगे सूर्यप्रकाश में चमकनेवाला सागर फैला हुआ था। उसकी मेघनाद करनेवाली प्रचण्ड लहरें ऊँचे-ऊँचे उठ-उछल रही थीं। लट्ठा बाँधकर बनी हुई एक मछलीमार नाव बहुत दूर पर दिखाई दे रही थी। उस पर बैठा हुआ अकेला कोली मछलियाँ पकड़ रहा था।

वह महिला तरुण, बीस के भीतर की थी। हाल में ही उसका विवाह हुआ था, पर समय ने अभी से उस पर अपनी छाप डालनी शुरू कर दी थी। वह कह रही थी कि वह अच्छे परिवार की है, सुसंस्कृत तथा कष्टसहिष्णु भी। उसने एम० ए० की परीक्षा ससम्मान पास की थी। उसकी बुद्धिमत्ता और तरलता उसको देखते ही ध्यान में आती थी। एक बार बोलना शुरू करने पर वह सहज और अस्खलित रूप से बोलती चली जाती। लेकिन बीच में ही उसे अचानक अपना भान हो जाता और वह चुप हो जाती। सम्भवतः वह अपना हृदय हलका करना चाहती थी। उसने बताया कि उसने अपनी समस्याओं के विषय में किसीसे, स्वयं माता-पिता से भी आज तक बात नहीं की। धीरे-धीरे, क्रम-क्रम से उसका दुःख प्रकट होने लगा। शब्द एक विशिष्ट स्तर तक ही सही अर्थ प्रकट करते हैं। उसके बाद वे अपना आशय पूरी तरह व्यक्त नहीं कर पाते हैं। कभी-कभी वे बिना किसी इरादे या उद्देश्य के विपरीत अर्थ भी ध्वनित करते हैं। वह तरुणी शब्दों से जितना भाव व्यक्त हो सकता था, उसकी अपेक्षा कितना ही अधिक बता देना चाहती थी। उसकी यह इच्छा सफल भी हो गयी। कुछ विषयों पर बोलने का भरपूर प्रयत्न करके भी वह बोल नहीं सकी। केवल एक करार के रूप में बचे हुए विशिष्ट रिश्ते के बारे में उसे जो असह्य अपमान और वेदना सहन करनी पड़ी, वह किस कोटि की है, इसे उसके मौन ने व्यक्त कर दिया। उसके पति ने उस पर आखिर हाथ भी उठा ही दिया था और वह उसे छोड़कर चला गया था, अब वह अकेली ही अपने छोटे-छोटे बच्चों के साथ रहती थी। बच्चों का कोई साथ नहीं था। अब वह क्या करे, यह प्रश्न उसके सामने मुँह बाये खड़ा था। इस समय वह पति से अलग रहती थी। उसके आगे प्रश्न यह था कि क्या वह पति के पास वापस लौट जाय?

सामाजिक प्रतिष्ठा का हम पर कितना अधिक नियन्त्रण होता है! लोग क्या कहेंगे? क्या यह लोकनिन्दा का कारण नहीं है कि कोई स्त्री अकेली रहे? ये प्रश्न ऐसे मौकों पर स्त्री के सामने खड़े रहते हैं। वस्तुतः प्रतिष्ठितपन पाखण्डीपन पर डाला गया परदा ही है। हम विचारों में चाहे जितने पाप करते हैं, लेकिन बाह्य बरताव में हम निन्दा के लिए जरा भी गुन्जाइश नहीं छोड़ते। वह तरुणी प्रतिष्ठा के पीछे ही पड़ी थी और इसीलिए उसके मन की उलझन बढ़ गयी थी। जब मनुष्य के मन में सच्ची प्रांजलता और विशुद्धता होती है, तब उसके हाथों जो-जो होता है, वह ठीक ही होता है। यह एक विलक्षण बात है। पर आन्तरिक प्रांजलता और विशुद्धता होने पर जो वास्तविक होता है, वह मनुष्य की इच्छा के अनुकूल नहीं होता। लेकिन जो होता है वही ठीक और उचित होता है। यह जो होता है, वास्तविक होता है, उसके यथार्थ आकलन से ही मनुष्य को सच्चा समाधान मिलता है। लेकिन यह आन्तरिक स्पष्टता और शुद्धता जीवन में व्यक्त होना कितना कठिन है!

" 'मुझे क्या करना चाहिए' इस सम्बन्ध में मेरे अन्तःकरण में स्पष्टता कैसे निर्माण होगी ?"

पहले स्पष्टता और शुद्धता और बाद में कृति, यह क्रम नहीं है। आन्तरिक प्रांजलता और शुद्धता ही कृति है। आपको इस बात की चिन्ता लग रही है कि आपको क्या करना चाहिए। आपको आन्तरिक प्रांजलता का उतना महत्त्व नहीं लगता। एक ओर है प्रतिष्ठा, दूसरी ओर है यह प्रश्न कि आप क्या करें ? एक ओर है आपकी आशा और दूसरी ओर है प्रत्यक्ष वस्तुस्थिति, इन दोनों सिरों की रस्साकशी के कारण आप व्याकुल हो गयी हैं। प्रतिष्ठा से मेल बैठाने की इच्छा और आदर्श कृति करने की इच्छा—इच्छाओं के इस द्वंद्व के कारण आपके मन में संघर्ष और उलझन पैदा हो गयी है। लेकिन जो वास्तविक है, उसके सच्चे स्वरूप को देखने में जब आप समर्थ होंगी, तभी आपमें सुस्पष्टता का उदय होगा। जो वास्तविक है, वह वैसा नहीं होता, जैसा कि हम चाहते हैं। हमारी चाह के अनुसार जो होना चाहिए, वह किसी विशिष्ट आदर्श के अनुसार कोई विकृत अभिलाषा ही है। जो है वह वास्तविक है, तथ्य है, प्रत्यक्ष है, उसका अभिलषित बातों से कोई सम्बन्ध नहीं। शायद आपने इस प्रश्न की ओर कभी इस दृष्टि से देखा ही नहीं। आपने अनेक प्रकार की सम्भाव्य बातों पर सोचा होगा या अपनी बुद्धि से अन्दाज लगाया होगा, एक-दूसरे को तौला होगा, एकाध योजना बनायी होगी, फिर उसके विपरीत दूसरी योजना बनायी होगी और यों तरह-तरह से विचार-मन्थन किया होगा। शायद इसी कारण आपके मन में यह उलझन पैदा हुई है जिसने आपके सामने यह प्रश्न लाकर खड़ा किया है कि मुझे 'क्या करना चाहिए'। लेकिन इस वर्तमान उलझन की मनःस्थिति में आप जो कुछ करेंगी या निश्चय करेंगी, वह आपको और भी उलझन में डाल देगा। इस वस्तुस्थिति को बिलकुल सहजता और सरलता से देखती रहें। तभी जो वास्तविक है, उसे आप अविकृत रूप से महसूस कर सकेंगी। जो वास्तवान्तर्गत है, वह हमारी कृतिशीलता लेकर ही रहता है। जो वास्तविक है उसका यदि आपको दर्शन हो जाय, तो तत्काल आपके ध्यान में आ जायगा कि आपको किसी भी प्रकार का चुनाव न करके केवल सहजकृति ही करनी है। फिर आपके सामने यह प्रश्न उठेगा ही नहीं कि आपको क्या करना है। जब मन इस बारे में सशंक रहता है कि अनेक पर्यायों में से किस एक को चुना जाय, तभी ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है। सहजकृति चुनाव करके नहीं होती। चुनावपूर्वक की जानेवाली कृति उलझन भरी ही होती है।

"आपको अब मेरी बात समझ में आने लगी है, ऐसा मुझे लगता है। स्वयं मुझमें ही दृष्टि की स्पष्टता और शुद्धता आनी चाहिए। प्रतिष्ठा का मोह, स्वार्थमूलक हिसाबीपन अथवा सौदेबाजी की वृत्ति—इन सब बातों को एक ओर रखकर मुझे

अपना स्पष्ट, स्वच्छ दर्शन करना चाहिए। मुझे यह स्पष्ट दर्शन हो रहा है। लेकिन यह स्पष्टता कायम रखना कठिन है। है न ?

नहीं, नहीं ऐसा बिलकुल नहीं है। उल्टे, किसी भी बात को कायम रखने का प्रयत्न करने का अर्थ है प्रतिकार करते रहना। आप स्पष्टता कायम रखने का प्रयत्न नहीं करती हैं और उलझन का प्रतिकार कर रही हैं। आप अनुभव कर रही हैं कि उलझन क्या चीज है और यह भी प्रत्यक्ष देख रही हैं कि उलझन से उत्पन्न होनेवाली प्रत्येक कृति अधिकाधिक उलझन ही पैदा करती है। दूसरा कोई कह रहा है इसलिए नहीं, वल्कि आप जब स्वयं ही उसका साक्षात् अनुभव करेंगी, तभी वास्तविकता का स्पष्ट दर्शन होगा। फिर आपको इस स्पष्टता को कायम रखने का प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा। वह स्पष्टता वहाँ सहज रूप से रहेगी।

"आपकी बात अब साफ-साफ मेरी समझ में आ गयी है। अब मुझे स्पष्ट, स्वच्छ दीख रहा है। सब कुछ ठीक है। लेकिन प्रेम के बारे में क्या किया जाय ? हम प्रेम का अर्थ समझते नहीं। मुझे लगता था कि पति पर मेरा प्रेम था, लेकिन उस पर मेरा प्रेम नहीं था, अब यह बात मेरे ध्यान में आ रही है।"

आपने जो कुछ कहा, उस पर से ऐसा दीखता है कि आपने अपना विवाह अकेलेपन का भय टालने के लिए, शारीरिक आवश्यकताओं तथा वासना की पूर्ति के लिए किया। ये सारी बातें प्रेम नहीं हैं, यह बात अब आप समझ गयी हैं। अपने विवाह को प्रतिष्ठा दिलाने के लिए ही शायद आपने इन सब बातों को प्रेम कहा। लेकिन वस्तुतः ये बातें केवल सुविधा के लिए ही 'प्रेम' शब्द की आड़ में स्वीकार की गयी थीं। अनेक लोगों को ये सब बातें ही 'प्रेम' लगती हैं। लेकिन उनकी यह तथाकथित प्रीति-ज्योति धुएँ से व्याप्त होती है। यह धुआँ है असुरक्षा का भय, एकाकीपन का भय, विफलता का भय, वृद्धावस्था में उपेक्षा का भय। ऐसे ही अन्य भय हैं। लेकिन यह सारी केवल एक विचार-प्रक्रिया है, जो निश्चय ही प्रेम नहीं है। विचार बार-बार यांत्रिक पुनरावृत्ति लाता है और ऐसी पुनरावृत्ति के कारण मानवीय सम्बन्धों में विकृति आती है। विचार-प्रक्रिया व्यर्थ की क्षय होनेवाली प्रक्रिया है। क्योंकि, विचार नव-निर्माण नहीं करता। जो चल रहा है, उसीके सातत्य को वह टिकाये रखना चाहता है। जिसमें सातत्य होता है, वह नूतन अथवा ताजा कैसे हो सकता है ? विचार संवेदनात्मक और इन्द्रिय-सुखानुगामी होता है। वही लैंगिक समस्या उत्पन्न करने में कारणीभूत होता है। नवनिर्माण के लिए जिस विचार का अन्त आवश्यक है, वह विचार अपना अन्त कभी नहीं लाता। विचार ही संवेदना है। संवेदना से भिन्न कोई भी रूप विचार नहीं ले पाता। विचार सदैव ही विगतकालीन, बासी और पुराना होता है। वह कभी भी नूतनता धारण नहीं कर सकता। यह आप जान ही गयी हैं कि विचार प्रेम नहीं है। जब विचारक का

अस्तित्व नहीं रहता, तभी प्रेम होता है। विचारक विचार से भिन्न वस्तु नहीं है। विचार और विचारक एक ही हैं। विचारक ही विचार है।

प्रेम संवेदनात्मक नहीं होता, वह है धूम्ररहित ज्योति। विचारक के रूप में जब आप समाप्त हो जायेंगी, तभी आपको प्रेम का दर्शन होगा। प्रेम के लिए विचारक के रूप में अपना विसर्जन कर डालना भी अर्थशून्य है। प्रेम के लिए विचारपूर्वक कोई भी कृति नहीं करनी होती। क्योंकि, प्रेम मन के द्वारा निर्मित नहीं है। प्रेम करने का निश्चय अथवा प्रेम करने के लिए साधना, ये सब प्रेमविषयक विचार ही हैं और प्रेमविषयक विचार केवल संवेदना ही होता है। सच्चे प्रेम के विषय में विचार करना विचार के लिए कभी सम्भव नहीं है। कारण, सच्चा प्रेम मन की पहुँच के परे होता है। विचार सातत्यशील होता है, जब कि प्रेम होता है अक्षय। जो अक्षय होता है, वह अखण्ड नित्यनूतन होता है और जिसका सातत्य है, उसको अन्त का, समाप्त हो जाने का सतत भय बना रहता है। जिसका अन्त आ जाता है, उसीको प्रेम के शाश्वत उदय की प्रतीति होती है।

७२. विचार-प्रणाली

वह व्यक्ति कह रहा था : "मन के अन्तःव्यापारों के विषय में अथवा मनोविज्ञान के विषय में आप जो कुछ बोलते हैं, वह सब समय का अपव्यय ही लगता है। काम और अन्न ही आज लोगों की पहली आवश्यकता है। आज जब सबसे पहले आर्थिक परिस्थिति का सामना करने की स्पष्ट आवश्यकता है, तब भी आप मानसिक विषयों पर बोलते हैं, तो क्या आप जान-बूझकर श्रोताओं को पथभ्रष्ट ही नहीं करते? आप जो कुछ कहते हैं, वह अन्त में प्रभावशाली भी सिद्ध हो सकता है। लेकिन आज जब लोग भूखों मर रहे हैं, तब ये सारी बातें कहने की क्या आवश्यकता है? खाली पेट मनुष्य के लिए कुछ भी करना अथवा किसी तरह का विचार करना क्या संभव भी है?"

यह तो ठीक है कि जीवित रहने के लिए पेट में कुछ-न-कुछ डालना ही पड़ता है। लेकिन सबको पर्याप्त अन्न दिलाने के लिए हमारी विचार-पद्धति में मूलगामी क्रान्ति आवश्यक है। इसीलिए मनुष्य के मानसिक मोर्चे पर आक्रमण करने का अधिक महत्त्व है। आपकी दृष्टि से भी अन्न-उत्पादन की अपेक्षा विचार-प्रणाली ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। गरीबों को भोजन देने की और उनकी चिन्ता ढोने की कितनी ही बातें कीजिये, लेकिन क्या आपको अपनी विशिष्ट कल्पनाओं का, विशिष्ट प्रणाली का ही महत्त्व अधिक नहीं लगता?

"हाँ, लगता है, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन विचार-प्रणाली तो सामुदायिक कृति करने के लिए, लोगों को संगठित करने का एक साधन मात्र है। कोई विशिष्ट कल्पना सामने रखे बिना सामुदायिक कृति करना सम्भव ही नहीं। पहले विशिष्ट कल्पना या योजना आती है, और बाद में तदनुसार कृति होती है।"

तो, आपकी दृष्टि से भी मानसिक तथ्यों का ही सबसे पहला महत्त्व है और आप मानते हैं कि उन्हींके द्वारा वह होनेवाली है, जिसे आप कृति कहते हैं। अतः जैसा कि आपने कहा, मानसिक तथ्यों के विषय में बोलना जान-बूझकर लोगों को पथभ्रष्ट करना है, ठीक नहीं है। आपके कथन का आशय शायद यह है कि आपकी विचार-प्रणाली ही एकमेव तर्कसंगत विचार-प्रणाली है, इसलिए अन्य किसी बात की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं। अपनी विशिष्ट विचार-प्रणाली को अमल में लाने के लिए आप सामुदायिक कृति चाहते हैं। इसीलिए आप कहते हैं कि मानसिक प्रक्रिया का अधिक गहरा विचार करना केवल समय का अपव्यय है, इतना ही नहीं, प्रमुख मुद्दे से च्युत होना है। आपका मुख्य मुद्दा यही लगता है कि वर्गविहीन समाज-रचना करके सबको काम दिया जाय।

"देखिये, हमारी यह विचार-प्रणाली दीर्घ ऐतिहासिक अध्ययन का परिणाम है। प्रत्यक्ष घटनाओं का वह निरूपण अथवा भाष्य है। वह वास्तविकता पर आधृत विचार-प्रणाली है, धार्मिक अन्धश्रद्धा पर आधृत नहीं। हमारी विचार-प्रणाली के लिए प्रत्यक्ष अनुभवों का आधार है। भ्रम अथवा स्वप्नरंजन दर्शन पर वह आधृत नहीं है।"

लेकिन संगठित धर्मों की विचार-प्रणालियाँ अथवा उनके आप्तवाक्य भी अनुभवों पर ही आधृत होते हैं। इस-उस धर्म का जो प्रेषित होता है, कम-से-कम उसीके साक्षात् अनुभवों पर वे (विचार-प्रणालियाँ या आप्तवाक्य) आधृत होते हैं। धार्मिक विचार-प्रणाली तुलनात्मक अध्ययन, और विशिष्ट घटनाओं की स्वीकृति तथा अन्य घटनाओं की अस्वीकृति में से ही उत्पन्न हुई होगी। आपकी प्रणाली को अनुभवों का आधार होगा। लेकिन दूसरों की विचार-प्रणाली भी तो अनुभवों पर ही आधृत होती है, तब उन्हें कल्पनात्मक कहकर हलके स्तर की कहने का क्या कारण है? जैसे आप अपनी विचार-प्रणाली के चारों ओर विशिष्ट लोगों को एकत्र करते हैं, वैसे ही दूसरी विचार-प्रणाली के प्रवर्तक भी अपनी-अपनी विचार-प्रणाली के चारों ओर लोगों को एकत्र करते हैं। जैसे आप सामुदायिक कृति चाहते हैं वैसे ही वे भी चाहते हैं। हाँ, सामुदायिक कृति को रूप देने का उनका मार्ग भिन्न हो सकता है। लेकिन आप जिसे सामुदायिक कृति कहते हैं, उसमें प्रत्येक में कल्पना ही आधार रहती है। आप दोनों को सामुदायिक कृति के लिए किसी न किसी प्रवृत्तिशील या निवृत्तिशील कल्पना का

ही महत्त्व लगता है। वास्तव में देखा जाय तो प्रत्येक विचार-प्रणाली को अनुभव का आलम्बन रहता है। अन्तर इतना ही है कि आप उनके अनुभवों के प्रामाण्य से इनकार करते हैं और वे आपके अनुभवों के प्रामाण्य से। वे आप पर आक्षेप करते हैं कि आपकी विचार-पद्धति अव्यावहारिक है और वह मनुष्य को गुलाम बना डालेगी। इससे उल्टे, आप उन्हें युद्ध-पिपासु कहते हैं और उनकी विचार-पद्धति को मानव को आर्थिक विनाश के गर्त में ढकेल देनेवाली बताते हैं। सारांश यह कि आप दोनों के लिए विचार-प्रणाली का ही विशेष महत्त्व है, न कि लोगों को भोजन पहुँचाने या सुखी बनाने का। आप दोनों की विचार-प्रणालियाँ परस्पर टकरा रही हैं और बेचारे गरीब लोगों को आप दोनों ही पूरी तरह भूल गये हैं।

"लेकिन मनुष्य को बचाने के लिए ही हमें मनुष्य को भूलना पड़ रहा है। भावी मानव को बचाने के लिए ही हम वर्तमान का बलिदान कर रहे हैं।"

भविष्य के लिए आप वर्तमान का इस तरह बलिदान कर रहे हैं? ईसाइयों की धर्म-संस्था ने जैसे ईश्वर के नाम पर दैवी सत्ता के सूत्र अपने हाथ में ले लिये, वैसे ही आप भी शासन-संस्था के नाम पर उसी दैवी सत्ता के सूत्र छीन लेना चाहते हैं। आप दोनों के ही अपने-अपने देव हैं, अपने-अपने धर्म-ग्रन्थ हैं, इन धर्म-ग्रंथों के अपने-अपने अधिकारी भाष्यकार हैं और अपने-अपने धर्मगुरु हैं। इन अधिकारी भाष्यकारों ने जो कुछ प्रमाण के रूप में तय कर दिया, उससे च्युत होनेवाले के लिए आप दोनों के ही पवित्र ग्रंथों में कठोर दण्ड का विधान है। यों देखें तो आप दोनों में अन्तर बहुत कम है, साम्य अधिक है। आप दोनों की विचार-प्रणालियों में भिन्नता हो सकती है, लेकिन दोनों की ही हेतुसिद्धि की प्रक्रिया तो करीब-करीब एक सरीखी है। आप दोनों ही भविष्य के मनुष्य को बचाने के लिए, वर्तमान के मनुष्य का बलिदान करना चाहते हैं। मानो, आपको सारा भविष्य ज्ञात है, मानो भविष्य खम्भे जैसी कोई अचल वस्तु है, और मानो वह भविष्य भी अकेले आपकी ही बपौती है! वस्तुस्थिति तो यह है कि आप दोनों ही अन्य लोगों की भाँति भविष्य के विषय में सशंक हैं। जिस वर्तमान में भविष्य निर्मित होता है, उस वर्तमान के उदर में न जाने कितनी अज्ञात, अकल्पनीय बातें छिपी रहती हैं। भविष्य में मनुष्य को आदर्श समाज-रचना प्राप्त होगी अथवा उसे स्वर्ग प्राप्त होगा, ऐसा अभिवचन आप दोनों ही देते हैं, लेकिन भविष्य किसीका भी मनोनिर्मित निर्णय नहीं है। कल्पनाओं का अथवा विचारों का सम्बन्ध सदैव भूत से अथवा विकल्पित भविष्य से ही आता है, वर्तमान से कभी नहीं आता। वर्तमान किसी कल्पना का विषय ही नहीं है, क्योंकि वर्तमान का अर्थ है शुद्ध कृतिशीलता। यथार्थ कृति यही है। अन्य किसी कृति को कृति का स्थगन ही माना जायगा। वस्तुतः भूतकाल की अथवा विकल्पित भविष्य-काल की कल्पना पर आधृत कृति कृतिशून्यता ही है। सही कृति केवल वर्तमान में ही, चालू क्षण में ही

होती है, और कल्पना सदैव भूत की अथवा विकल्पित भविष्य की ही होती है, वर्तमान की हो ही नहीं सकती। विचार-प्रणाली के भक्तों की दृष्टि में भूत अथवा भविष्य अचल पत्थर जैसा स्थिर होता है। क्योंकि वह स्वयं ही भूत अथवा भविष्य पर पोषित हुआ है। विचार-प्रणाली का भक्त वर्तमान में कभी नहीं रहता। उसकी दृष्टि में यथार्थ जीवन केवल भूत में या भविष्य में ही बनता है, वर्तमान में नहीं। कल्पना अथवा विचार सदैव भूतकालीन ही होता है और वर्तमान में से होकर भविष्य की ओर यात्रा करता है। विचार-प्रणाली के भक्त की दृष्टि में वर्तमान भविष्य की ओर ले जानेवाला केवल एक गलियारा है, और इसलिए वर्तमान का कोई महत्त्व नहीं है। उसकी दृष्टि में साधन का कोई महत्त्व नहीं है, महत्त्व केवल साध्य का है। साध्य प्राप्त करने के लिए ये लोग चाहे जैसे साधनों का उपयोग कर लेते हैं। उनकी दृष्टि में उनका साध्य या ध्येय अचल और स्थिर होता है और भविष्य उन्हें पूरी तरह ज्ञात होता है। इसलिए साध्य को प्राप्त करने के मार्ग में जो कोई प्रतिरोधक आता है, उसका वे सफाया कर डालते हैं।

"कृति करने के लिए अनुभव आवश्यक है। कल्पनाएँ या व्याख्याएँ अनुभवों से ही सूझती हैं। अनुभव के अस्तित्व को तो आप भी अमान्य नहीं करते। कल्पना की चौखट विहीन जो कृति होती है वह केवल अराजक ही होती है। उसमें केवल विश्रृंखलता, धाँधली रहती है। ऐसी कृति का पर्यवसान पागलों के अस्पताल में ही होता है। विचार की धारक शक्ति के बिना की जानेवाली कृति की वकालत आप क्यों करते हैं? मन में पहले कल्पना या विचार के आये बिना मनुष्य के लिए कोई भी कृति करना सम्भव है क्या?"

देखिये, आपका कहना है कि विचार, स्पष्टीकरण या निर्णय अनुभव में से ही निकलते हैं। अनुभव के बिना ज्ञान नहीं और ज्ञान के बिना कोई कृति नहीं। लेकिन वस्तुस्थिति क्या है? कल्पना कृति के बाद आती है या पहले कल्पना आती है और बाद में कृति होती है। आप कहते हैं कि पहले अनुभव होता है और बाद में कृति होती है। लेकिन क्या यह सच है? आप अनुभव का क्या अर्थ करते हैं।

"अनुभव का अर्थ है किसी अध्यापक का, किसी बड़े लेखक का अथवा किसी क्रांतिकारी का ज्ञान। यह ज्ञान उसने अभ्यास से अथवा अपने या दूसरों के अनुभवों के आधार पर प्राप्त किया है। ऐसे ज्ञान से अथवा अनुभव से नया विचार अथवा नयी कल्पना साकार होती है। और फिर इस विचार-प्रणाली से कृति का जन्म होता है।"

अनुभव क्या वास्तविकता को परखने की एकमात्र कसौटी है। 'अनुभव' शब्द का हम क्या अर्थ करते हैं। इस समय हम जो बातचीत कर रहे हैं, वह भी अनुभव ही है। आप इस समय बाह्य उत्तेजना को या चुनौती को उत्तर दे रहे हैं, यह उत्तर

ही अनुभव है, है न। चुनौती और उत्तर करीब-करीब एक ही समय घटनेवाली प्रक्रिया है। अनुभव का यह व्यापार एक विशिष्ट पार्श्वभूमि के साँचे में ही सतत चलता रहता है। यह विशिष्ट पार्श्वभूमि ही चुनौती को उत्तर देती है। यह उत्तर ही अनुभव है, है न? ये उत्तर उस विशिष्ट पूर्वसंस्कारबद्ध पार्श्वभूमि में से ही दिये जाते हैं। अनुभव सदैव पूर्वसंस्कारबद्ध होता है। उसमें से पैदा होनेवाली कल्पना या विचार भी वैसा ही है। इसलिए विचार अथवा कल्पना पर आधृत कृति पूर्वसंस्कारबद्ध और मर्यादित ही होती है। किसी अनुभव या विचार का विरोधी दूसरा अनुभव या विचार रखने से समन्वय नहीं होता, बल्कि अधिकाधिक विरोध ही उत्पन्न होता है। परस्पर विरोध में से समन्वय का जन्म होना कभी सम्भव नहीं। जब विरोध शून्यवत् हो जाता है, तभी एकात्मता का उदय होता है। लेकिन कल्पना तो सदैव पारस्परिक विरोध और संघर्ष पैदा करती है। संघर्ष में से समन्वय का निर्माण तो किसी भी परिस्थिति में सम्भव नहीं है।

अनुभव चुनौती को पूर्वसंस्कारबद्ध पार्श्वभूमि की ओर से दिया जानेवाला उत्तर होता है। यह पार्श्वभूमि भूतकाल से प्रभावित होती है, भूतकाल का अर्थ है—स्मृति। स्मृति का दिया हुआ उत्तर ही कल्पना है। इसलिए अनुभव या ज्ञान के नाम से जानी जानेवाली स्मृति पर आधृत विचार-प्रणाली कभी भी क्रांतिकारी नहीं हो सकती। वह अपने को भले ही क्रांतिकारी कह ले, लेकिन वस्तुतः उसका स्वरूप भूतकाल के सातत्य से निर्मित थोड़ा-सा परिवर्तन मात्र होता है। कोई भी विरोधी विचार-प्रणाली अथवा सिद्धान्त आखिर एक कल्पना ही होता है। कल्पना सदैव भूतकालीन होती है। इसलिए कोई भी विचार-प्रणाली एकमात्र सत्य विचार-प्रणाली नहीं हो सकती। लेकिन यदि आप कहें कि आपकी विचार-प्रणाली भी अन्य लोगों की भाँति मर्यादित, पूर्वग्रहग्रस्त और पूर्वसंस्कारबद्ध है तो आपको अनुयायी ही नहीं मिलेंगे। इसलिए आपको घोषणा करनी पड़ेगी कि यदि कोई विचार-प्रणाली संसार को बचा सकती है तो वह हमारी ही प्रणाली है। हममें से अधिकांश लोगों में सूत्रबद्ध सिद्धान्तों से अथवा निर्णयों से चिपके रहने की आदत होती है जिसके चलते हमें चाहे जितने अनुयायी मिल जाते हैं। घोषणा करनेवाला स्वयं ही जिस प्रकार शोषित होता है, उसी प्रकार अनुयायियों का भी भरपूर शोषण किया जाता है।

विचार अथवा कल्पना पर आधृत कृति कभी मुक्ति प्रदान नहीं कर सकती। वह सदैव बंधनकारक ही होती है। किसी हेतु की या साध्य की पूर्ति के लिए की जानेवाली कृति अन्ततः कृतिशून्यता ही सिद्ध होती है। तात्कालिक रूप में भले ही ऐसा लगे कि वह सही कृति है, किन्तु वस्तुतः यह कृति आत्मघातक ही सिद्ध होती है। दैनन्दिन जीवन में तो हमें यह अनुभव सदैव ही आता है।

"लेकिन क्या कभी मनुष्य पूर्वसंस्कारों की प्रतिक्रिया से मुक्त हो सकेगा ? हम तो समझते हैं कि यह असम्भव है।"

यहाँ भी आपकी कल्पना या निष्ठा ही आपके लिए बंधनकारी हो रही है। आपकी कोई विशिष्ट निष्ठा होती है और दूसरे की उस पर बिलकुल निष्ठा नहीं होती। आप दोनों ही अपनी-अपनी निष्ठाओं के अथवा निर्णयों के गुलाम हैं। अपने-अपने पूर्वसंस्कारों की भाँति आपको अलग-अलग अनुभव होते हैं। इससे मुक्त होना सम्भव है या नहीं, इसका शोध करने के लिए पहले इस बात की खोज करनी चाहिए कि हमारे पूर्वसंस्कार अथवा हम पर पड़नेवाले विविध प्रभावों की सम्पूर्ण प्रक्रिया कैसी है। इस प्रक्रिया का आकलन होना ही आत्मज्ञान है। ऐसे आत्मज्ञान द्वारा ही बंधन से मुक्ति मिलती है। यह मुक्ति सभी प्रकार की निष्ठाओं और कल्पनाओं से सर्वथा शून्य होती है।

७३. सौन्दर्य

वह देहात यों तो गन्दा था, पर उसकी हर झोपड़ी के चारों ओर की जगह झाड़ी-बुहारी, साफ-सुथरी थी। झोपड़ियों के आगे की सीढ़ियाँ प्रतिदिन लीप-पोतकर, छिड़काव करके स्वच्छ की जाती थीं और अल्पना से पूरी भी जाती थीं। उस झोपड़ी का भीतरी भाग भी स्वच्छ और साफ-सुथरा था। हाँ, चूल्हे के धुएँ का कुछ प्रभाव अवश्य था। झोपड़ी में सारा कुटुम्ब था—माँ, बाप और बच्चे। वृद्ध महिला सम्भवतः दादी थी। वे सब लोग खुश दिखाई दे रहे थे। उनके चेहरों पर आश्चर्यजनक समाधान था। शब्दों की भाषा में उनसे बोलना सम्भव नहीं था, क्योंकि हम उनकी भाषा नहीं जानते थे। हम कुछ देर तक बैठे रहे। लेकिन ऐसा नहीं लगा कि किसीको संकोच हुआ हो। बड़े लोग अपना-अपना काम कर रहे थे। लेकिन एक लड़का और एक लड़की मुसकराते हुए हमारे पास आकर बैठ गये थे। शाम का भोजन लगभग तैयार हो चला था और वह नपा-तुला ही दीखा। हम जब वहाँ से उठे, तो सभी लोग हमारी ओर देखते रहे। नदी की ओर सूर्य एक बड़े से बादल की आड़ में छिप गया था। भीतर के प्रकाश के कारण मानो वह मेघ जल रहा था। पानी में पड़नेवाला उसका प्रतिबिम्ब वन के बड़वानल की भाँति लाल-लाल चमक रहा था।

झोपड़ियों की लम्बी क़तारों के बीच में एक चौड़ा-सा रास्ता था। इस रास्ते के दोनों ओर खुली नालियाँ थीं और उसमें नाना प्रकार की गन्दगी सड़ रही थी। नालियों की काली कीचड़ में सफेद कीड़े बिलबिला रहे थे। रास्ते पर लड़के अपने-अपने खेल में रमे हुए थे। उनका हँसना और चिल्लाना मुक्त रूप से चल रहा था। आने-जाने-

वालों की ओर उनका बिलकुल ध्यान नहीं था। आकाश की ज्वलन्त पार्श्वभूमि में नदी-तट पर ताड़-खजूर के पेड़ों की पाँत खड़ी थी। झोपड़ियों के अगल-बगल बकरियाँ, भेड़ें, गायें और सुअर डोल रहे थे। उनमें से कोई बकरी या दुबली-पतली गाय लड़कों के रास्ते में आ जाती तो वे उसे दूर भगा देते। अँधेरा होने लगा था, अतः गाँव की हलचल धीमी पड़ने लगी और माताओं की पुकार कानों में पड़ते ही खेलनेवाले लड़के चुप होकर अपने-अपने घर की ओर चल पड़े।

उस प्रशस्त भवन का बगीचा अत्यन्त रमणीय था। उसके चारों ओर शुभ्र दीवालें थीं। बगीचा बहार पर था और रंग-रंग के सुन्दर फूलों की गन्ध चारों ओर फैल रही थी। लगता था कि इस बगीचे की सार-सँभाल पर काफी पैसा खर्च किया गया है और भरपूर ध्यान भी दिया गया है। बगीचे में एक अलौकिक शान्ति व्याप्त थी। लता वृक्ष सभी बहार पर थे। उस विशाल वृक्ष का सौन्दर्य आसपास के बढ़नेवाले छोटे-बड़े पेड़-पौधों का रक्षण कर रहा है, ऐसा लग रहा था। बगीचे का फव्वारा तो अनेक पक्षियों का क्रीड़ा-स्थल रहा होगा। लेकिन अब वह केवल एकाकी था। लगता था, मानो वह शान्तिपूर्वक गुनगुनाते हुए रिमझिम कर रहा था। रात होने लगी थी, इसलिए सारा वस्तुजगत् मानो अपने-अपने घोंसले में सिमट रहा था।

वह एक नर्तकी थी। नृत्य उसका व्यवसाय नहीं था, शौक था। कुछ लोगों की दृष्टि में वह अच्छी नर्तकियों में से थी। उसे अपनी कला पर गर्व था, क्योंकि उसमें एक प्रकार की उद्धतता दिखाई दे रही थी, जो उसकी कला-सिद्धि के बोध से ही नहीं आयी थी, उसकी आध्यात्मिक प्रगति के आन्तरिक बोध से भी आयी थी। जैसे कोई अपने लौकिक यश से सन्तुष्ट होता है, वैसे ही वह अपनी आध्यात्मिक उन्नति से संतुष्ट थी। आत्मोन्नति भी एक प्रकार की स्वनिर्मित वंचना ही होती है। यह वंचना अत्यन्त संतोषदायी होती है। वह रत्नाभरण पहने थी। उसके नाखून रँगे हुए थे और होंठ भी। वह केवल नृत्य ही नहीं करती थी, बल्कि कला, सौन्दर्य और आध्यात्मिक उन्नति जैसे विषयों पर भाषण भी करती थी। उसके चेहरे पर गर्व और महत्त्वाकांक्षा दोनों के ही लक्षण प्रतिबिम्बित थे। कलावन्त के नाते ही नहीं, आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत व्यक्ति के नाते भी कीर्ति प्राप्त करने की उसकी अभिलाषा थी। कला की अपेक्षा आध्यात्मिकता का जोर अधिक बढ़ने लगा था।

उसने बताया कि उसकी कोई वैयक्तिक समस्या नहीं है, लेकिन सौन्दर्य और अध्यात्म के विषय में वह कुछ बोलना चाहती है। व्यक्तिगत समस्याओं का उसके लिए कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि ये समस्याएँ सदैव मूर्खतापूर्ण तथा क्षुद्र होती हैं। कुछ व्यापक प्रश्नों के प्रति उसे जिज्ञासा है। जैसे, सौन्दर्य क्या है? सौन्दर्य आन्तरिक होता है या बाह्य? सौन्दर्य आत्मनिष्ठ होता है या वस्तुनिष्ठ? या वह दोनों का सम्मिश्रण होता है? ऐसे उसके प्रश्न थे। अपने मत के सही होने के बारे में उसका

निश्चय पक्का दिखाई दे रहा था। लेकिन ऐसी निश्चयात्मकता का अर्थ है सौन्दर्य से पीठ फेरना। निश्चयात्मक रहकर मनुष्य अपने को समेट लेता है और अपने को दुर्भेद्य बना डालता है। सहजभेद्यता के बिना विमुक्तता के बिना संवेदन-शीलता कैसे आयेगी ?

"तब फिर सौन्दर्य क्या है ?"

आप सौन्दर्य की कोई बनी-बनायी तैयार व्याख्या सूत्र या परिभाषा चाहती हैं या इस विषय पर खुले मन से शोध करना चाहती हैं ?

"किन्तु शोध करने के लिए मनुष्य के पास क्या कोई साधन, उपकरण नहीं होना चाहिए ? कुछ जाने बिना अथवा किसी स्पष्टीकरण का आधार लिये बिना मनुष्य शोध कैसे कर सकेगा ? हम कहाँ जानेवाले हैं, इसका हमें पहले ज्ञान होगा, तभी न हम निश्चित दिशा की ओर कदम बढ़ा सकेंगे ?"

लेकिन पूर्वज्ञात क्या शोध के लिए प्रतिबन्धक नहीं होता ? आपको यदि पहले ही कोई तथ्य ज्ञात हो गया हो, तो फिर शोध किसका और किसके लिए ? 'ज्ञात' शब्द का प्रयोग क्या इस बात का निदर्शक नहीं है कि शोध समाप्त हो गयी ? 'ज्ञात है' यह मानना शोध करना नहीं है। आप अपने प्रश्न के उत्तर के रूप में कोई व्याख्या, कोई परिभाषा या कोई निर्णय चाहती हैं, ऐसा दीखता है। सौन्दर्य की बात ले लीजिये। सौन्दर्य का कोई निश्चित माप हो सकता है क्या ? किसी पूर्वज्ञात या कल्पित आदर्श के निकट आनेवाला ही सौन्दर्य है, ऐसा कहा जा सकता है। सौन्दर्य क्या ऐसा कोई अमूर्त तत्त्व है, जो चौखट के बिना रहता है ? क्या कभी सौन्दर्य परिवेष्टित और पृथक् स्वरूप का होता है ? जो पृथक् होता है, वह कभी एकात्मक हो सकता है ? हृदय में खुलापन या विमुक्तता न रहे, तो बाह्य स्वरूप कभी सुन्दर रह सकता है ? सौन्दर्य का अर्थ क्या शृंगार और अलंकरण है ? सौन्दर्य का बाह्य दिखावा नाजुक संवेदनशीलता का द्योतक हो सकता है ? आप किस बात के पीछे पड़ी हैं ? क्या आप बाह्य और आन्तरिक का संयोग चाहती हैं ? लेकिन आंतरिक सौन्दर्य नहीं होगा तो बाह्य सौन्दर्य कैसे रह सकेगा ? इन दोनों में से किस पर आपका जोर है ?

"मेरा तो दोनों पर जोर है। सर्वांग सुन्दर रूप के बिना सर्वांग सुन्दर जीवन कैसे सम्भव है ? सौन्दर्य बाह्य और आन्तरिक, दोनों का संयोग ही है।"

तो, सुन्दर होने के लिए आवश्यक सूत्रबद्ध नियम आपके पास हैं, ऐसा दीखता है। लेकिन ऐसे सूत्रबद्ध नियम होते हैं केवल शब्दों का समुच्चय। वह सौन्दर्य नहीं है। सुन्दर बनने की प्रक्रिया का अर्थ सुन्दर होना नहीं है। आप चाहती क्या हैं ?

"मैं अंत:सौंदर्य और बाह्य सौंदर्य, दोनों चाहती हूँ। फूलों का सौंदर्य खुलकर दीखने के लिए फूलदान भी सुन्दर होना चाहिए।"

लेकिन संवेदनशीलता के बिना क्या आंतरिक सुसंगति रह सकती है ? इसी तरह उसके बिना बाह्य सुसंगति भी रह सकती है क्या ? सुन्दर हो या असुन्दर, किसीका भी दर्शन करने के लिए क्या संवेदनशीलता आवश्यक नहीं है ? सौंदर्य का दर्शन करने का अर्थ क्या असुन्दर का, कुरूप का दर्शन टालना ही है ?

"हाँ, और क्या ?"

अच्छा। सद्गुण का अर्थ दुर्गुण का प्रतिकार करना अथवा उसे टालना है क्या ? जहाँ किसीका भी प्रतिकार होता है, वहाँ क्या संवेदनशीलता रह सकती है ? संवेदनशीलता के लिए क्या विमुक्तता आवश्यक नहीं है ? जो स्व-संकुचित, स्व-परिवेष्टित होता है, क्या वह संवेदनशील हो सकता है ? क्या महत्त्वाकांक्षी मनुष्य कभी संवेदनशील रह सकता है ? क्या उसमें सौंदर्य की ग्रहणक्षमता हो सकती है ? क्या सौन्दर्य-ग्रहण के लिए संवेदनशीलता की, जो जैसी वास्तविकता में होगी, वैसी वह ग्रहणक्षमता आवश्यक नहीं है ? जिसे हम सुन्दर कहते हैं उससे एकरूप होते रहना और जिसे हम असुन्दर या कुरूप कहते हैं, उसे टालते रहना, यही हम चाहते हैं। हम इस सुन्दर बगीचे से एकरूप होना चाहते हैं, लेकिन उस गन्दे गाँव की ओर से आँख मूँद लेना चाहते हैं। हम एक का प्रतिकार करना चाहते हैं, पर दूसरे को ग्रहण करना चाहते हैं। लेकिन किसीसे भी एकरूप होने की क्रिया क्या वास्तव में दूसरे किसीके भी प्रतिकार की ही क्रिया नहीं है ? किसीका भी प्रतिकार किये बिना अथवा किसीकी भी तुलना किये बिना—उस गाँव और उस बगीचे का बराबर अवधान रखना ही संवेदनशील होना है। आप तो सुन्दर और सद्गुण के विषय में संवेदनशील रहना चाहती हैं और असुंदर एवं दुर्गुण का प्रतिकार करना चाहती हैं। लेकिन संवेदनशीलता या सहजभेद्यता एक सम्पूर्ण प्रक्रिया है। आपको जहाँ संतोष हो, उस विशिष्ट स्तर पर उसे तोड़ा नहीं जा सकता।

"लेकिन मैं तो सौन्दर्य और संवेदनशीलता, दोनों चाहती हूँ।"

क्या सचमुच आप ये दोनों चाहती हैं ? यदि ऐसा हो तो आपका यह केवल सौन्दर्य-विषयक आग्रह दूर होना चाहिए। आपकी यह सौन्दर्य-लालसा, यह सौंदर्य-पूजा वास्तविकता से अथवा अपने से दूर भागने का बहाना है। है या नहीं ? जो जैसा है, वैसा ही आपको अवधान नहीं रहेगा, आप जैसी हैं, वैसा ही अवधान आपको नहीं रहेगा तो आप संवेदनशील कैसे रह सकती हैं ? जो लोग महत्त्वाकांक्षी होते हैं, चतुर या मक्कार होते हैं, या सौन्दर्योपासक होते हैं, वे केवल स्वविक्षेपित वस्तुओं की ही पूजा करते हैं। वे अपने को पूरी तरह परिवेष्टित कर लेते हैं। वे

अपने चारों ओर परकोटा खड़ा कर लेते हैं। ऐसी परिवेष्टित पृथक् अवस्था में किसीका भी रहना सम्भव नहीं। अतएव इन सबके सामने केवल दुःख ही फैला हुआ रहता है। यह सौन्दर्य का शोध, ये कलाविषयक भाषण, सबके सब जीवन से दूर भागने के यानी सपने से दूर-दूर जाने के प्रतिष्ठाप्राप्त और मान्यताप्राप्त कोरे बहाने हैं।

''लेकिन संगीत तो ऐसा बहाना नहीं है न ?''

जब अपना आकलन करने के बदले संगीत की पूजा की जाती है, तब संगीत भी बहाना बन जाता है। अपना आकलन किये बिना होनेवाली सारी क्रियाऐं मनुष्य को भ्रम, उलझन और दुःख की ओर ही खींचकर ले जाती है। लेकिन जब अपने विचारों के और अहं के समस्त व्यापारों का आकलन हो जाता है, जब अहं-केन्द्रिता-शून्य विमुक्तता आ जाती है, तभी संवेदनशीलता का उदय होता है। ●

७४. एकात्मता

कुतिया के वे स्वच्छ और पुष्ट पिल्ले गुनगुनी बालू में मजे से खेल रहे थे। छहों पिल्लों का रंग सफेद था और उन पर थोड़े से फीके भूरे रंग के चिट्टे थे। उनकी माँ कुछ दूर छाया में बैठी थी। वह दुबली-पतली, थकी हुई और कृश दीख रही थी। खुजली के कारण उसके शरीर पर एक भी बाल नहीं बचा था। उसके शरीर पर जगह-जगह घाव हो गये थे। लेकिन उसे अपने हृष्टपुष्ट पिल्लों का इतना गौरव था कि उनकी ओर बार-बार देखकर पूँछ हिला देती थी। ऐसा लग रहा था कि वह महीनेभर से ज्यादा नहीं जीयेगी। दरिद्र गाँव के आसपास अथवा गन्दे रास्तों पर सड़ा-गला जो कुछ मिल जाय वही खानेवाले कुत्तों में से ही वह भी थी। ऐसे कुत्ते बेचारे सदा भूखे रहते हैं और इधर से उधर भागते फिरते हैं। लोगों ने इस कुतिया को शायद पत्थर मार-मारकर भगा दिया था। इसलिए बेचारी मनुष्यों से बच रही थी। लेकिन यहाँ इस छाया में, कल के दुःखों की स्मृति भूतकाल में विलीन हो गयी थी। थकी-माँदी वह पड़ी थी। वह देख रही थी कि उसके पिल्लों के साथ लाड़-प्यार किया जा रहा है। संध्या होने लगी थी। उस विशाल पाटवाली नदी पर से बहनेवाली वायु ठंडी और सुखद लग रही थी। कम-से-कम उस क्षण तो सर्वत्र समाधान व्याप्त था। उस कुतिया को पुनः कब खाने को मिलेगा, यह समस्या तो थी। लेकिन इस घड़ी तो इसके लिए दौड़धूप करने की उसकी इच्छा नहीं थी।

उस देहात को पार कर नदी-किनारे जाते हुए हरे-भरे खेत लगे। उनके आगे उस धूलभरे रास्ते से थोड़ा आगे जाने पर घर आ गया। वहाँ कुछ लोग चर्चा के लिए प्रतीक्षा कर रहे थे। उस मण्डली में नाना तरह के लोग थे। कुछ विचारक और उत्सुक वृत्ति के थे, तो कुछ आलसी और शुष्क वाद-विवाद करनेवाले। कुछ होशियार और हाजिरजवाब थे, तो कुछ निश्चित व्याख्या और सिद्धान्त से चिपके रहनेवाले। चर्चा की बातें तत्काल जिसकी समझ में नहीं आती थीं, उनके बारे में विचारक सहनशीलता दिखाते थे, लेकिन होशियार और हाजिरजवाब लोग एकाध कठोर या चुभते शब्द सुना देते थे। लेकिन आखिर उन मन्दबुद्धि लोगों को इन होशियार लोगों के साथ-साथ घिसटना ही पड़ता था। वस्तुतः सही आकलन बिजली की चमक की भाँति एकदम कौंध उठता है। उसके लिए शब्दों के बीच-बीच में निस्तब्धता को थोड़ा समय देना पड़ता है। लेकिन ये होशियार लोग इतने उतावले होते हैं कि आकलन की दो जोरदार धाराओं में आवश्यक समय रहने देने को तैयार ही नहीं होते। सही आकलन शाब्दिक नहीं होता। बौद्धिक आकलन तो निरा वस्तुशून्य विकल्पन ही होता है। बौद्धिक आकलन केवल शाब्दिक स्तर का होता है, अतः वह सही आकलन हो ही नहीं सकता। किसी विचार का प्रभाव पड़ने से या उनका परिणाम होने से आकलन कभी प्रकट नहीं होता। विचार केवल शब्दनिष्ठ होता है। स्मृति के बिना विचार का उद्‌भव नहीं हो सकता। स्मृति तो केवल शब्द, प्रतीक और प्रतिभा-निर्माण की ही प्रक्रिया है। स्मृति अथवा शब्दों के स्तर पर सही आकलन नहीं होता। शब्दों के कारण विचार के आकार में आने के पूर्व जो मध्यन्तर होता है, उसीमें आकलन होता है। जैसे सही आकलन होशियार लोगों को नहीं होता, वैसे ही मन्दबुद्धि लोगों को भी नहीं होता। जिन लोगों को इन दो शब्दों के बीच असीम, अमाप मध्यन्तर का अवधान होता है, उन्हींको सही आकलन हो सकता है।

'विघटन क्या है', यह हम जानना चाहते हैं। आज सारे जगत् में मानवीय सम्बन्धों का विघटन अथवा ह्रास बड़ी तेजी से हो रहा है और हममें तो और भी तेजी से हो रहा है। यह विघटन कैसे रोका जा सकता है? मानव-मानव में एकात्मता कैसे निर्माण होगी ?'' एक व्यक्ति ने प्रश्न किया।

विघटन कैसे होता है, उसके व्यापारों के सम्बन्ध में यदि हम सतत जागरूक रहें, तो एकात्मता सहज रूप से हो जायगी। एकात्मता हमारे जीवन के किसी एकाध स्तर पर मूर्त नहीं होती। एकात्मता सम्पूर्ण जीवन में ही व्यक्त होती है। लेकिन उसके लिए 'विघटन' शब्द से हम निश्चित रूप से क्या समझते हैं, इसका पहले पता लगा लेना चाहिए। ठीक है न? यह भी देखना चाहिए कि क्या संघर्ष

विघटन का निदर्शक है ? हमें विघटन की कोई परिभाषा नहीं करनी है, बल्कि इस बात का शोध करना है कि उस शब्द से क्या सूचित होता है।

"संघर्ष करते रहना क्या मनुष्य के लिए अपरिहार्य नहीं है ? सम्पूर्ण जीवन ही तो एक प्रदीर्घ संघर्ष है ! संघर्ष नहीं होगा तो जीवन को क्षय लग जायगी। किसी ध्येय की दिशा में यदि हम लगातार संघर्ष नहीं करते रहेंगे, तो हमारा अधःपतन होता जायगा। संघर्ष करते रहना जीवन के लिए श्वासोच्छ्वास की भाँति आवश्यक है।"

देखिये, कोई निश्चयात्मक या शृंखलाबद्ध विधान करते ही सारा शोध वहीं रुक जाता है। हम विघटन के तथ्यों को खोज निकालना चाहते हैं। संघर्ष या दौड़धूप शायद उसका तथ्य है। इसलिए इस शब्द से हम क्या समझते हैं, इसे देखें।

"स्पर्धा, प्रयत्न, साध्य-प्राप्ति की कामना और असमाधान इत्यादि को हम संघर्ष या दौड़धूप शब्द से सूचित करते हैं।"

संघर्ष जीवन के एक ही स्तर पर नहीं चलता, वह तो सम्पूर्ण स्तरों पर चलता रहता है। कुछ विशेष होने की प्रक्रिया का ही अर्थ संघर्ष या दौड़धूप है। है या नहीं ? क्लर्क का व्यवस्थापक होने के लिए प्रयत्न करना, मामूली धर्मोपदेशक का बिशप होने के लिए प्रयास करना, शिष्य का गुरु बनने के लिए दौड़धूप करना—इस तरह कुछ विशेष होने की प्रक्रिया ही दौड़धूप, प्रयत्न या संघर्ष है।

"लेकिन कुछ विशेष बनने की प्रक्रिया के बिना, इस दौड़धूप के बिना क्या हमारा काम चल सकता है ? क्या वह जीवन की एक आवश्यकता ही नहीं है ? मनुष्य प्रयत्न या संघर्ष से कैसे मुक्त रह सकता है ? इन सारे प्रयत्नों के पीछे क्या एक प्रकार का भय ही नहीं छिपा होता ?"

देखिये, अब हम विघटन कैसे होता है, इसका केवल शब्दों के स्तर पर ही नहीं, बल्कि गहराई से शोध करने का प्रयत्न कर रहे हैं। संघर्ष के पीछे क्या होता है अथवा संघर्ष से मुक्त कैसे हुआ जाय, इसका शोध हम नहीं कर रहे हैं। जीवन जीना और कुछ विशेष बनना, ये दोनों बिलकुल भिन्न स्थितियाँ हैं। हैं कि नहीं ? माना, देहधारण के लिए मनुष्य को थोड़ा-बहुत प्रयत्न करना ही पड़ता है। लेकिन अब हम जो विचार कर रहे हैं, वह कुछ विशेष बनने की प्रक्रिया का, अधिक अच्छे बनने की मानसिक प्रेरणा का, अथवा जो वास्तविक है, उसे वैसा न रहने देकर, उसकी विरोधी स्थिति में उसका रूपान्तर करने की दौड़धूप का ही कर रहे हैं। कुछ भिन्न, बड़े अथवा अधिक अच्छे बनने की यह जो मानसिक प्रेरणा है उसके कारण ही शायद हमारे दैनन्दिन जीवन में स्पर्धा और दुःख निर्माण होते रहते हैं। और सम्पूर्ण जीवन ही इस संघर्ष से व्याप्त हो जाता है। 'कुछ विशेष होना' इन

शब्दों से हमारा क्या तात्पर्य है ? सामान्य धर्मोपदेश में विशेष बनने की इच्छा होना, अथवा शिष्य में गुरु बनने की इच्छा होना—यह मानसिक प्रक्रिया ही इन शब्दों से हम ध्वनित करते हैं। कुछ विशेष होने की इस प्रक्रिया में प्रवृत्तिशील या निवृत्तिशील कोई न कोई प्रयत्न अन्तर्भूत रहता है। जो जैसा है उसे वैसा न रहने देकर उसमें परिवर्तन लाने का प्रयत्न रहता है। है न ? इस समय मैं 'ऐसा' हूँ, लेकिन मुझे 'वैसा' बनना है, या कुछ विशेष बनने का प्रयत्न ही अनेक संघर्षों की शृंखला उत्पन्न करता है। यदि मैं एक बार अपनी इच्छा के अनुसार 'वैसा' बन जाता हूँ तो फिर उससे और अच्छा बनने का मेरा प्रयत्न अखण्ड चलता रहता है। ऐसे का वैसे में रूपान्तर लाने के इस प्रयत्न का अन्त ही नहीं है और इसीलिए संघर्ष का भी अन्त नहीं है। अब हम यह देखें कि हम इस समय जैसे हैं, उससे भिन्न हम क्यों होना चाहते हैं ?

"अपने पूर्वसंस्कारों के कारण, समाज के प्रभाव के कारण और अपने ध्येय के कारण हम कुछ विशिष्ट होना चाहते हैं। यह हमारा स्वभाव है। ऐसा किये बिना हम रह नहीं सकते।"

'ऐसा किये बिना हम रह नहीं सकते' ऐसा कहने से सारी चर्चा पर विराम लग जाता है। ऐसा कहकर दुःख को चुपचाप सहन करते रहना निरी बुद्धिहीनता है। यह केवल मन्दबुद्धि का लक्षण है। हम इस तरह पूर्वसंस्कारबद्ध होकर क्यों बैठे हैं ? यह पूर्वसंस्कार हमारे मन पर कौन लादता है ? हम जिस अर्थ में अपने मन को पूर्वसंस्कारों से आबद्ध होने देते हैं, उस अर्थ में हम ही संस्कारबद्ध होने की आवश्यक परिस्थिति निर्माण करते हैं, हम ऐसे हैं, लेकिन वैसा बनने के लिए हमें क्या अपना ध्येय ही प्रयत्न करने में लगाना पड़ता है ? क्या हमारा साध्य या आदर्श स्वप्नरंजन ही हमारे जीवन में संघर्ष उत्पन्न करता है ? ऐसे किसी साध्य की दिशा में यदि प्रयत्न नहीं करते रहेंगे, तो क्या हमारा अधःपतन ही होगा ?

"निश्चय ही होगा। हम कूपमण्डूक की तरह एक ही स्थिति में आबद्ध हो जायेंगे। इतना ही नहीं, हमारा अधिकाधिक अधःपतन होता ही चला जायगा। नरक में गिरना सरल है, स्वर्गारोहण बहुत कठिन है।"

देखिये, 'भविष्य में क्या होगा'—इस सम्बन्ध में ये सब निरी कल्पनाएँ हैं, केवल मत हैं। साक्षात् क्या होता है, इसका अनुभव हम करते नहीं हैं। सही आकलन के लिए जैसे कल्पनाएँ बाधक होती हैं, वैसे ही निर्णय और स्पष्टीकरण भी। हमें सोचना चाहिए कि क्या हमारी कल्पनाएँ अथवा हमारे आदर्श हमें कुछ विशिष्ट बनने के लिए प्रयत्न करने को बाध्य करते हैं ? आज मैं 'ऐसा' हूँ, लेकिन 'वैसा' बनने के लिए क्या मेरा आदर्श मुझे प्रयत्न में लगाता है ? क्या आदर्श ही हमारे संघर्ष का कारण है ? जो वास्तविक है, उससे आदर्श सर्वथा भिन्न होता है ?

वह यदि, जो वास्तविक है उससे सर्वथा भिन्न होगा, जो है उससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं होगा, तो जो 'है' उसका आदर्श में रूपान्तर कभी सम्भव नहीं रहेगा। एक में से दूसरे में परिवर्तन के लिए उनमें सम्बन्ध जरूरी है। तब जो है, उसका आदर्श से सम्बन्ध होना ही चाहिए। आप कहते हैं कि आदर्श आपको प्रयत्न करने की जोरदार प्रेरणा देता है। तब आदर्श का निर्माण कैसे होता है, इसका हमें शोध करना चाहिए। वस्तुतः आदर्श क्या मन का ही विक्षेप नहीं है ?

"मुझे आपके जैसा बनना है। तब यह भी विक्षेप ही कहा जायगा ?"

अवश्य। पहले मन में एकाध सुखद कल्पना उत्पन्न होती है। फिर लगता है कि उस कल्पना के अनुसार बना जाय। लेकिन यह कल्पना आपकी अभिलाषा का ही विक्षेप होती है। आप 'ऐसे' हैं—यह आपको अच्छा नहीं लगता। इसलिए आप 'वैसे' होना चाहते हैं, क्योंकि वह आपको अच्छा लगता है। आदर्श अहं का विक्षेप ही है। जो जैसा होगा, उसका आदर्श विरोधी होता है, ऐसा पहले लगता है। लेकिन आदर्श विरोधी न होकर जो है उसका विस्तार ही होता है। जो जैसा होगा उसका वह कुछ संशोधित सातत्यात्मक रूप ही होता है। यह विक्षेप अथवा आदर्श स्वेच्छा से निर्मित होता है। इस आदर्श की दिशा में प्रयत्न करते रहना ही संघर्ष है। जो वास्तविक है, वही इस आदर्श का विक्षेप निर्माण करता है और उसी दिशा में प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न को ही कुछ विशेष होने का नाम दिया जाता है। ऐसा माना जाता है कि परस्पर विरुद्धों में संघर्ष आवश्यक ही है। हम जैसे हैं, वैसा अपना स्वरूप हमें पसन्द न आने से, अपना जो स्वरूप नहीं है, उस तक पहुँचने का हम जो प्रयत्न करते हैं, उसका नाम संघर्ष है। हमारा जो स्वरूप नहीं होता, वही हमारा आदर्श या विक्षेप होता है। आप कुछ विशेष होने के लिए प्रयत्न करते हैं। लेकिन यह जो कुछ होता है, वह वस्तुतः आपका ही एक अंश है। आदर्श आपका ही विक्षेप है। देखने की बात है कि हमारा मन स्वयं अपने को कैसे फँसाता रहता है ! वस्तुतः आप शब्दों के पीछे ही हमेशा पड़े रहते हैं। आप अपने ही विक्षेप, अपनी ही छाया के पीछे पड़े रहते हैं। आप हिंसात्मक हैं तो अहिंसा के आदर्श के पीछे दौड़ते रहेंगे। लेकिन यह आदर्श जो है उसके अर्थात् हिंसा के ही किंचित् बदले हुए नाम पर एक विक्षेप है। यह सारी दौड़धूप आवश्यक ही मानी जाती है। उसे विकासात्मक और आध्यात्मिक भी माना जाता है। लेकिन वस्तुतः यह सारी दौड़धूप मन के पिंजरे से ही चलती है और मनुष्य को सतत भ्रम में ढकेलती रहती है।

हम अपनी ही यह जो वंचना करते रहते हैं, उसका जब ज्ञान होता है, तब जो असत्य है, उसका असत्यत्व पूरी तरह हमारे ध्यान में आता है। किसी भ्रमित वस्तु की दिशा में की जानेवाली दौड़धूप ही विघटन का एक तथ्य है। कुछ विशेष बनने

की सब प्रकार की दौड़धूप और सब प्रकार का संघर्ष ही विघटन है। मन के द्वारा चल रही यह वंचना जब ध्यान में आती है, तब जो जैसा है, वैसा ही और उतना ही वहाँ शेष रहता है। कुछ विशेष बनने के लिए, किसी भी आदर्श के लिए मनुष्य की दौड़धूप जब पूरी तरह नष्ट होती है, तुलना करना, धिक्कारना आदि मनोव्यापार जब रुक जाते हैं और इस तरह मन की सम्पूर्ण रचना ही, यह सारी इमारत ही जब ढह जाती है, तभी जो 'है', उसमें सहजरूप से सम्पूर्ण परिवर्तन होता है। लेकिन जब तक जो 'है', उसके विशिष्ट प्रकार के नाम रखना जारी रहता है, तब तक मन और जो 'है', उसमें सम्बन्ध और सम्पर्क बना रहता है। लेकिन मन की यह जो सम्पूर्ण स्मृतिरूप प्रक्रिया है, यह जो नामकरणरूप प्रक्रिया है, वही जब नष्ट होती है, तभी जो 'है', वह मिट जाता है। ऐसे मूलगामी परिवर्तन में ही एकात्मता निहित होती है।

एकात्मता इच्छा-शक्ति से पैदा की जानेवाली कृति नहीं है। वह एकात्म होने की प्रक्रिया नहीं है। जब विघटन का अन्त हो जाता है, जब कुछ विशेष बनने का प्रयत्न या संघर्ष शेष नहीं रहता, तभी पूर्ण एकात्म का उदय होता है। ●

७५. भय और पलायन

हमारा विमान तेजी से ऊपर उठ रहा था। लेकिन भीतर इस वेग का जरा भी भान नहीं हो रहा था। नीचे दृष्टि डालते ही मेघों का एक भारी समुदाय ही दिखाई पड़ता था। उन चमकनेवाले मेघों की धवल-शुभ्र लहरें, जहाँ तक दृष्टि जाती थी वहाँ तक फैली दीखती थी। अद्भुत थी उनकी सघनता तथा आकर्षण। बीच-बीच में विमान जब घुमावदार उड़ान भरता था, तब नीचे के उस फेनसागर में बीच-बीच में मानो खिड़कियाँ बन जाती थीं और उनमें से दूर तक फैली हुई हरी-भरी सस्य-श्यामला भूमि दीखने लगती थी। ऊपर निरभ्र, नीला, सुकुमार, हेमन्ती असीम आकाश फैला था। सामने ही उत्तर-दक्षिण में फैली हिमाच्छादित पर्वत-श्रेणियाँ सूर्य-प्रकाश में झिलमिला रही थीं, तप रही थीं। इस पर्वत-शिखर की ऊँचाई चौदह हजार फुट से भी अधिक थी। लेकिन हमारा विमान उससे भी ऊपर चला गया था और बराबर ऊपर ही ऊपर जा रहा था। ये परिचित पर्वत-शिखर कितने नीरव, कितने शान्त और कितने निकट प्रतीत हो रहे थे! इस पर्वत के और अधिक उत्तुंग शिखर उत्तर में थे। लेकिन अब विमान आवश्यकतानुकूल बीस हजार फुट की ऊँचाई पर था। अब वह तेजी से दक्षिण की ओर मुड़ा चला जा रहा था।

बगल की सीट पर बैठा यात्री बहुत बातूनी था। उसके लिए यह पर्वत बिलकुल अपरिचित था। विमान जब ऊँचा चढ़ने लगा, तब उसे झपकी लग गयी थी। परन्तु अब वह जाग गया था और बोलने के लिए उत्सुक था। अपने व्यवसाय के सिलसिले में जाने का उसका यह शायद पहला ही अवसर था। उसे अनेक विषयों में रुचि थी और उनकी पर्याप्त जानकारी भी। विमान के नीचे एक ओर दूर तक फैला हुआ काला-काला समुद्र दीख रहा था। उस पर जहाँ-तहाँ जहाजों के संकेत दीख रहे थे। दीपों के प्रकाशमान तटवर्ती नगर एक के बाद एक नगर पार करते हुए हमारा विमान चला जा रहा था। लेकिन विमान के पंखों में जरा-सा भी कंपन प्रतीत नहीं हो रहा था। वह यात्री कहने लगा कि भय न लगना कितना कठिन है, फिर वह भय विमान-दुर्घटना का हो या जीवन की अन्य किसी प्रकार की दुर्घटना का। उसने बताया कि वह विवाहित है और बच्चे भी हैं, और उसके मन में एक विचित्र प्रकार का भय गहरे में समा गया है, जो केवल भविष्य-सम्बन्धी नहीं है, बल्कि अनेक प्रकार का है। इस भय का कोई विशिष्ट विषय नहीं है। वह कह रहा था कि मैं अपने जीवन में सफल हो गया हूँ अवश्य, पर इस निरन्तर के भय के कारण मेरा जीवन अब अत्यन्त क्लान्तिमय और दुःखमय बन गया है। जीवन में मुझे शुरू से ही भय सताता रहा है। लेकिन अब तो यह भय बुरी तरह मेरे पीछे पड़ गया है। मुझे तरह-तरह के भयंकर स्वप्न आते हैं। मेरी इस भयग्रस्तता की जानकारी पत्नी को भी है। लेकिन मेरी भयग्रस्तता कितनी अधिक बढ़ गयी है, इसकी उसे कल्पना नहीं है।

भय किसी-न-किसी वस्तु या विषय से सम्बद्ध होता है। अमूर्त स्वरूप का भय तो शब्दमात्र है। 'अमूर्तभय' यह शब्द-प्रयोग वस्तुतः भय नहीं है। क्या आप जानते हैं कि आपको निश्चित रूप से किस बात का भय है?

''मैं आज तक नहीं समझ पाया हूँ कि मुझे निश्चित रूप से किस बात का भय है! मेरे स्वप्न भी अत्यन्त अस्पष्ट, धुंधले होते हैं। लेकिन उन सबमें भय छिपा बैठा रहता है। इस बारे में मैंने अपने मित्रों से चर्चा भी की है। डॉक्टरों से भी सलाह ली है। लेकिन कुछ लोगों ने हँसकर मेरी बात टाल दी और कुछ लोगों ने जो कुछ कहा, उससे भय दूर करने में कोई विशेष सहायता नहीं मिली। मेरे भय का कारण आज तक तो मेरी समझ में आया नहीं है। लेकिन मैं चाहता हूँ कि इस भय से किसी प्रकार छुटकारा मिल जाय।''

क्या आप सचमुच भय से मुक्त होना चाहते हैं? अथवा यह केवल शब्द-प्रयोग ही है?

''मेरी बात से मेरी गम्भीरता शायद ठीक-ठीक व्यक्त नहीं हो पायी है। इस भय से मुक्त होने के लिए मैं बहुत कुछ करने को तैयार हूँ। यों मैं धार्मिक प्रवृत्ति का

मनुष्य नहीं हूँ, लेकिन मेरा भय दूर हो, इसके लिए मैं प्रार्थना भी करता रहा हूँ। जब मैं अपने काम में अथवा किसी खेल में व्यस्त रहता हूँ तब प्रायः भय नहीं रहता। लेकिन किसी राक्षस की भाँति उसकी पकड़ बनी रहती है। जैसे ही मैं काम से या खेल से मुक्त होता हूँ, यह भय तत्काल मेरे पास आ खड़ा होता है।"

क्या इस समय आपके मन में भय है ? क्या आपको इस बात का बोध है कि वह कहीं आसपास है ? यह भय आपके सबोध मन में है या अबोध मन में ?

"मुझे इसकी जानकारी है। लेकिन मैं यह नहीं बता सकता कि वह सबोध मन में है या अबोध मन में।"

वह आपको दूर लगता है अथवा निकट ? देश-काल की दूरी की दृष्टि से नहीं, भावना की दृष्टि से ?

"जब मुझे उसका बोध होता है, तब वह अत्यन्त निकट मालूम होता है। लेकिन इसका स्वयं भय से क्या सम्बन्ध है ?"

भय किसी न किसी वस्तु या विषय के सम्बन्ध में ही होता है। आपके भय का विषय आपका परिवार, आपका व्यवसाय, भविष्य की चिन्ता अथवा मृत्यु में से कोई विषय हो सकता है। आपको मृत्यु का भय लगता है ?

"वैसा कोई विशेष भय नहीं लगता। लेकिन ऐसा अवश्य लगता है कि मेरी मृत्यु तत्काल हो जाय, खाट पर पड़े-पड़े मृत्यु न आये। ऐसा भी नहीं लगता कि अपने परिवार या व्यवसाय के बारे में मुझे चिन्ता है।"

फिर इस ऊपर-ऊपर के सम्बन्ध से अधिक गहरा आपके भय का कारण होना चाहिए। यह कारण क्या है, यह दूसरा कोई बता तो सकता है, लेकिन आप स्वयं ही उसका शोध करेंगे तो अधिक उचित होगा। आपको इस ऊपर-ऊपर के सम्बन्ध के बारे में भय क्यों नहीं लगता ?

"मेरी पत्नी का तथा मेरा एक-दूसरे पर अतिशय प्रेम है। न वह किसी दूसरे पुरुष की ओर आकृष्ट होगी और न मैं ही किसी अन्य स्त्री के प्रति आकृष्ट हूँ। इस पारस्परिक प्रेम ने हमें पूर्णता तक पहुँचा दिया है। हाँ, बच्चों के बारे में थोड़ी चिन्ता अवश्य होती है। उनके लिए जो कुछ करना आवश्यक है, वह सब मैं करता ही हूँ। पर आज विश्व के आर्थिक क्षेत्र में जो उथल-पुथल चल रही है, उसके कारण बच्चों को आर्थिक दृष्टि से सुरक्षित नहीं किया जा सकता। उन्हें अपने प्रयत्न से ही सुरक्षा प्राप्त करनी होगी। मेरा व्यवसाय पर्याप्त रूप से सुरक्षित है, लेकिन पत्नी पर कहीं कोई संकट न आ पड़े, ऐसा एक नैसर्गिक भय मेरे मन में अवश्य है, इसमें सन्देह नहीं।"

कुल मिलाकर आप अपने निकट के और गहरे रिश्तों के विषय में निःशंक हैं, लेकिन आपको इतनी निःशंकता क्यों लग रही है ?

"यह मैं नहीं बता सकता। लेकिन इतना सही है कि मैं निःशंक हूँ। कुछ बातें मनुष्य को गृहीत ही माननी पड़ती हैं, ठीक है न ?"

लेकिन यह हमारा मुद्दा नहीं है। आइये, अब हम जरा इस प्रश्न की गहराई में उतरें। अपने आत्मीय रिश्तों के विषय में आपको इतनी निःशंकता क्यों लगती है ? जब आप यह कहते हैं कि आपका पति-पत्नी का रिश्ता आपको पूर्णता तक पहुँचाने-वाला है, तब आप निश्चित रूप से क्या कहना चाहते हैं ?

"हमें एक-दूसरे के सहवास में मैत्री और सुख, दोनों का ही अनुभव होता है। इसी तरह हमें एक-दूसरे का आत्मीय आकलन हो गया है, ऐसा प्रत्यय होता है। गहराई में जाकर कह सकते हैं कि हम सम्पूर्ण रूप से एक-दूसरे पर निर्भर हैं। हममें से एक को भी कुछ भला-बुरा हो जाय तो उसका दूसरे को दारुण आघात लगेगा। इस दृष्टि से हम एक-दूसरे पर अवलम्बित हैं।"

'अवलम्बित हैं' इन शब्दों से आप क्या कहना चाहते हैं ? आपकी पत्नी न रहे तो आपको लगेगा कि सब-कुछ खो गया है, अत्यन्त अकेलापन लगेगा—यही न आपके शब्दों का अर्थ है ? उसे भी आपके अभाव में ऐसा ही लगेगा। इस प्रकार आप एक-दूसरे पर अवलम्बित हैं, यही न ?

"लेकिन इसमें बुराई क्या है ?"

देखिये, हम किसी भी बात में दोष नहीं लगाते हैं, अथवा किसी प्रकार का भला-बुरा निर्णय नहीं देते हैं। हम केवल सत्य को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं। लेकिन इस प्रकार की गहराई में आप जाना पसन्द करेंगे ? इस विषय में आपको पूरा विश्वास है ? यदि ऐसा हो, तभी हम आगे कदम बढ़ायें।

पत्नी-विहीन जीवन यदि काटना पड़े तो आपको अत्यन्त अकेलापन महसूस होगा, भीतर-भीतर सब कुछ समाप्त होने जैसा लगेगा, इसलिए वह आपके जीवन के लिए अत्यावश्यक है, यही न आपका कहना है ? अपने सुख के लिए आप उस पर अवलम्बित हैं और इसी अवलम्बन को प्रेम कहा जाता है। आपको अकेलेपन का भय लगता है, और वह आपके अकेलेपन को ढँक देती है, और आप उसके अकेले-पन को ढँक देते हैं। फिर भी अकेलापन तो भीतर ही भीतर ज्यों का त्यों कायम है, है या नही ? हम अपने अकेलेपन को ढँक डालने के लिए एक-दूसरे का सतत उपयोग करते हैं। इस एकाकीपन से दूर भागने के लिए नाना तरह के रिश्तों का और सम्बन्धों का आश्रय लेते हैं। फिर यह प्रत्येक रिश्ता हमारा आलम्बन बन बैठता है। संगीत से हमें आनन्द मिलता है, वह हमें अपने से कुछ समय के लिए दूर

ले जाता है। इसलिए हम रेडियो खोलकर संगीत सुनने लगते हैं। स्वाध्याय अथवा ज्ञान-सम्पादन भी अपने से दूर जाने का अत्यन्त सुविधाजनक बहाना है। हम ऐसे बहानों पर—निमित्तों पर अधिकाधिक अवलम्बित रहने लगते हैं।

"लेकिन मनुष्य को अपने से भागने का प्रयत्न क्यों नहीं करना चाहिए ? स्वयं मुझमें गर्व करने योग्य कोई वस्तु नहीं है। मेरी पत्नी मेरी अपेक्षा बहुत अच्छी है। उससे एकरूप होकर मैं अपने से दूर जाता हूँ।"

निश्चय ही अधिकांश लोग अपने से बराबर दूर भाग रहे हैं। पर इस तरह किसीकी भी सहायता से दूर-दूर भागते रहने से मनुष्य अधिकाधिक परावलम्बी बनता जाता है। धीरे-धीरे यह परावलम्बन बढ़ता जाता है। और हमने मन में अपने वास्तविक स्वरूप का भय जिस मात्रा में होता है, उस मात्रा में ये सारे बहाने हमारे लिए अधिकाधिक आवश्यक बन जाते हैं। हमारी पत्नी, हमारी पुस्तकें, हमारा रेडियो—ये वस्तुएँ हमारे लिए असाधारण रूप से महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं। इन सब बहानों को सर्वंकष तथा श्रेष्ठतम मूल्य प्रदान किया जाने लगता है। अपने से दूर भागने के लिए हम अपनी पत्नी का उपयोग करते हैं और इस कारण उस पर हमारी आसक्ति हो जाती है। वह पूरी तरह मेरी ही रहे, उसका कभी वियोग न हो, ऐसा मुझे तीव्रता से लगने लगता है। उसे भी पूर्णता के साथ मेरी होकर रहने में आनन्द आता है, क्योंकि वह भी मेरा वैसा ही उपयोग करती है। अपने से दूर भागने की आवश्यकता पति-पत्नी दोनों की एक जैसी ही है। इसलिए दोनों ही एक-दूसरे का ऐसा उपयोग करते रहते हैं और इसीको प्रेम कहा जाता है। वस्तुतः आप जैसे हैं, वैसा अपना स्वरूप आपको पसन्द नहीं, इसलिए आप अपने से, इस वास्तविक स्वरूप से भागते रहते हैं।

"आपका कथन अत्यन्त स्पष्ट है। अब मेरी समझ में आने लगा है कि इसमें कुछ अर्थ है। लेकिन मनुष्य इस प्रकार अपने से दूर-दूर क्यों भागता है ? वह किससे दूर भागता है ?"

आप अपने अकेलेपन से, अपनी रिक्तता से, अपने वास्तविक स्वरूप से दूर भागते हैं। लेकिन अपना वास्तविक स्वरूप क्या है, यह देखे बिना यदि आप भागने लगेंगे तो आपको उसका आकलन कभी नहीं होगा, क्या यह स्पष्ट नहीं है ? इसलिए सबसे पहले इस वास्तविक स्वरूप से भागने को, उससे छुटकारा चाहने को रोकना चाहिए। तभी आप अपने स्वरूप का ठीक-ठीक निरीक्षण कर सकेंगे। लेकिन यदि आप इस वास्तविक स्वरूप की टीका करते रहेंगे अथवा उस पर पसन्द-नापसन्द का सिक्का मारते रहेंगे, तो उसका यथार्थ निरीक्षण कर ही नहीं सकेंगे। आप इस वास्तविक स्वरूप को एकाकीपन कहते हैं और उससे दूर भागते हैं। अपने

वास्तविक स्वरूप से दूर भागना ही भय है। अकेलेपन का, रिक्तता का आपको भय लगता है। इसीलिए किसी न किसी पर अवलम्बित रहकर आप इसे ढँकना चाहते हैं। यही कारण है कि भय सतत कायम रहता है। वास्तविक से जब तक आप भागते रहेंगे, तब तक भय अखण्ड कायम रहेगा। किसी व्यक्ति से अथवा कल्पना से एकरूप होने से भय से सदा के लिए मुक्ति कभी नहीं मिलती। क्योंकि यह भय सतत पृष्ठभूमि में बैठा ही रहता है। एकरूप होने की क्रिया में रुकावट आते ही यह भय उछलकर स्वप्न में से व्यक्त होने लगता है। लेकिन एकरूपता का भंग तो बार-बार होता ही रहता है। किसी मनुष्य का संतुलन पूरी तरह बिगड़ गया होगा, तभी उसकी एकरूपता भंग नहीं होगी।

"तो, मेरा भय मेरी रिक्तता में से, मेरी अपूर्णता में से ही उद्भूत हुआ है। अब यह बात स्पष्ट रूप से मेरी समझ में आने लगी है। यह यथार्थ ही है। लेकिन इस विषय में मैं क्या करूँ?"

आप कुछ भी नहीं कर सकेंगे। जो कुछ करने का आप प्रयत्न करेंगे, वह केवल दूर भागने की ही क्रिया होगी। समझने की सबसे मुख्य बात यही है। इस रिक्तता से हम भिन्न नहीं हैं, यह आपको इसके बाद दिखाई देगा। यह रिक्तता, यह अपूर्णता प्रत्यक्ष आप ही हैं। जिस रिक्तता का निरीक्षण किया जाता है, वह रिक्तता ही निरीक्षक का स्वरूप होता है। यह ध्यान में रखकर जब आप आगे बढ़ेंगे, तब उस रिक्तता को एकाकीपन का नाम देना बन्द हो जायगा। आप इससे भी आगे जायेंगे, यद्यपि यह आगे कदम बढ़ाना बहुत कष्टदायक होता है—तब आप देखेंगे कि एकाकीपन नाम से पहचानी जानेवाली वस्तु रहेगी ही नहीं। एकाकीपन का, रिक्तता का सम्पूर्ण अन्त हो जायगा। विचार के रूप में उस विचार का अन्त आ जायगा। यह दर्शन ही आपके भय का अन्त लायेगा।

"तब फिर प्रेम क्या है?"

प्रेम का अर्थ एकरूप होना नहीं है। प्रेमास्पद का विचार करना प्रेम नहीं है। जब आपका प्रेमपात्र आपके पास होता है, तो आपके मन में उस सम्बन्ध में विचार नहीं आते। लेकिन जब प्रेमपात्र आपके पास नहीं होता, वह अनुपस्थित होता है, जब उसमें और आपमें दूरी होती है, तभी आपके मन में उसके विषय में विचार आते हैं। जब दोनों का प्रत्यक्ष सम्पर्क रहता है, तब प्रेमपात्र के विचार का उद्भव होना, उसकी प्रतिमा सामने खड़ी रहना, अथवा उसका स्मरण होना—इनमें से एक भी बात नहीं होती। लेकिन जब यह सुसंवाद किसी भी स्तर पर भंग होता है, तभी विचार की और कल्पना की प्रक्रिया आरम्भ होती है। प्रेम मन की कोटि में आने-वाली वस्तु नहीं है। मन केवल धुआँ पैदा करना जानता है। फिर यह धुआँ चाहे मत्सर के रूप में हो, एक-दूसरे को पकड़ रखने के रूप में हो अथवा एक-दूसरे के

बिना खोया-खोया-सा हो, अतीत की स्मृतियों को निकालने के रूप में हो अथवा भविष्य-विषयक उत्कण्ठा के रूप में हो, अथवा यह चिन्ता के रूप में रहे या दुःख के रूप में फैले। यह धुआँ प्रीति की ज्योति को धुँधली या मन्द बनाने का ही कार्य प्रभावशाली रूप में करता है। जब यह धुआँ नहीं होता, तब केवल प्रेम की ज्योति ही रहती है। धुआँ और ज्योति का एकत्र रहना कभी सम्भव नहीं। वे दोनों एकत्र रहते हैं, यह विचार केवल इच्छामात्र है। लेकिन इच्छा विचार का ही विक्षेप है और विचार का अर्थ प्रीति नहीं होता।

७६. शोषण और सक्रियता

अभी-अभी सवेरा हुआ है, पक्षियों का कलरव सुनाई पड़ रहा था। सूर्य अभी-अभी पेड़ों के सिरों पर आ पहुँचा था। लेकिन उस घनी झाड़ी में प्रकाश का प्रवेश अभी नहीं हो पाया था। लगता था कि निकट की हरियाली पर से कोई साँप अभी-अभी चला गया है, क्योंकि हरियाली पर से ओस-बिन्दुओं के पुँछ जाने की एक लम्बी और मोटी-सी रेखा उभरी हुई दीख रही थी। आकाश का उषःकालीन रंग अभी मिटा नहीं था। बड़े-बड़े धवल उज्ज्वल मेघ घहराने लगे थे। इतने में पक्षियों का कलरव पूर्णतः शान्त हो गया और एकाएक एक-दूसरे को खतरे का संकेत देनेवाली, क्षुब्ध आक्रोश-पूर्ण चिल्लाहट तेजी से बढ़ने लगी। एक बिल्ली धीरे से झाड़ी के नीचे आकर बैठ गयी थी। एक बड़े बाज ने एक चितकबरे पक्षी को अभी-अभी पकड़ा था। अपनी तिरछी और पैनी चोंच से वह उसे फाड़कर खा रहा था। अपने भक्ष्य को उसने क्रूरतापूर्वक चोंच में कसकर पकड़ रखा था। दो-तीन कौए जैसे ही उसके पास पहुँचे कि वह बाज उनकी ओर धमकीभरी दृष्टि से देखने लगा। बाज की उन पीली आँखों में रोष की काली रेखाएँ स्पष्ट दीख रही थीं। और वे आँखें उन कौओं को और हमें अनिमेषरूप से टकटकी बाँधकर देख रही थीं।

वह व्यक्ति पूछ रहा था : "यदि किसीने मेरा शोषण किया तो बिगड़ क्या गया ? हमारा यह कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसके लिए यदि मेरा उपयोग किया गया तो उसमें मुझे बुरा लगने जैसी कोई बात नहीं है। उस कार्य से पूरी तरह एक-रूप होने की मेरी इच्छा है। लोग मेरा कैसा उपयोग करते हैं, इसका मेरी दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है। देखिये, मेरी अपनी कोई हस्ती नहीं है। इस जगत् में मैं बहुत कुछ कर सकूँगा, ऐसी बात भी नहीं है। इसलिए जो लोग महान् कार्य कर रहे हैं, उनकी मैं मदद कर रहा हूँ, इतना ही इसका अर्थ है। लेकिन मेरी अपनी एक निजी

समस्या है जो मुझे अपने इस कार्य से विरत कर रही है। इस आसक्ति स्वरूप को मैं समझना चाहता हूँ।"

लेकिन इस कार्य के लिए आपका शोषण क्यों किया जाय, यह बात समझ में नहीं आती। जो व्यक्ति या जो दल आपका शोषण कर रहा है, उसके जितना ही महत्त्व क्या आपका नहीं है?

"विशिष्ट कार्य या उद्देश्य के लिए मेरा शोषण किया जाता है, इस बात की मुझे जरा भी चिन्ता नहीं। क्योंकि, इस कार्य में भव्य सौन्दर्य निहित है। मुझे लगता है कि जगत् में इस कार्य का बहुत भारी मूल्य है। जिनके साथ मैं कार्य कर रहा हूँ, वे व्यक्ति उच्च ध्येयवादी और आध्यात्मिक दृष्टि से महान् योग्यतासम्पन्न है। इसलिए क्या करना चाहिए, यह बात वे मेरी अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी तरह जानते हैं।"

आप ऐसा क्यों मानते हैं कि अच्छा कार्य करने की क्षमता आपकी अपेक्षा उनमें अधिक है? आपके ही शब्दों में कहना हो तो वे 'अध्यात्मवादी' हैं और उनका दृष्टिकोण विशाल है, यह आपने कैसे समझ लिया? जब आपने अपनी सेवा देने का निश्चय किया, तब आपने इस बात का विचार किया ही होगा न? अथवा आपको कार्य का आकर्षण प्रतीत हुआ, उसके विषय में उत्कट भाव पैदा हुआ, इसलिए आपने इस कार्य को अंगीकार कर लिया।

"यह सुन्दर कार्य है, अतः इसमें अपना सहयोग देना ही चाहिए, ऐसा मुझे महसूस हुआ और इसीलिए मैंने सेवा करने का निश्चय किया।"

किसी बड़े ध्येय के लिए मरने-मारने को तैयार रहनेवाले लोग जैसे सेना में भरती होते हैं, वैसे ही आप भी प्रतीत होते हैं। वे क्या कर रहे हैं, यह बात क्या वे लोग जानते हैं? आप भी क्या कर रहे हैं, यह बात क्या आप जानते है? जिस कार्य को आपने स्वीकार किया है, वह कार्य 'आध्यात्मिक' है, यह आप कैसे जानते हैं?

"आपकी बात बिलकुल ठीक है। पिछले महायुद्ध में मैं भी चार वर्ष तक सेना में था। अन्य अनेक लोगों की भाँति मैं भी देशभक्ति की भावना से प्रेरित होकर ही सेना में भरती हुआ था। युद्ध में मनुष्यों की हत्या करने का अभिप्राय मुझे उस समय समझ में आ गया था, ऐसा नहीं लगता। लड़ाई में शत्रु का संहार किया जाता है, इतना ही हम जानते थे और इसी कल्पना से मैं सेना में भरती हुआ था। लेकिन आज मैं जिन लोगों की सहायता कर रहा हूँ, उनके बारे में मैं जानता हूँ कि वे लोग आध्यात्मिक प्रवृत्ति के हैं।"

क्या आप आध्यात्मिक होने का अर्थ समझते हैं? यह तो कोई भी मानेगा कि महत्त्वाकांक्षी होने का अर्थ आध्यात्मिक होना नहीं है। और, क्या आपके ये लोग महत्त्वाकांक्षी नहीं हैं।

"मुझे लगता है कि वे लोग महत्त्वाकांक्षी हैं। पहले मैंने कभी इस बात का विचार नहीं किया था। मेरी इतनी ही इच्छा थी कि किसी सुन्दर कार्य में हाथ बँटाना चाहिए।"

स्वत महत्त्वाकांक्षी रहना और अपनी महत्त्वाकांक्षा ढँकने के लिए विश्व-बन्धुता, मानवता, कलाप्रेम, अदृश्य गुरु या महात्मा आदि सुनने में ऊँची लगनेवाली बातों का उपयोग करते रहना—यह कोई सुन्दर बात है क्या? केवल अहंकेन्द्रित बातों का भार सतत ढोते रहना—फिर इस अहंकेन्द्रित वर्तुल के विस्तार में पड़ोसी का समावेश किया जाता हो अथवा सात समुद्र पार के मनुष्य का—क्या आध्यात्मिकता का निदर्शक है? आप आध्यात्मिक समझे जानेवाले लोगों के कार्यों में मदद करते हैं सही, लेकिन आध्यात्मिक कार्यों के स्वरूप को नहीं जानते। वे आपका चाहे जैसा उपयोग करें इसके लिए भी आप राजी हो गये हैं।

"सचमुच, मेरा ऐसा करना अपरिपक्व ढंग का हैं। लेकिन मैं नहीं चाहता कि मेरे इस कार्य में किसी भी प्रकार की बाधा आये। फिर भी ऐसी बाधा लानेवाली समस्या मेरे सामने खड़ी ही है। इसके अलावा इस समय आप जो कह रहे हैं, उसने तो मेरे मन को और भी बेचैन बना दिया है।"

लेकिन आपके मन में ऐसी बेचैनी क्यों नहीं उत्पन्न की जानी चाहिए? देखिये, जब हमारा मन अस्वस्थ अथवा प्रक्षुब्ध होता है, जब वह हड़बड़ाकर जागता है, तभी हम यथार्थ निरीक्षण करने लगते हैं, यथार्थ शोध करने लगते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि अपनी स्वयं की मूर्खता के कारण हम दूसरे को अपना चाहे जैसा उपयोग करने देते हैं और धूर्त लोग स्वदेश के नाम पर, ईश्वर के नाम पर अथवा किसी विचार-प्रणाली के नाम पर हमारा शोषण करते रहते हैं। धूर्त लोग हमारी बुद्धिहीनता का ऐसा उपयोग करते हैं, यह सही होते हुए भी मूर्खता के आधार पर संसार में क्या कोई अच्छी बात हो सकती है? धूर्त लोग जब बुद्धिहीन लोगों का ऐसा उपयोग करते हैं, तब वे स्वयं ही बुद्धिहीन बने होते हैं। क्योंकि, वे भी नहीं जानते कि उनकी प्रवृत्तियाँ उन्हें कहाँ खींचकर ले जा रही हैं। जिन्हें अपने ही मनोव्यापारों का ज्ञान नहीं होता, उन बुद्धिहीन लोगों की क्रियाएँ निश्चय ही संघर्ष, उलझन और दुःख में ही परिणत होती हैं।

यह आवश्यक नहीं है कि आपकी समस्या आपको किंकर्तव्यविमूढ़ बनाये। आप कहते हैं कि आपके सामने समस्या खड़ी है। वह आपको कैसे व्याकुल कर रही है?

"वह मेरे समर्पित कार्य में बाधा डाल रही है।"

आप कहते हैं कि कार्य से ध्यान हटानेवाली समस्या आपके सामने खड़ी है। इसका अर्थ यह होता है कि कार्य के प्रति आपका समर्पण सम्पूर्ण नहीं है। वह

अधूरा है, तभी तो आपके सामने आपको व्यग्र बनानेवाली समस्या खड़ी है। शायद आपका आत्मसमर्पण उतावली में किया गया है। आपकी समस्या इस बात का संकेत हो सकती है कि आप अपने वर्तमान कार्य में फँस न जायँ।

"लेकिन जो कार्य मैं कर रहा हूँ, वह मुझे अच्छा लगता है।"

शायद आपके सङ्कट का यही कारण है। मनुष्य यही चाहता है कि किसी भी कार्य में अपने को पूरी तरह डुबो दे। यह कार्य जितना अधिक सन्तोषप्रद होता है, उतना ही मनुष्य उससे अधिक चिपक जाता है। आत्मसन्तोष प्राप्त करने की अभिलाषा मनुष्य को बुद्धिहीन बनाती रहती है। यह सन्तोष किसी भी स्तर का हो, उसका मूल्य एक जैसा ही होता है। उसमें ऊँच-नीच का कोई भेद नहीं होता। अपने इस आत्मसंतोष को हम जान या अनजान में उदात्त शब्दों में ढँक देते हैं। तो भी संतोष प्राप्त करने की अभिलाषा ही मूलतः हमें बुद्धिहीन और संवेदनशून्य बना डालती है। हम यह संतोष, यह मानसिक संरक्षण किसी कार्य के द्वारा प्राप्त करते रहते हैं। एक बार हमें यह संतोष प्राप्त हो जाय अथवा हम कल्पना कर लें कि हमें वह प्राप्त हो गया है तो फिर हम नहीं चाहते कि उसमें किसी भी प्रकार की बाधा पड़े। लेकिन यह बाधा तो तब तक लगातार ही पड़नेवाली है, जब तक कि हम मर न जायँ या संघर्ष और प्रयत्न की सम्पूर्ण प्रक्रिया हमारे आकलन में न आ जाय। वस्तुस्थिति यह है कि हममें से अधिकांश लोगों को ऐसी मृतवत् अवस्था में रहना या संवेदनशून्य बने रहना ही पसन्द है। क्योंकि, सजीव बनकर जीवित रहना वेदनामय होता है। इस वेदना का भान न हो, इसलिए हम अपने चारों ओर प्रतीकार की दीवारें खड़ी करते रहते हैं, संस्कारबद्धता का परकोटा बाँधते रहते हैं। देखने में भले ऐसा लगे कि ये दीवारें हमारी सुरक्षा करती हैं, लेकिन वस्तुतः ये हमारे संघर्ष और हमारी व्यथा को अधिकाधिक बढ़ाती हैं। अपनी समस्याओं से बाहर निकलने का रास्ता खोजने की अपेक्षा, उनके स्वरूप को समझ लेना ही क्या अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है ? कदाचित् आपकी समस्या ही वास्तविक हो और आपका अंगीकृत कार्य ही उस वास्तविकता से दूर जाने का केवल एक अर्थशून्य बहाना हो।

"आप जो कह रहे हैं, उससे मेरे मन में और भी अधिक व्याकुलता उत्पन्न हो गयी है। मुझे इन सब बातों की गहराई में जाकर विचार करना होगा।"

अब पेड़ों की छाया में भी उष्णता महसूस होने लगी थी। इसलिए हम वहाँ से उठ गये।

किसी भी उथले मन के मनुष्य के लिए अच्छा कल्याणप्रद कार्य करना कैसे सम्भव है ? हम कोई-न-कोई अच्छा काम कर रहे हैं, यह भावना ही क्या उथले मन की द्योतक नहीं है ? मनुष्य का मन कितना ही चतुर, कितना ही सूक्ष्म अथवा

कितना ही विद्वत्तापूर्ण भासित हो, तो भी वह वस्तुतः क्या उथला ही नहीं होता? उथलापन कभी भी गहरा और अथाह नहीं हो सकता। विशेष होने की ओर सतत खिचते जाना ही उथले मन का स्वभाव है। कुछ विशेष होने का मतलब है अहंविक्षेपित साध्य के पीछे लगना। यह अहंविक्षेपित साध्य शाब्दिक स्तर पर सर्वोच्च हो सकता है, उसमें किसी विशाल या व्यापक योजना का दर्शन हो सकता है। लेकिन आखिर वह उथले मन की ही सन्तान है। उथले मन से कितना भी प्रयत्न किया जाय, वह कभी भी गहन, गम्भीर नहीं हो सकता। ऐसे मन की कोई भी कृति, किसी भी स्तर का उसका व्यापार आखिर उथला ही रहेगा। हमारे सारे व्यापार, सारी हलचल अर्थशून्य और निरुपयोगी हैं, इसका उथले मन को बोध होना अत्यन्त कठिन है। उथले मन के लोग ही अखण्ड रूप से काम में व्यस्त रहते हैं और यह सक्रियता ही उनके उथलेपन का पोषण करती है। यही उन्हें संस्कारबद्ध करती है। संघर्ष या प्रयत्न से मुक्त होने की अभिलाषा ही उन्हें जान या अनजान में संस्कारबद्ध करती है। जीवन-व्यापारों से और अज्ञात आघातों से जीवन की रक्षा करने के लिए यह अभिलाषा उनके चारों ओर दीवार खड़ी करती रहती है। इन निर्णयों के, स्पष्टीकरणों के और विचार-प्रणाली की ऊँची-ऊँची दीवारों के भीतर मन जड़ हो जाता है, सड़ता रहता है, उसका ह्रास होता रहता है। ऐसे उथले मन के लोग इस प्रकार सड़ते रहते हैं और अन्त में मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

अपने चारों ओर संस्कारबद्धता की ऐसी दीवारें खड़ी करके अपना रक्षण करने की अभिलाषा ही अधिकाधिक संघर्ष और समस्याएँ उत्पन्न करती रहती है। संस्कारबद्धता मनुष्य को वास्तविकता से दूर कर देती है, और ऐसी विघटित स्थिति में, इन पृथक्पन में सजीवता का रहना सम्भव ही नहीं है। ऐसे पृथक् व्यक्ति फिर दूसरे पृथक् व्यक्तियों से जा मिलते हैं। लेकिन इन अनेक पृथकों के सम्मेलन से एकात्मता कभी पैदा नहीं होती। जो पृथक् है, वह हमेशा पृथक् ही रहता है। वह टूटकर अलग ही होता रहता है। फिर वह कितनों को मिलाने या जुटाने का प्रयत्न करे, अपना विस्तार करने का, अथवा अन्य किसीसे एकरूप होने का प्रयत्न करें। संस्कारबद्धता सदैव विनाशकारी, विघटनकारी ही सिद्ध होती है। लेकिन उथला मन इस सत्व को देख नहीं सकता। क्योंकि सत्य के शोध के लिए वह स्वयं को सक्रिय बना डालता है। यह सक्रियता ही सत्य के आकलन में प्रतिबन्धक सिद्ध होती है। वस्तुतः सत्य ही वास्तविक कृति है। यह कृति—महत्त्वाकांक्षीपन की भावना—प्राप्तव्य के पीछे लगनेवाले उथले मन की सक्रियता नहीं होती। सत्य ही शिव है, सत्य ही सुन्दर है। नर्तक की कला, योजक की योजना और शब्द जोड़नेवाले की कला सत्य नहीं है। उथले मन की उथलेपन से मुक्तता मुक्त होने की

योजना से नहीं, बल्कि सत्वदर्शन से ही हो सकती है। उथला मन अपने को कभी भी मुक्त नहीं कर सकता। एक संस्कारबद्धता के घेरे से दूसरे अधिक मुक्त प्रतीत होनेवाले संस्कारबद्धता के घेरे में जाते रहना ही उथले मन के लिए सम्भव है। इस अधिक मुक्त प्रतीत होनेवाले घेरे में, मुक्ति के बदलें अधिकाधिक की लालसा ही घूमती रहती है। वह भी संस्कारबद्धता ही है, कम मुक्त प्रतीत होनेवाले घेरे का वह केवल विस्तार है। किसी मनुष्य की बुद्ध बनने की इच्छा या किसी कर्मचारी की व्यवस्थापक बनने की इच्छा—यह कुछ विशेष होने का प्रयत्न, उथलेपन का ही प्रयास है। हमारा जो वास्तविक स्वरूप है, उसकी ओर देखने में उथले मन को सदैव डर लगता है। लेकिन उसका वास्तविक रूप ही सत्य है। जो जैसा है, वैसा ही उसका शान्तिपूर्वक निरीक्षण करने में सत्य निहित है और यह सत्य ही जो जैसा है, उसमें मूलगामी परिवर्तन ला सकता है। ●

७७. पण्डित या प्रज्ञावान्

वर्षा की जलधाराओं ने कई महीनों की उष्णता तथा गर्द को धो डाला था। वर्षा से धुले हुए स्वच्छ पत्ते सूर्यप्रकाश में चमक रहे थे। डाल-डाल पर नये-नये पत्ते विलसित हो रहे थे। दादुर ध्वनि से सारी रात गूँज उठी थी। बीच-बीच में यह दर्दुर-संगीत थोड़ी देर के लिए रुक जाता और फिर जोर से चालू हो जाता। नदी का प्रवाह बहुत तेज था। वायुमण्डल में एक प्रकार की कोमलता का दर्शन हो रहा था। वर्षा अभी रुकी नहीं थी और आकाश में काले बादल उमड़-घुमड़ रहे थे। सूर्यनारायण को तो उन्होंने पूरी तरह ढँक ही लिया था। लता, वृक्ष, धरा—सारा निसर्ग पुनः वर्षा के लिए उत्कण्ठित था। वर्षा से भीगी सड़क काली-सी फीकी पीली दीख रही थी। निचान पर जमें हुए पानी में बच्चे मस्ती से खेल रहे थे। कुछ बालक गीली मिट्टी के घरौंदे बना रहे थे, कुछ किले बना रहे थे और उसके चारों ओर मिट्टी की दीवारें खड़ी कर रहे थे। कई महीनों की कड़ी धूप के बाद होनेवाली इस जल-वर्षा से वातावरण उल्लासमय हो रहा था। धरती पर हरियाली विलसने लगी थी। समस्त वस्तु-जगत् में नवजीवन संचरित होने लगा था। यह नवजीवन है निर्मलता।

वह व्यक्ति अपने को बहुत बड़ा विद्वान् समझता था। उसकी दृढ़ धारणा थी कि ज्ञान जीवन का सारसर्वस्य है। उसकी दृष्टि में ज्ञानविहीन जीवन मृत्यु की अपेक्षा भी निकृष्ट कोटि का था। उसका ज्ञान दो-एक विषयों तक ही सीमित नहीं था, बल्कि जीवन के विविध क्षेत्रों को छू रहा था। अणुशक्ति और साम्यवाद इन दोनों

विषयों पर वह एक-से आत्मविश्वास के साथ बोल सकता था। जैसे वह ज्योतिषशास्त्र पर प्रभावशाली ढंग से बोल सकता था, वैसे ही वह यह जानकारी भी दे सकता था कि प्रतिवर्ष नदी से कितना पानी बहता है। जैसे वह आहार-शास्त्र पर भाषण कर सकता था, वैसे ही बढ़ती हुई जनसंख्या के बारे में भी ब्योरेवार जानकारी व्यक्त कर सकता था। उसका ज्ञान-विषयक अभिमान विलक्षण ही था। दूसरों पर प्रभाव डालने के लिए अपने भाषण में वह अपने ज्ञान का कुशलतापूर्वक प्रदर्शन करता था। उसकी इस विद्वता के प्रदर्शन से लोग चकित और शांत होकर उसकी ओर आदर से देखने लगे थे। ज्ञान के प्रदर्शन से हम सब लोग कितने भयभीत हो जाते हैं! और विद्वानों के प्रति हम कितना विलक्षण आदर दर्शाते हैं। वह व्यक्ति जो अंग्रेजी बोल रहा था, उसे समझ पाना कभी-कभी कठिन लगता था। उसने देश के बाहर कभी प्रवास नहीं किया था, लेकिन अन्य देशों की पुस्तकों का उसने अध्ययन अवश्य किया था। वैसे किसी आदमी को शराब का या दूसरा कोई व्यसन होता है, वैसे ही इस विद्वान् को ज्ञान-प्राप्ति का व्यसन था।

"ज्ञान के अलावा प्रज्ञा क्या है? मनुष्य सारे ज्ञान को गढ़े में डाल दे, नष्ट कर दे—ऐसा आप क्यों कहते हैं? क्या मनुष्य के लिए ज्ञान आवश्यक नहीं है? ज्ञान यदि नष्ट हो जाय तो हमारी क्या स्थिति होगी? फिर हम आदिवासी लोगों की तरह ही हो जायेंगे। जिस विलक्षण तथा अनोखे जगत् में हम रहते हैं, उसके अनूठेपन की हमें तनिक भी जानकारी नहीं होगी। ज्ञान के बिना जीवन के किसी भी स्तर पर जीवन बिताना हमारे लिए असम्भव हो जायगा। यथार्थ आकलन के लिए ज्ञान बाधक ही होता है, ऐसा आप इतने आग्रह से क्यों कहते हैं?"

ज्ञान मनुष्य को संस्कारबद्ध कर डालता है। ज्ञान द्वारा मनुष्य को मुक्ति कभी नहीं मिल सकती। मनुष्य वायुयान बनाना जानता है। वह उसे तैयार करके उसमें बैठकर कुछ ही घण्टों में पृथ्वी-प्रदक्षिणा कर ले, लेकिन इसका नाम स्वतन्त्रता या मुक्ति नहीं है। यह ज्ञान मुक्तता अथवा स्वातन्त्र्य नहीं है। ज्ञान सर्जनशील नहीं होता, क्योंकि वह सातत्यात्मक होता है। वह जो अचिन्तनीय है, अज्ञात है, जो अन्तर्निहित है, उस तक यह सातत्यशील ज्ञान कभी नहीं पहुँच सकता। विमुक्त और अज्ञात के लिए ज्ञान बाधक ही होता है। जो अज्ञात है, उसका ज्ञान के आच्छादन में समा सकना कभी सम्भव नहीं। क्योंकि ज्ञान सदैव भूतकाल की ओर जाता है। यह भूतकाल वर्तमान को अथवा उस अज्ञात को हमेशा ढँक देता है। विमुक्त, स्वतन्त्र मन के बिना सत्य का आकलन सम्भव ही नहीं। ज्ञान-सम्पादन से सत्य का आकलन कभी नहीं होता। शब्दों के मध्यान्तर में, विचारों के मध्यान्तर में सत्य का दर्शन होता है। यह मध्यान्तर वह निस्तब्धता है, जिसे ज्ञान भंग नहीं कर सकता। यही है—विमुक्त, अचिन्तनीय और अन्तर्निहित।

"लेकिन क्या ज्ञान उपयोगी और आवश्यक नहीं है ? ज्ञान के बिना नये-नये शोध कैसे होंगे ?"

मन जब ज्ञान से लबालब भरा होता है, तब नया शोध नहीं होता, बल्कि जब ज्ञान का पूर्ण अभाव होता है, तभी वह होता है। ज्ञान का ऐसा अभाव होते ही निस्तब्धता फैलने लगती है, दिगंतर उदय होता है, मुक्त अवकाश निर्माण होता है। ऐसी अवस्था में अ:कलनशीलता उदित होती है और नये-नये शोध सम्भव होते हैं। इसमें संदेह नहीं कि ज्ञान एक स्तर पर उपयोगी है, लेकिन दूसरे स्तर पर तो वह निश्चित रूप से अहितकर ही सिद्ध होता है। ज्ञान का उपयोग जब अहं का विस्तार करने अथवा ज्ञान-वैभव से अपना वैभव बढ़ाने के लिए किया जाता है, तब ज्ञान उपद्रवकारी सिद्ध होता है तथा पृथकता एवं वैरभाव बढ़ाने में कारणीभूत होता है। ज्ञान से साधा जानेवाला यह अहंविस्तार ईश्वर के नाम पर हो, सत्ताशासन के नाम पर हो या विचार-प्रणाली के नामपर हो—हमेशा विघटनकारी ही सिद्ध होता है। भाषा अथवा तकनीक आदि का ज्ञान मनुष्य को संस्कारबद्ध करनेवाला हो, तो भी विशिष्ट स्तर पर वह आवश्यक होता है। बाह्य जीवन-व्यवहार को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए यह संस्कारमयता आवश्यक ही है। बाह्य व्यवहार में उससे सुरक्षा मिलती है। लेकिन इस संस्कारमयता का जब मानसिक कारणों के लिए उपयोग किया जाता है; और जब इस संस्कारमयता को मानसिक समाधान और आत्म-संतोष प्राप्त करने का एक साधन बनाया जाता है. तब वह अपरिहार्य रूप से संघर्ष और उलझन के लिए कारणीभूत होती है। इसके अलावा 'ज्ञान होना' इस शब्द का हम क्या अर्थ करते हैं ? वास्तव में आपको किस बात का ज्ञान है ?

"मुझे बहुत-सी बातों का ज्ञान है।"

आपके कहने का यही न अर्थ है कि अनेक विषयों की एकत्र की गयी जानकारी आपके पास है ? मान लीजिये, आपने किसी विषय से सम्बद्ध जानकारी एकत्र की, लेकिन उसके बाद क्या ? युद्ध के कारण होनेवाले अनर्थों की जानकारी क्या कभी युद्ध बन्द करा देती है ? वैयक्तिक क्रोध या हिंसा, सामूहिक क्रोध या हिंसा के क्या परिणाम होते हैं, इसकी बहुत-कुछ जानकारी आपने एकत्र की होगी, लेकिन इस जानकारी के कारण वैयक्तिक या सामूहिक द्वेष या वैर का अन्त हुआ है ?

"मैं यह स्वीकार करता हूँ कि युद्ध के अनर्थकारी परिणामों की जानकारी के कारण युद्ध तत्काल बन्द नहीं हो जायेंगे। लेकिन कालान्तर में तो इससे शान्ति स्थापित हो सकेगी। युद्ध के अनर्थकारी परिणामों की जानकारी लोगों के समक्ष बराबर रखनी चाहिए, उन्हें उसका पूरा ज्ञान करा देना चाहिए।"

लोग कौन ? आप और अन्य लोग। आपको इस विषय की इतनी अधिक जानकारी है, पर इस कारण आपकी महत्त्वाकांक्षा, आपकी हिंसात्मकता और अहं-केन्द्रितता

कुछ भी कम हुई है ? समाज में विषमता कैसे बढ़ती है, क्रान्तियाँ कैसे होती हैं, इसका आपने पर्याप्त अध्ययन किया होगा, तो भी आपकी अपनी उच्चता की भावना क्या नष्ट हो गयी है ? आपने अपने को महत्त्व देना बन्द कर दिया है ? संसार में प्रतिदिन घटनेवाली दुर्घटनाओं की, दुःखों की आपको पर्याप्त जानकारी है, पर क्या आपके हृदय में उसके कारण प्रेम और करुणा का उदय हुआ है ? इसके अलावा जरा यह देखिये कि हम क्या जानते हैं ? हमें किस बात का ज्ञान है ?

"युग-युग से संचित अनुभव ही ज्ञान है', यह मेरी ज्ञान की व्याख्या है। यह ज्ञान या तो परम्परा के रूप में रहता है अथवा सबोध-अबोध स्वरूप की सहज प्रवृत्ति के रूप में रहता है। ये जो सुप्त-गुप्त स्मृतियाँ अथवा सुप्त अनुभव हैं, वे परम्परा के कारण आगे की पीढ़ियों को प्राप्त होते रहते हैं। कोई भी कृति करते समय वे मनुष्य के लिए मार्गदर्शक होते हैं। कृति को वे मोड़ देते रहते हैं। ये आंशिक या वैयक्तिक स्मृतियाँ आवश्यक ही हैं, क्योंकि वे मनुष्य का रक्षण करती हैं और उसकी सहायता करती हैं। इस रूप में जो ज्ञान रहता है, उसे भी आप नष्ट कर डालना चाहते हैं क्या ?

किसी भी भय के कारण विशिष्ट मोड़ देनेवाली कृति वस्तुतः यथार्थ कृति नहीं है। आनुवंशिक पूर्वग्रह, भय, आशा, अपेक्षा अथवा आभास आदि के कारण जो कृति होती है, वह संस्कारबद्ध ही होती है। और यह तो है ही कि संस्कारबद्धता सदैव अधिक संघर्ष और दुःख ही उत्पन्न करती है। आप अपना ही उदाहरण लीजिये। शताब्दियों से चली आयी परम्परा के कारण आपकी संस्कारबद्धता ब्राह्मणत्व की है। अतएव बाह्य चुनौतियों को, सामाजिक परिवर्तनों को अथवा संघर्षों को आपकी ओर से जो उत्तर दिया जाता है, वह एक संस्कारबद्ध ब्राह्मण के नाते ही दिया जाता है। आप अपनी पूर्वसंस्कारबद्धता के अनुसार, गतानुभव के अनुसार अथवा ज्ञान के अनुसार प्रत्येक चुनौती का उत्तर देते हैं। इसलिए हर नया अनुभव आपकी संस्कारबद्धता में ही वृद्धि करता है। किसी विशिष्ट निष्ठा के अनुसार, किसी विचार-प्रणाली के अनुसार होनेवाला अनुभव उस विशिष्ट निष्ठा का अथवा विचार का सातत्य जारी रखनेवाला ही अनुभव है। ऐसा अनुभव पहलेवाली निष्ठा को ही बल प्रदान करता है। कल्पना या विचार मनुष्य में सदैव पृथकता, खण्डितपना निर्माण करता है। इस प्रकार किसी विशिष्ट निष्ठा के अनुसार, विशिष्ट विचार-प्रबन्ध के अनुसार होनेवाला अनुभव मनुष्य को अधिकाधिक पृथक् अथवा खण्डित करता है। ज्ञान के रूप में होनेवाला अनुभव या मानसिक संग्रह के रूप में होनेवाला अनुभव मनुष्य को अधिकाधिक संस्कारबद्ध करता है और फिर यह अनुभव मनुष्य के स्वार्थ-परिपोषण का ही एक प्रकार हो जाता है। इसलिए मानसिक स्तर के अनुभव के रूप में होनेवाला ज्ञान सत्य के आकलन में बाधक ही सिद्ध होता है।

"हमें जो-जो अनुभव होता है, वह सब क्या अपनी-अपनी निष्ठा के अनुसार ही होता है ?"

यह तो एकदम स्पष्ट है। नहीं है क्या ? देखिये, किसी विशिष्ट समाज-रचना ने आपको संस्कारबद्ध किया होगा, ईश्वर पर श्रद्धा रखने और सामाजिक भेदों को आवश्यक मानने के लिए समाज ने आपको शिक्षण दिया होगा। वस्तुतः यह समाज एक विशिष्ट स्तर पर आप ही हैं। दूसरे किसी मनुष्य पर ईश्वर को मानने का संस्कार पड़ा होगा, उसमें एक सर्वथा भिन्न विचार-प्रणाली के अनुसार बरतने का संस्कार पड़ा होगा। इन दोनों मनुष्यों के अनुभव उनकी विशिष्ट निष्ठा के अनुसार रहेंगे। लेकिन ऐसा निष्ठाधारित अनुभव उस अज्ञात के दर्शन के लिए पूरी तरह बाधक होता है। अनुभव अथवा ज्ञान के रूप में जो स्मृति है, वह विशिष्ट स्तर पर उपयोगी है। लेकिन मानसिक दृष्टि से अहं को अधिकाधिक बल देनेवाला अनुभव मनुष्य को भ्रम और दुःख की ओर ही ले जाता है। हमारा मन यदि नाना अनुभवों, स्मृतियों और ज्ञान से भर गया होगा, तो हमें किस बात का यथार्थ ज्ञान होगा ? हम यदि ज्ञानबद्ध रहेंगे तो क्या हमारे लिए साक्षात् अनुभवन सम्भव होगा ? जो ज्ञात है, वही क्या हमारे लिए साक्षात् अनुभवन में बाधक नहीं है ? आप किसी पुष्प का नाम जानते होंगे, लेकिन क्या आपको उस पुष्प का सही-सही अनुभव होता है। साक्षात् अनुभवन पहले होता है और उसके नामकरण द्वारा उस अनुभव को ही बल प्राप्त होता है। नामकरण करते रहने के कारण अधिक नये-नये साक्षात् अनुभवन में बाधा उत्पन्न होती है। साक्षात् अनुभवन की स्थिति में रहने के लिए नामकरण से, उसके साहचर्य और उसकी स्मृति-प्रक्रिया से पूरी तरह विमुक्त होना आवश्यक नहीं है क्या ?

ज्ञान सदैव उथला होता है। ऐसा यह उथला ज्ञान उस गहन-गम्भीर की ओर, उस अथाह की ओर क्या कभी जा सकता है ? मन तो ज्ञात का, भूतकाल का ही परिपाक होता है। ऐसा यह ज्ञातग्रस्त मन अपने विक्षेप के परे कभी जा सकता है ? नये शोध के लिए, नये दर्शन के लिए मन का यह विक्षेप-निर्माण का कार्य एकदम बन्द हो जाना चाहिए। विक्षेप के बिना मन का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं रहता। ज्ञान को अथवा भूतकाल को जो कुछ पूर्वज्ञात है, उसीका विक्षेप किया जा सकता है। ज्ञाता का साधन मन है, जो कभी नये का शोध नहीं कर सकता। इसलिए जो-जो पूर्वज्ञात है, उसका पहले अन्त होना चाहिए। साक्षात् अनुभवन के लिए अनुभव समाप्त हो जाना चाहिए। ज्ञान शुद्ध आकलनशीलता में बाधक है।

"लेकिन यदि हमारा सारा अनुभव, सारा ज्ञान, सारी स्मृतियाँ नष्ट हो जायँ, तो हमारे पास बचेगा ही क्या ? तब तो हम पूरी तरह शून्य बन जायेंगे।"

किन्तु आज भी आप क्या हैं ? शून्यता से कुछ अधिक हैं ? जब आप कहते हैं कि 'ज्ञान नष्ट हो जायगा तो हम शून्यवत् बन जायेंगे,' तब इस शून्यवत् स्थिति का

साक्षात् अनुभवन किये बिना आप केवल शाब्दिक वर्णन करते हैं। ठीक है न ? यह कहते समय आप एक प्रकार का भय महसूस करते हैं। आपको डर लगता है कि पता नहीं इससे हम पूरी तरह उजागर हो जायेंगे। हमारा नग्नरूप सामने आ जायगा। लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि ज्ञान के अथवा अन्य प्रकार के सब संग्रहों के अलावा आप आज भी शून्यवत् ही हैं। उस स्थिति में रहने में हर्ज भी क्या है ? इन सब झूठे ठाटों और अभिमानों का भार मनुष्य ढोये भी क्यों ? हम अपनी शून्यवत् स्थिति को मीठी कल्पनाओं, आशा-अपेक्षाओं और नाना प्रकार के सुखद विचारों के मोहक परिधानों से ढँके रखते हैं। लेकिन वस्त्रों के नीचे हमारे जो वास्तविक स्वरूप है, वह शून्यता का ही है यह शून्यता कोई अमूर्त तात्त्विक कल्पना नहीं है, बल्कि वह प्रत्यक्ष वस्तुस्थिति है। इस न-पना, इस शून्यता का साक्षात् अनुभवन ही प्रज्ञाशीलता का आरम्भ है।

'हम वास्तव में कुछ भी नहीं जानते' यह कहते हुए हमें कितनी शर्म महसूस होती है ! न जानने की इस प्रत्यक्ष वस्तुस्थिति पर हम शब्दों के और जानकारी के आवरण चढ़ाते हैं। वास्तव में आप अपनी पत्नी तथा अपने पड़ोसी को भी नहीं जानते। जब तक स्वयं आपको अपना ही ज्ञान नहीं है, तब तक दूसरों का ज्ञान कैसे हो सकता है ? अपने विषय में आपको बहुत कुछ जानकारी होती है, अपने विषय में बहुत से निर्णय भी आप ले चुके होते हैं, अपने से सम्बद्ध तरह-तरह के स्पष्टीकरण भी आपके पास होते हैं। लेकिन आपका जो वास्तविक रूप है, वह आपके भीतर ही अन्तर्भूत है। आपको उसका बिलकुल ज्ञान नहीं होता। ज्ञान नाम से पहचाने जाने-वाले आपके जो स्पष्टीकरण हैं, निर्णय हैं, वे ही आपके वास्तविक स्वरूप के साक्षात् अनुभवन में आड़े आते हैं। निर्व्याजता, निर्मलता, निर्दोषता के बिना हममें प्रज्ञा-शीलता कैसे आ सकती है ? हमारी भूतकालबद्ध स्थिति का अन्त हुए बिना निर्व्याजता का नवसर्जन कैसे सम्भव है ? यह अन्त, यह मरण क्षण-क्षण पर आवश्यक है। भूतकाल के मरण का अर्थ है अनुभवों को संचित न होने देना। इसके लिए अनुभविता को चाहिए कि वह गतानुभव को मृत्यु के रूप में देखे। हमारा अनुभव नष्ट हो जाय, हमारा ज्ञान नष्ट हो जाय तो फिर अनुभविता भी शेष नहीं रहता। जानने का अर्थ है न जानना। 'हम जानते हैं' यह मानना वस्तुतः अज्ञानी होना है। 'हम कुछ भी नहीं जानते' यह समझते ही प्रज्ञा का उदय होता है।

७८. निस्तब्धता और इच्छा-शक्ति

दूर तक फैला हुआ वह घुमावदार समुद्री किनारा बिलकुल सुनसान था—निर्जन था। केवल कुछ मच्छीमार उन ऊँचे-ऊँचे ताड़-वृक्षों के नीचे से होकर अपने-अपने गाँव की ओर लौट रहे थे। चलते-चलते अपनी उघड़ी जाँघों पर वे आँटे दे-देकर सूत कात रहे थे और तुरन्त ही तकली पर लपेटते जाते थे। उनका सूत खूब महीन होने के साथ-साथ अच्छा और पक्का दीख रहा था। उनमें से कुछ लोगों की चाल में सहजता और लालित्य झलक रहा था। कुछ लोग किसी तरह पैर घसीट रहे थे। वे सबके सब कृश और आधे पेट थे और धूप में काम करते-करते काले ठीकरे जैसे बन गये थे। इधर एक लड़का लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ मजे से गाता हुआ जा रहा था और उधर समुद्र की लहरें किनारे की ओर बढ़ती आ रही थीं। यों हवा तेज नहीं थी, लेकिन समुद्र उमड़ा हुआ था और लहरों में तूफानी वेग था। दूर के उस हरे-नीले सागर पर अभी-अभी चन्द्र उदित हुआ था। किनारे की पीली बालू की पार्श्वभूमि पर लहरें सफेद-सफेद दिखायी दे रही थीं।

जीवन वस्तुतः कितना सरल-सहज होता है ! लेकिन उसे हम कितना उलझा डालते हैं ! जीवन में उलझन रहती जरूर है, लेकिन फिर भी सीधे-सादे और सहजरूप से कैसे रहा जाय, यह हम नहीं जानते। उलझन को सरलता से समझ लेना चाहिए, नहीं तो हम उसका कभी आकलन नहीं कर सकेंगे। वस्तुतः हम ज्ञान से खूब लदे रहते हैं, इसीलिए जीवन हमारे हाथ नहीं लगता। यद्यपि यह ज्ञान होता बहुत कम है। पर इस अल्प की सहायता से हम उस अपार के, अगाध के निकट जाना चाहते है। लेकिन उस अमित का, उस दुर्भेद्य का भेदन करना, उस अगणनीय की गणना करना हमारे लिए कैसे सम्भव होगा ? हमारा अभिमान हमें बुद्धिशून्य बना डालता है, हमारा, अनुभव और हमारा ज्ञान हमें बद्ध कर डालता है, जिसके चलते जीवन-प्रवाह हमें एक ओर छोड़कर आगे ही आगे बहता चला जाता है। उस लड़के की तरह मजे में गाते-गाते जाना, उन मछुआरों की तरह पैर घसीटते हुए बढ़ना, उघड़ी जाँघ पर आँटे दे-देकर सूत कातते हुए चलना, उन देहाती लोगों की तरह होना और मोटर में घूमनेवाले जोड़े के जैसे बनना, इन सबके साथ एकरूपता प्राप्त करना किसी युक्ति द्वारा नहीं, सहजरूप से ही यदि कोई करना चाहे, तो उसके लिए हृदय में प्रेम होना चाहिए। वस्तुतः प्रेम-भावना उलझनभरी नहीं होती, लेकिन

मन उसे उलझनवाली बना डालता है। हम अपने विविध मनोव्यापारों में ही फँसे रहते हैं, इसलिए प्रेम की रीति हम नहीं जानते। हम अपनी अभिलाषा के सारे तौर-तरीके जानते हैं, अभिलाषा की रुचि और इच्छा भी जानते हैं। लेकिन प्रेम क्या है, यह हम नहीं जानते। प्रेम धूम्र रहित ज्योति है। धुएँ से हमारा गाढ़ परिचय होता है। हमारा हृदय और मस्तक धुएँ से भरा होता है और इसलिए हमें जो कुछ दीखता है, वह भी अस्पष्ट और धुँधला दीखता है। ज्योति के सौन्दर्य का दर्शन हम सादगी और सहजता से नहीं करते, बल्कि उससे अपने मन को दुःखी बना लेते हैं। उस ज्योति के साथ हम जीवन नहीं जीते। ऐसा नहीं होता कि वह ज्योति हमें जहाँ ले जाय, हम तेजी से उसके साथ चलते जायँ। यों हमारा ज्ञान बहुत विस्तृत होता है, लेकिन हमें वास्तविक ज्ञान बहुत कम होता है। तभी तो हम प्रेम को रास्ता दे देते हैं, एक ओर से चला जाने देते हैं। प्रेम हमें छकाकर भाग जाता है, खाली चौखट रह जाती है। हम कुछ नहीं जानते, इसका जिन्हें आकलन होता है, वे ही सचमुच सीधे-सादे व्यक्ति हैं। वे बहुत आगे जा सकते हैं, क्योंकि उनके सिर पर ज्ञान का बोझ नहीं होता।

वह एक नामी संन्यासी था। उसके तन पर गेरुए वस्त्र थे और दृष्टि में एक प्रकार का दूरीभाव था। वह कह रहा था कि वह पिछले अनेक वर्षों से सर्वसंग-परित्यागी है और अब ऐसी स्थिति में पहुँच गया है कि जहाँ इहलोक या परलोक का महत्त्व नहीं रह गया है। उसने अनेक साधनाएँ की थीं। अपने शरीर द्वारा उसने कठिन-से-कठिन व्रत किये थे। प्राणायाम द्वारा उसने अपने श्वासोच्छ्वास और अपनी मांस-पेशियों पर विलक्षण प्रभुत्व प्राप्त कर लिया था। यह साधना करते-करते उसे विराट् सामर्थ्य का अनुभव हो गया था। लेकिन इस सामर्थ्य-सिद्धि के लिए उसने कोई साधना नहीं की थी।

महत्वाकांक्षा अथवा अभिमान के कारण मनुष्य को जो सामर्थ्य प्राप्त होती है, वह यथार्थ आकलन के लिए जितनी बाधक सिद्ध होती है, इस प्रकार प्राप्त की गयी सामर्थ्य भी क्या उतनी ही बाधक सिद्ध नहीं होती? भय की तरह ही लोभ के कारण भी मनुष्य में एक प्रकार की कर्म-सामर्थ्य पैदा होती है, लेकिन किसी भी प्रकार की सामर्थ्य का भान, प्रभुत्व का भान अहं को ही बल देता है। 'मैं' और 'मेरे' को ही बल देता है। क्या यही अहंभाव सत्य के दर्शन में बाधक नहीं होता?

वह संन्यासी कहने लगा: "मनुष्य में जो कुछ नीच या हीन कोटि का हो, उसे या तो दबा देना चाहिए अथवा उसे अनिवार्य रूप से उदात्तता के अनुरूप बना लेना चाहिए। मन और शरीर की नाना प्रकार की अभिलाषाओं में जो संघर्ष चलता रहता है, उसे शान्त कर डालना चाहिए। दमन की, संयमन की प्रक्रिया के चलते

संयमी को सामर्थ्य का बोध होने लगता है। लेकिन इस सामर्थ्य का उपयोग अधिक उच्च स्तर पर जाने के लिए अथवा अधिक गहरे जाने के लिए किया जाता है। इस सामर्थ्य का उपयोग जब स्वार्थ के लिए किया जाता है, तभी वह हानिकारण बनती है। लेकिन उस सर्वश्रेष्ठ तक पहुँचने का मार्ग निष्कंटक बनाने के लिए जब इस सामर्थ्य का उपयोग किया जाता है, तब वह हानिकारक नहीं होती। यह सामर्थ्य ही इच्छा-शक्ति है, वही मार्गदर्शक है। इच्छा-शक्ति का उपयोग जब व्यक्तिगत हित के लिए किया जाता है, तभी वह विनाशकारी सिद्ध होता है। लेकिन जब उसका उपयोग सही दिशा में किया जाता है, तब वह लाभदायी सिद्ध होती है। इच्छा-शक्ति के बिना कोई भी कृति सम्भव नहीं।"

देखिये, प्रत्येक नेता एक विशिष्ट ध्येय प्राप्त करने के लिए साधन के रूप में अपनी शक्ति का उपयोग करता है। सामान्य मनुष्य भी यही करता है। लेकिन नेता कहता यह है कि वह अपनी शक्ति का उपयोग सबके कल्याण के लिए करता है, जब कि सामान्य मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए अपनी शक्ति का उपयोग करता है। तानाशाह, सत्ताधीश अथवा नेता का साध्य हो अथवा उनके अनुयायियों का साध्य हो, बात एक ही है। नेता और अनुयायी का साध्य समान ही होता है। एक-दूसरे का विस्तार ही होता है। ये दोनों अहंविस्तार केवल अहंविक्षेप ही होते हैं। हम एक का धिक्कार करते हैं, दूसरे की प्रशंसा करते हैं। लेकिन वास्तव में क्या हमारे सारे साध्य अथवा ध्येय हमारे भय, हमारी इच्छा, हमारी रुचि और हमारे पूर्वग्रह की ही निष्पत्ति नहीं होते ? आप अपनी इच्छा का, प्रयत्नों का और सामर्थ्य का उपयोग उस सर्वश्रेष्ठ तक पहुँचने के मार्ग को निष्कंटक बनाने के लिए करते हैं। पर यह सर्वश्रेष्ठ भी तो आपकी ही अभिलाषा की, आपकी ही इच्छा की उपज है। इच्छा हमारे ध्येय का अथवा सामर्थ्य का निर्माण करती है और उसे प्राप्त करने के लिए ही अन्य सारी प्रवृत्तियों का निरोध करती है अथवा उनका बलिदान करती है। यह साध्य अथवा ध्येय ही इच्छा है। लेकिन उसे 'सर्वश्रेष्ठ', शासन-संस्था अथवा विचार-प्रणाली, जैसा कोई बढ़िया नाम दिया जाता है।

"लेकिन क्या इच्छा-शक्ति के बिना संघर्ष का अन्त सम्भव है ?"

संघर्ष कैसे पैदा होता है और उसका व्यापार कैसे चलता रहता है, इसका आकलन किये बिना संघर्ष को केवल दबा देने का, उन्नयन करने का अथवा उसके स्थान पर दूसरे किसीकी प्रतिष्ठापना करने का क्या अर्थ है ? किसी रोग को आप दवा से दबा दें तो वह किसी और जगह अपना सिर उठायेगा। सहेतुक अभिलाषा ही इच्छा है। इच्छा कलह की निष्पत्ति है। इच्छा स्वयं ही संघर्ष है। इच्छा सोद्देश्य होती है। किसी दिशा में प्रेरित अभिलाषा ही इच्छा है। अभिलाषा की प्रक्रिया का आकलन किये बिना, केवल उसे नियंत्रित करना अपने पर अधिक दुःख और अधिक

संकट ओढ़ना है। किसी तरह का नियन्त्रण करना पलायन है, उसे टालना या दृष्टि से ओझल करना है। किसी लड़के को या किसी समस्या को नियन्त्रित कर लें, इस कारण उस लड़के का अथवा समस्या का आकलन हो गया, ऐसी बात नहीं है। किसी भी समस्या का अन्त कर डालने की अपेक्षा उसका आकलन करना अधिक अर्थपूर्ण है। इच्छा द्वारा की गयी कृति सदैव विनाशकारी होती है। क्योंकि, किसी भी साध्य की दिशा में की जानेवाली कृति मनुष्य को संकुचित बनाती है। वह दूसरों से दूर कर देती है, अलग कर देती है। संघर्ष और अभिलाषा मनुष्य को चुप नहीं बैठने देती। क्योंकि, ऐसा प्रयत्न करनेवाला अहं स्वयं ही संघर्ष और अभिलाषा का बना होता है। विचारक और उसका विचार अभिलाषा की ही उपज है। जिस अभिलाषा के रूप में अहं उच्च या नीच किसी भी स्तर पर अधिष्ठित हो, उस अभिलाषा के स्वरूप को जब तक जाना नहीं जायगा तब तक मन बराबर अज्ञान में ही अटका रहेगा। उस सर्वश्रेष्ठ की ओर जानेवाला मार्ग अभिलाषा या इच्छा के माध्यम से होकर नहीं जाता। प्रयत्न करनेवाले अहं का जब पूर्ण विसर्जन हो जाता है, तभी उस सर्वश्रेष्ठ का उदय सम्भव है। कुछ विशेष होने की अभिलाषा अथवा उस सर्वश्रेष्ठ के लिए मार्ग की इच्छुक इच्छा ही संघर्ष उत्पन्न करती है। अभिलाषा से निर्मित मन प्रयत्न से नहीं, बल्कि सहजरूप से ही जब शून्य बनता है, तब उस शान्त स्थिति में सत्य उदित होता है। पर वह शान्ति कोई साध्य नहीं होती।

"किन्तु इस शान्त स्थिति के लिए क्या सादगी आवश्यक नहीं है?"

सादगी शब्द से आपका क्या अभिप्राय है? सादगी नामक सद्गुण से एकरूप होना या सहजरूप से सादगीमय रहना?

"जो भीतर और बाहर से सीधा-सादा है, उससे एकरूप हुए बिना मनुष्य सीधा-सादा बनेगा कैसे?

आप सीधे-सादे होना चाहते हैं, यही न आपके कहने का मतलब है? देखिये, वस्तुतः मनुष्य उलझा हुआ होता है। लेकिन किसी सामान्य देहाती अथवा भगवा वस्त्रों से व्यक्त होनेवाली किसी जीवन-प्रणाली से एकरूप होकर वह सीधा-सादा बनता है। मैं 'ऐसा' हूँ और मैं 'वैसा' बनता हूँ, इस प्रकार की प्रक्रिया में से जो मूर्त होता है, वह सचमुच में सादगीपन होता है या सादगी की केवल नकल होती है? सादगी की कल्पना के साथ एकरूप होने का अर्थ सादगी नहीं है। है या नहीं? कोई आदमी बराबर यह कहता रहे कि मैं सीधा-सादा हूँ अथवा सादगी की कल्पना से एकरूप होता रहे, तो क्या वह सीधा-सादा रह सकेगा? हमारा जैसा भी वास्तविक स्वरूप है, वैसा ही उसका आकलन करने में सादगी है। जो वास्तविक रूप है, उसमें परिवर्तन करके सादगी की कल्पना में उसका रूपान्तर करने में सादगी कतई नहीं है। जो वास्तविक है, उसमें परिवर्तन लाकर, जिसका मूल में ही अस्तित्व न

हो, क्या कभी उसका अस्तित्व कायम किया जा सकता है ? क्या प्रयत्न से लोभ का रूपान्तर निर्लोभता में किया जा सकता है ? फिर यह लोभ ईश्वर का हो या धन का अथवा मदिरा का। हम जिससे एकरूप होते रहते हैं, वह वस्तुतः हमारा ही विक्षेप, हमारी ही कल्पना होती है, फिर यह विक्षेप चाहे उस सर्वश्रेष्ठ का रूप धारण करे चाहे शासन-संस्था का अथवा कुटुम्ब या परिवार का। चाहे जिस स्तर पर एकरूप होना केवल अहं का ही व्यापार है।

जो जैसा है, वैसा ही उसका दर्शन करना सादगी का लक्षण है—फिर उसमें कितनी ही उलझनें क्यों न दिखाई दें। अपना जैसा स्वरूप है, वैसा ही उसका आकलन करना कठिन नहीं है, लेकिन उस वास्तविक स्वरूप की सकारात्मक या नकारात्मक तुलना करके, उसका धिक्कार करके, अथवा नाना प्रकार के पूर्वग्रह पालकर हम उससे जो दूर-दूर जाते रहते हैं, उसके कारण ही सही आकलन में बाधा पड़ती है। इन सारी बातों के कारण वास्तविक रूप को उलझा हुआ रूप दे दिया जाता है। जो वास्तविक है, वह कभी उलझा हुआ नहीं होता, वह सदैव सीधा-सरल होता है। आपका जो वास्तविक स्वरूप है, उसका आकलन करना सरल है, किन्तु आप जिस दृष्टि से उसकी ओर देखते हैं, उसीके कारण वह उलझ जाता है। इसलिए वास्तविक स्वरूप को उलझा हुआ रूप देने की सम्पूर्ण प्रक्रिया का आकलन करना आवश्यक है। बच्चे का तिरस्कार न करते हुए, वह जैसा है, वैसा समझ लेने पर उससे कैसे बरता जाय, यह सहज ही समझ में आ जाता है। पर उसका भी धिक्कार करने से उलझनें पैदा हो जाती हैं। जो जैसा है, उसे वैसा ही समझ लेने पर साकार होनेवाली कृति ही सीधी-सादी कृति होती है।

यथार्थ निस्तब्धता के लिए निस्तब्धता के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। निस्तब्धता ही उसका आदि है और वही उसका अंत है। किसी भी विशिष्ट वस्तु से वह गढ़ी नहीं जाती। वह जो है वह होना ही उसका रूप है। कोई भी किसी भी साधन से निस्तब्धता तक नहीं जा सकता। जब यह मान लिया जाता है कि निस्तब्धता गढ़ने की या प्राप्त करने की चीज है, तभी साधनों को महत्त्व प्राप्त होता है। जब निस्तब्धता क्रय वस्तु मान ली जाती है, तभी सिक्के को महत्त्व प्राप्त होता है। लेकिन इस सिक्के का या सिक्के से क्रय की जानेवाली वस्तु का निस्तब्धता से कोई सम्बन्ध नहीं होता। साधनों का स्वरूप सदा ही कोलाहलमय, हिंसात्मक और सूक्ष्म-रूप में स्वार्थसाधक होता है और साध्य का स्वरूप भी साधनों जैसा ही होता है। कारण, साधनों में ही साध्य निहित है। प्रारम्भ यदि शान्ति से हुआ होगा, तो अन्त भी शान्ति में ही होगा। शान्ति प्राप्त करने का कोई साधन नहीं हो सकता। कोलाहल की समाप्ति पर केवल शान्ति ही शेष रहती है। प्रयत्नों के, साधनों के, तपस्या

के अथवा इच्छा के कोलाहल से कोलाहल नष्ट नहीं होता। इस सत्य को पहचानिये, तभी शान्ति का सहज दर्शन होगा।

७६. महत्त्वाकांक्षा

वह बच्चा सारी रात रोता रहा। उसकी माँ बेचारी उसे चुप करने का तरह-तरह से प्रयत्न करती रही। वह कभी लोरी गाती, कभी उसे सहलाती, हिलाती-डुलाती, कभी उस पर नाराज भी हो जाती, लेकिन सब बेकार। शायद बच्चे के दाँत निकल रहे थे। अतः उस परिवार की वह रात अत्यन्त कष्ट में बीती। लेकिन अब आकाश में लालिमा प्रकट होने लगी थी। वृक्षों के सिरों पर ऊषा झलकने लगी थी और अब वह बच्चा भी चुप हो गया था। अरुण प्रकाश जैसे फटने लगा, वैसे ही वातावरण में एक अनोखी निस्तब्धता फैलने लगी। आकाश की पार्श्वभूमि पर पेड़ों की सूखी पतली डालियाँ स्पष्ट उठी हुई दिखाई दे रही थीं। इतने में ही एक लड़का चिल्लाने लगा। एक कुत्ता भूँकने लगा। एक लारी रास्ते से खड़-खड़ करती निकल गयी। एक नया प्रभात हुआ। रातभर रोनेवाले बच्चे को ठीक से लपेटकर उसकी माँ उसे बाहर ले आयी और गाँव पार कर वह सड़क के एक ओर बस की प्रतीक्षा में खड़ी हो गयी। सम्भवतः वह बच्चे को डॉक्टर के पास ले जा रही थी। रातभर जागने के कारण वह बहुत क्लान्त-श्रान्त थी, लेकिन उसका बच्चा गहरी नींद में था।

शीघ्र ही सूर्य वृक्षों के सिरों पर आ पहुँचा। हरी-हरी घास पर ओस-बिन्दु चमकने लगे। दूर से रेलगाड़ी की सीटी की आवाज सुनाई पड़ने लगी। दूरवर्ती पर्वत शीतल और सघन लगने लगा। एक बड़ी मादा-पक्षी अण्डे से रही थी। हमारे अनपेक्षित पहुँच जाने के कारण वह फड़फड़ाकर दूर उड़ गयी। उड़ने से पहले अपने अण्डों को सूखे पत्तों से ढाँकने का समय शायद उसे नहीं मिल पाया। अण्डे एक दर्जन से अधिक थे। उन अण्डों को ढँकने का समय उसे भले ही नहीं मिला था, फिर भी उसने उन्हें इतनी होशियारी से छिपा दिया था कि वे किसीको सहज में दीख नहीं रहे थे। अब वह दूर के एक पेड़ पर बैठकर अण्डों को सतर्कतापूर्वक देख रही थी। कुछ दिनों के बाद वह मादा अपने नवजात शिशुओं सहित हमें पुनः दिखाई दी। अब उसका वह घोंदा खाली हो गया था।

उस घने जंगल में से दूर की टेकड़ी के सिरे तक जानेवाली उस पगडंडी के दोनों ओर के वृक्षों की घनी छाया के कारण एक प्रकार की सुखद ठंडक लग रही थी। उस ऋतु के वनपुष्पों में तो अद्भुत बहार आयी थी। कुछ ही दिनों पहले यहाँ गहरी वर्षा होने के कारण जमीन मुलायम और भुरभुरी बन गयी थी। चारों ओर आलू के खेत

फैले हुए थे। सामने की उपत्यका की तलहटी में कस्बा बसा हुआ था। वह एक सुन्दर मनोरम प्रभात था। पहाड़ी से उतरकर हम घर की ओर चल पड़े।

मुलाकात के लिए आयी हुई वह महिला बड़ी चतुर थी। उसने सारी अद्यतन पुस्तकें छान डाली थीं, नवीनतम सिनेमा देख डाले थे और एक आधुनिकतम समझी जानेवाली लोकप्रिय तत्त्वप्रणाली की भी उसे पर्याप्त जानकारी थी। किसी मनोविज्ञान-वेत्ता से उसने अपने मन का विश्लेषण करा लिया था और उसने स्वयं भी मनोविज्ञान-शास्त्र का पर्याप्त अध्ययत किया था, ऐसा दिखाई दिया। क्योंकि वह उसकी विशिष्ट परिभाषा से परिचित थी। सभी प्रकार के प्रसिद्ध व्यक्तियों से मुलाकात करने का उसे विशेष शौक था। संयोग से एक व्यक्ति उसे यहाँ ले आया था। उसकी बोली में एक प्रकार की सहजता और सन्तुलन था। उसका बोलना प्रभावकारी भासित हो रहा था। वह विवाहित थी पर उसे बाल-बच्चे नहीं थे। उसकी बातचीत से लग रहा था कि उसने ये सारी बातें पीछे छोड़ दी हैं और अब वह एक नये ही प्रवास पर चल पड़ी है। वह धनी लगती थी, क्योंकि श्रीमन्ती का विशिष्ट वातावरण उसके चारों ओर लहरा रहा था। उसने मिलते ही प्रश्न किया : "वर्तमान संकटकालीन परिस्थिति में आप जगत् की किस प्रकार सहायता करते हैं ?" सम्भवत: यह उसके निश्चित प्रश्नों में से ही एक था। इसके बाद युद्ध कैसे रोके जा सकते हैं, साम्यवाद का क्या प्रभाव पड़ रहा है, मनुष्य का भविष्य क्या है,- ऐसे विषयों पर बड़ी उत्सुकता से वह प्रश्न पूछने लगी।

सारे युद्ध, सारे बढ़ते हुए संकट और दुःख क्या हमारी दैनन्दिन जीवन-प्रणाली के ही परिणाम नहीं हैं ? वर्तमान विश्व-संकट के लिए क्या हममें से प्रत्येक व्यक्ति उत्तरदायी नहीं है ? भविष्य सदैव वर्तमान में ही अन्तर्भूत रहता है। मनुष्य को यदि वर्तमान की अवधारणा न रहे तो भविष्य भी वर्तमान से बहुत भिन्न नहीं रहेगा। क्या आपको नहीं लगता कि इस संघर्ष और उलझन के लिए प्रत्येक व्यक्ति उत्तरदायी है।

"शायद ऐसा ही हो। लेकिन उत्तरदायित्व की ऐसी जानकारी यदि प्रत्येक को हो जाय तो भी उसमें से निष्पन्न क्या होनेवाला है ? आज जिस व्यापक परिमाण में विनाशकारी घटनाएँ घट रही हैं, उन्हें देखते हुए मेरे जैसे किसी भी व्यक्ति की किसी भी छोटी-सी कृति की क्या कीमत है ? मनुष्य की जो सार्वत्रिक बुद्धिहीनता चारों ओर फैली हुई है, उस पर मुझ जैसे किसी व्यक्ति के विचार का क्या प्रभाव पड़ सकता है ? इस समय जगत् में चारों ओर केवल बुद्धिहीनता का ही साम्राज्य छाया है। ऐसी स्थिति में किसी एकाध व्यक्ति की बुद्धिमत्ता से कौन-सा परिवर्तन आ जायगा। इसके अलावा, व्यक्तिगत कृति का जगत् पर कुछ ठोस परिणाम होने के लिए कितना लम्बा समय लगेगा, इस पर भी हमें विचार करना चाहिए।"

देखिये, क्या जगत् आपसे कुछ भिन्न है ? वर्तमान समाज की रचना क्या आप-हम जैसे लोगों की ही कृति नहीं है ? इसलिए आज की समाज-रचना में मूलगामी परिवर्तन करने के लिए क्या हमें सबसे पहले अपने-आपमें—मुझमें और आपमें—परिवर्तन नहीं करना चाहिए ? हमसे यदि उसका श्रीगणेश न हो तो सम्पूर्ण जीवन-मूल्यों में गहरी क्रांति कैसे आ सकती है ? वर्तमान संकटमय परिस्थिति में से मानव की मुक्ति के लिए क्या किसी नयी विचार-प्रणाली का या किसी नयी आर्थिक योजना का आधार लेने की आवश्यकता है ? अथवा हमारे अपने मन में जो संघर्ष और जो उथल-पुथल मची है और जिसका विक्षेप ही यह संसार है, क्या उस संघर्ष और उथल-पुथल का आकलन आरम्भ करने की आवश्यकता नहीं है ? क्या नयी-नयी विचार-प्रणालियाँ मानव-मानव में कभी भी ऐक्य प्रस्थापित कर सकती हैं ? भिन्न-भिन्न वैचारिक निष्ठाएँ ही क्या मनुष्य में वैमनस्य उत्पन्न नहीं करतीं ? अवरोध सदैव सैद्धांतिक होते हैं, अतः अपने सैद्धांतिक अवरोधों और सारे पूर्वग्रहों को किनारे रखकर तथा निर्णयों के और सूत्रों के फेर में न पड़कर अपनी सब समस्याओं का आकलन हमें प्रत्यक्ष रूप से अनाग्रही वृत्ति से क्यों नहीं कर लेना चाहिए? हम अपनी समस्याओं से साक्षात् सम्बन्ध कभी प्रस्थापित नहीं करते; वल्कि किसी-न-किसी निष्ठा अथवा सूत्र को आधार बनाकर ही हम उन समस्याओं की ओर देखते हैं। हम अपनी समस्याओं से जब साक्षात् सम्बन्ध स्थापित करेंगे, तभी हम अपनी समस्याएँ हल कर सकेंगे। वस्तुस्थिति यह है कि हमारी समस्याएँ मनुष्य-मनुष्य में कोई वैमनस्य उत्पन्न नहीं करतीं, वल्कि उन समस्याओं के विषय में हमारे मन में जो कुछ कल्पनाएँ होती हैं, वे ही वैमनस्य के लिए कारणीभूत होती हैं। समस्याएँ तो हमें एक-दूसरे के निकट लाती हैं, लेकिन समस्या-विषयक हमारी कल्पनाएँ हमें एक-दूसरे से दूर ले जाती हैं।

एक बात पूछूँ ? आपको आज के विश्व-संकट के सम्बन्ध में इतनी चिन्ता क्यों हो रही है ?

"चिन्ता क्यों होती है, यह तो मैं नहीं जानती। अपने चारो ओर मैं इतना दुःख, दैन्य, इतनी यातनाएँ देखती हूँ। अतः इस बारे में कुछ-न-कुछ करना अत्यन्त आवश्यक है, ऐसा मुझे लगता है।"

आपको इस बारे में सचमुच चिन्ता है? अथवा कुछ-न-कुछ करने की महत्त्वाकांक्षा है, इसलिए आप ऐसा कह रही हैं ?

"आप जब यों पूछ रहे हैं, तो उस पर से मुझे ऐसा लगता है कि इस विषय में कुछ किया जा सके, और उसमें सफलता मिले, ऐसी मेरी महत्वाकांक्षा अवश्य है।"

हममें से बहुत कम लोग अपने विचारों के बारे में इतनी प्रांजलता दर्शाते हैं। प्रत्येक मनुष्य में सामान्यतः सफलता की आकांक्षा होती है। हम चाहते हैं कि या तो हम स्वयं सफल हों अथवा जिस ध्येय या निष्ठा से हम एकरूप हो गये हैं, वह ध्येय या निष्ठा सफल हो। वास्तव में यह ध्येय या निष्ठा हमारे मन का ही विक्षेप होती है, वह मन की रचना होती है। हमारे प्रतिबन्धन के अनुसार हमारा मन नाना प्रकार के अनुभव लेता रहता है। अपने इन विक्षेपों के लिए हम अविरत कार्य करते रहते हैं, अपार कष्ट उठाते रहते हैं, दासता भुगतते रहते हैं और उन्हींके लिए अन्त में मृत्यु के मुख में भी चले जाते हैं। स्व-विक्षेप के ये सारे प्रकार वस्तुतः आत्मपूजा के ही हैं। ईश्वर-भक्ति की भाँति राष्ट्र-भक्ति या राष्ट्रीयता भी केवल आत्मपूजन है। इनमें से कोई भी कार्य करते समय हमारा अहं ही हमें सर्वश्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है, फिर वह साक्षात् स्वतः के रूप में हो अथवा किसी विचार-प्रणाली के रूप में। संसार के दुःख-दैन्य अथवा संकटों का वस्तुतः हमारे लिए कोई महत्त्व नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि विश्व-संकट में से मार्ग निकालने की हमारी कोई इच्छा नहीं होती। यह तो चतुर लोगों की चर्चा का एक नया विषय है और वह सामाजिक कार्यकर्ताओं तथा आदर्शवादियों के लिए एक नया कार्यक्षेत्र है।

हम इतने महत्वाकांक्षी होते क्यों हैं?

"मुझे तो ऐसा लगता है कि मनुष्य में यदि महत्त्वाकांक्षा न होती, तो जगत् में कोई काम ही नहीं किया जाता। हममें महत्त्वाकांक्षा न होती तो आज भी हम घोड़ागाड़ी में ही घूमते होते। महत्त्वाकांक्षा प्रगति का पर्याय है। प्रगति न हो तो हमारा ह्रास ही होता जायगा। मनुष्य मृत्यु के पथ पर चलने लगेगा।"

आज तक मनुष्य इस जगत् में जो कार्य करता आया है, उनके कारण अधिकाधिक दुःख-दैन्य और महायुद्धों की वृद्धि भी तो बराबर होती आ रही है। छोड़कर केवल महत्त्वाकांक्षा को ही प्रगति कहेंगे? अब हम प्रगति का विचार छोड़कर केवल महत्त्वाकांक्षा का ही विचार करें। हम महात्त्वाकांक्षी क्यों होते हैं? हम किसी तरह सफल हों, हम कुछ विशेष बनें, ऐसा हम क्यों चाहते हैं? दूसरों से ऊपर उठने के लिए हम दौड़-धूप क्यों करते रहते हैं? किसी राज्यसत्ता के द्वारा, किसी विचार-प्रणाली के द्वारा अथवा स्वयं अपने ही द्वारा अपना महत्त्व प्रस्थापित करने के लिए हम क्यो इतने प्रयत्नशील रहते हैं? स्वत्वाग्रह की यह अभिलाषा ही क्या हमारे संघर्ष और भ्रम का मूल कारण नहीं है? मान लीजिये कि हममें महत्त्वाकांक्षा नहीं हैं, तो क्या हम नष्ट हो जायेंगे? क्या महत्त्वाकांक्षा के बिना देहधारण सम्भव नही है?

"लेकिन जीवन में यदि यश और मान-सम्मान मिलनेवाला न हो, सफलता मिलनेवाली न हो, तो केवल जीवित रहने की हविस किसको होगी ?"

जरा सोचिये तो कि क्या आपकी इस यश-कीर्ति की अभिलाषा के कारण ही आन्तरिक और बाह्य संघर्ष उत्पन्न नहीं होता ? महत्त्वाकांक्षारहित जीने का अर्थ ह्रास की ओर जाना कैसे है ? संघर्षरहित जीवन का अर्थ क्या कूपमण्डूक जैसा जीवन होता है । अपनी निष्ठाओं और सिद्धान्तरूपी मादक द्रव्यों द्वारा हम अपने-आपको नशे में बुत कर सकते हैं, तव गहरे संघर्ष के अस्तित्व से हम बेखबर रह सकते हैं । हममें से अनेक लोगों के लिए कोई-न-कोई कार्य करते रहना ही मादक औषधि बन जाती है । स्पष्ट वात तो यह है कि ऐसी लीनता, ऐसी बेहोशी की स्थिति में रहना ही वस्तुतः मनुष्य के ह्रास और क्षय के लिए कारणीभूत है । जब हम मिथ्या को मिथ्या जान लेते हैं, तब क्या इसके कारण हम मृत्यु के मार्ग पर चल पड़ते हैं ? किसी भी तरह की महत्त्वाकांक्षा की जानकारी—फिर वह सुख-प्राप्ति की हो, यश की हो, ईश्वर-प्राप्ति की हो, आन्तरिक और बाह्य संघर्ष के बीज बोती है । वस्तुस्थिति का साक्षात् ज्ञान वस्तुतः न तो सारे कर्मों का समापन है और न वह जीवन का अन्त ही है ।

लेकिन ऐसा होते हुए भी हम महत्त्वाकांक्षी क्यों बनते हैं ।

"मैं स्वयं तो ऐसा समझती हूँ कि यदि मैं अपने को किसी-न-किसी लक्ष्य-प्राप्ति के प्रयत्न में न लगा लूँ तो मेरे जीवन में नीरसता और ऊब भर जायगी । पहले मेरी महत्त्वाकांक्षा पति को यश प्राप्त कराने की थी । पति के द्वारा मैं अपनी ही महत्त्वाकांक्षा पूरी कर रही थी, ऐसा शायद आप कहेंगे । लेकिन अब तो मैं एक विचार के द्वारा, एक कल्पना के द्वारा अपनी ही महत्त्वाकांक्षा पूरी करना चाहती हूँ । महत्त्वाकांक्षा के विषय में ऐसा विचार मैंने कभी किया ही नहीं था । लेकिन मैं महत्त्वाकांक्षी थी, इतना सत्य है ।"

चतुराई और महत्त्वाकांक्षा से हम इतने चिपके क्यों रहते हैं । हमारा जो वास्तविक स्वरूप है, उसकी ओर से आँखें मूँद लेने की प्रेरणा ही क्या महत्त्वाकांक्षा नहीं है ? हमारी ऐसी चातुरी ही क्या वस्तुतः मूढ़ता नहीं है ? क्या यह मूढ़ता ही हमारा वास्तविक रूप नहीं है ? अपने इस वास्तविक स्वरूप का हमें इतना भय क्यों लगता है ? हमारा जो वास्तविक स्वरूप है, वही यदि सदैव रहनेवाला है, तो फिर उससे दूर भागने का क्या अर्थ है ? अपने वास्तविक स्वरूप से दूर जाने में हम शायद सफल भी हो जायँ । लेकिन इस तरह हम कितनी ही दूर चले जायँ, तो भी हमारा वास्तविक स्वरूप ज्यों-का-त्यों कायम रहता है और वह संघर्ष तथा दुःख उत्पन्न करता रहता है । अपने अकेलेपन का, अपनी रिक्तता का हमें

इतना भय क्यों लगता है ? अपने वास्तविक स्वरूप से दूर भागने के लिए की जाने-वाली प्रत्येक कृति के द्वारा निश्चय ही दुःख और वैरभाव की वृद्धि ही होती जायगी, यह हमें ध्यान में रखना चाहिए। अपने वास्तविक स्वरूप से दूर भागना, उसे टालना ही संघर्ष है। इसके सिवा संघर्ष का और कोई कारण ही नहीं है। अपने वास्तविक स्वरूप का दर्शन करने से हम मुकरते हैं, इसीलिए हमारा संघर्ष और अधिक उलझता जाता है और उसे सुलझाना कठिन होता जाता है। जो वास्तविक है, उसमें कोई उलझन नहीं होती। वास्तविकता से दूर जाने के लिए हम जो अनेक बहाने खोजते हैं, उन्हींसे उलझन पैदा होती है। ●

८०. आत्मसन्तोष

आकाश मेघाच्छन्न था। गर्मी तेज थी, लेकिन वायुलहरी पत्तों से क्रीड़ा कर रही थी। दूर पर मेघ-गर्जना सुन पड़ी। वर्षा की फुहारों से धरती की धूल बैठ गयी। तोतों की पाँत गर्दन उठाये कर्कश आवाज करती हुई इधर-उधर उड़ रही थी। एक वृक्ष की सबसे ऊँची शाखा पर बैठकर एक गरुड़ पक्षी अपने पंख साफ करते हुए नीचे के सारे खेल को निरख रहा था। दूसरी शाखा पर एक छोटा-सा वन्दर बैठा था। गरुड़ और वन्दर अपने-अपने सुरक्षित स्थल से एक-दूसरे को देख रहे थे। इतने में एक कौआ उनके निकट आकर बैठ गया। अपनी प्रातःक्रिया करके गरुड़ कुछ देर चुप बैठा रहा, फिर उड़ गया। मनुष्यों के सिवा अन्य सब प्राणियों का और प्रकृति का नया दिन प्रारम्भ हो गया था। विगत कल का आज कुछ शेष नहीं था। वे वृक्ष और वे तोते भी कल के जैसे नहीं थे। घास तथा पौधों पर भी नयी क्रांति झलक रही थी। केवल मनुष्यों की कल की स्मृति 'आज' को झकझोर देती है और उसकी तुलना करने की प्रवृत्ति वास्तविक वस्तुदर्शन में बाधक बनती है। निसर्ग में चारों ओर फैले हुए वे लाल-पीले खिले फूल कितने सुन्दर दीख रहे थे ! सौन्दर्य वास्तव में काल-निरपेक्ष होता है। मनुष्य लोग ही प्रतिदिन काल का भार सिर पर ढोते रहते हैं। कोई भी नया दिन अनेक विगत कल की काली छाया ओढ़े हुए दीखता है। हमारे जीवन में प्रत्येक बीते कल का दिन आज में मिलता रहता है और कल-आज की यह सातत्यात्मक गति अखण्ड रूप से चालू रहती है। उसका कभी अन्त नहीं आता। हमें अन्त का सदैव भय बना रहता है। लेकिन पुराने का अन्त हुए बिना नये का उदय कैसे होगा ? मृत्यु के बिना नवजीवन का संचार कैसे होगा ? जीवन और मृत्यु के सम्बन्ध में हमें वास्तव में कितना कम ज्ञान होता है ! इनके बारे में अनेक शाब्दिक विधान, अनेक स्पष्टीकरण हमारे

पास होते हैं और उतने से ही हम सन्तुष्ट रहते हैं। शब्दों की यह प्रकृति है कि वे अन्त को विकृत कर देते हैं। जब शब्द समाप्त हो जाते हैं, तभी अन्त आता है। शब्दों द्वारा जिस अन्त की व्याख्या की जाती है, उस अन्त का मात्र हमें ज्ञान होता है। लेकिन शब्दों के बिना जो अन्त आता है, शब्दरहित जो निस्तब्धता होती है, उसका हमें कोई ज्ञान नहीं होता। वस्तुतः समझ में आना या ज्ञान होना स्मृति ही है और वह अखण्ड सातत्यशील है। अभिलाषा के सूत्र से प्रत्येक दिन आगे के दिन को बाँध लेता है। अभिलाषा का अन्त ही उस नूतन का उदय है। मृत्यु अर्थात् नूतनता और सातत्यशील जीवन अर्थात् केवल स्मृति, केवल अर्थशून्य रिक्तता। नूतन में जीवन और मरण एकात्मक होते हैं।

एक लड़का लम्बे-लम्बे डग भरते हुए और गीत गाते हुए जा रहा था। वह हर जाने-आनेवाले की तरफ देखकर मुस्करा देता था। इस पर से लगता था कि उसके काफी मित्र हैं। उसके तन पर पर्याप्त वस्त्र नहीं थे। उसने अपना सिर एक गन्दे कपड़े से लपेट रखा था। लेकिन उसकी मुद्रा में तेज था और आँखों में चमक। तेजी से चलते हुए वह एक टोपीवाले मोटे आदमी के आगे निकल गया। वह मोटा आदमी गर्दन झुकाये डगमगाते हुए चल रहा था। उसका मन चिन्ताओं तथा विवेचनाओं से भरा हुआ था। मस्ती से गानेवाले उस मौजी लड़के की ओर उसका बिलकुल ध्यान नहीं गया। शायद उसने उसका गाना भी नहीं सुना। वह लड़का तेजी से एक बड़े फाटक में घुस गया और उस रमणीय बाग को लांघकर तथा नदी का पुल पार करके एक मोड़ लेकर समुद्र तक पहुँच गया। वहाँ उसे उसके कुछ साथी मिल गये और अन्धेरा होते देख वे सब मिलकर गाने लगे। पास से गुजरनेवाली एक मोटर की रोशनी में जब उनके चेहरे चमक उठे, तब उनकी आँखों में अज्ञात सुखाशाओं का भाव तैरता हुआ दिखाई दिया। अब वर्षा की धार तेज होने लगी थी और सारी चीजों में से पानी टपकने लगा था।

वह व्यक्ति केवल चिकित्सा-शास्त्री ही नहीं था, बल्कि मनोविज्ञान-शास्त्री भी था। वह वृत्ति से शान्त था, शरीर से कृश था और आत्म सन्तुष्ट भी प्रतीत होता था। दूर देश से, सागर पार करके इस देश में आये उसे पर्याप्त समय हो गया था। इस कारण उसे यहाँ की तेज गर्मी और भारी वर्षा की आदत हो गयी थी। उसने बताया कि युद्ध-काल में उसने चिकित्सक तथा मानसशास्त्रज्ञ के नाते काम किया और यथाशक्ति लोगों की सहायता की। लेकिन फिर भी जो कुछ सहायता उसने की, उससे उसका समाधान नहीं हुआ। उसके कहने का सार यह था कि दूसरों की अधिक सहायता करने की, गहराई से मदद करने की उसकी इच्छा थी। अब तक जो कुछ सहायता की गयी, वह बहुत ही अल्प थी औइ उसमें कोई-न-कोई कमी रह गयी थी।

हम लोग बहुत देर तक नि:शब्द बैठे रहे। ऐसा लगा कि वह अपनी व्यथा के पीछे के सारे दबावों, सारी ग्रंथियों को मन में एकत्र कर रहा था। नि:शब्दता अथवा मौन बड़ी विचित्र वस्तु है। नि:शब्दता विचारपूर्वक निर्मित नहीं होती, वह विशेष रूप से तैयार की जानेवाली वस्तु ही नहीं है। इच्छा-शक्ति के प्रभाव से भी उसका निर्माण नहीं होता। नि:शब्दता की स्मृति का अर्थ नि:शब्दता नहीं है। उस कमरे में उस समय पूरी नि:शब्दता व्याप्त थी। उसका शान्त स्पन्दन चल रहा था। वार्ता या संवाद द्वारा भी यह नि:शब्दता भंग नहीं हुई। उस निस्तब्धता के कारण उस संवाद को सार्थकता प्राप्त हुई। निस्तब्धता उस संवाद की और उसमें निहित शब्दों की पार्श्वभूमि थी। इस नि:शब्दता ने विचार को व्यक्तता प्रदान की। लेकिन इस अभि-व्यक्त विचार को नि:शब्दता नहीं कहा जा सकता। वहाँ विचार-प्रक्रिया शेष नहीं थी। केवल नि:शब्दता ही व्याप्त थी। यही नि:शब्दता गहरे-गहरे जाकर सब कुछ जमा कर रही थी और अभिव्यक्ति को आकार दे रही थी। विचार कभी भी गहरे में प्रवेश नहीं कर सकता। यथार्थ सुसंवाद नि:शब्दता में ही विचरता है।

डॉक्टर ने अपनी व्यथा व्यक्त करते हुए आगे कहा : "मुझे सारी बातों के प्रति असंतोष प्रतीत होने लगा है। अपने काम, अपनी कार्यक्षमता और सावधानी के साथ बढ़ायी हुई अपनी सारी कल्पनाओं के प्रति मुझे असंतोष लगता है। मैंने विभिन्न तात्त्विक विचारधाराओं का भी अध्ययन किया है, किन्तु मुझे कोई समाधान नहीं हुआ। अनेक महीनों से मैं इस देश में हूँ। यहाँ आने के बाद मैं अनेक गुरुओं से मिला हूँ, लेकिन मिलने के बाद हर बार मेरा असमाधान बढ़ता ही गया है। विभिन्न विचार-प्रणालियों का मैंने आश्रय लिया, संशयवाद का भी लिया। लेकिन मेरा असमाधान ज्यों-का-त्यों कायम है।"

आपकी मन:स्थिति का स्वरूप यही न है कि आप आत्मसंतोष चाहते हैं और वह अब तक आपको नहीं मिला? क्या आत्मसंतोष की तीव्र अभिलाषा ही आपके मन में यह असमाधान उत्पन्न कर रही है? शोध करना वास्तव में ज्ञात का ही शोध है। आप ही कहते हैं कि आप असंतुष्ट हैं और फिर भी शोध कर ही रहे हैं। आज तक आप इस बात का शोध करते आये हैं कि कहीं-न-कहीं आपको संतोष प्राप्त हो सकता है और वह अब तक आपको कहीं मिला नहीं। अभी भी आप संतोष के ही शोध में हैं। इसका अर्थ यह है कि यथार्थ असंतोष क्या वस्तु है, इसका आपने अब तक अनुभव नहीं किया है। वास्तव में यदि आपको सारी बातों के प्रति असंतोष होने लगा होता, तो आप इस असंतुष्टता से बाहर निकलने का प्रयत्न ही न करते। वस्तुस्थिति यह है कि असंतुष्ट व्यक्ति यदि संतोष प्राप्त करना चाहेगा, तो उसे किसी भी नाते-रिश्ते से यह संतोष शीघ्र ही प्राप्त हो जायगा, फिर वह नाता किसी व्यक्ति से हो या वह सम्बन्ध धन-सम्पत्ति अथवा विचार-प्रणाली से हो।

"लेकिन मैं तो ये सारी बातें कर चुका हूँ, फिर भी मैं अभी पूरी तरह असंतुष्ट ही हूँ।"

बाह्य सम्बन्धों के विषय में आप कदाचित् असंतुष्ट हुए होंगे। लेकिन पूरा संतोष देनेवाला कोई मानसिक सम्बन्ध जुड़ जाय, ऐसी अभिलाषा तो आपके भीतर अभी भी विचर रही होगी।

"ऐसी बातें भी मैं कर चुका हूँ। फिर भी मेरा असन्तोष कायम है।"

आप सचमुच में असन्तुष्ट हैं या नहीं, कौन जाने। यदि आप सचमुच सम्पूर्ण रूप से असन्तुष्ट स्थिति में होते तो किसी भी दिशा में कदम उठाने का आप प्रयत्न ही न करते। कहिये, ऐसा करते? देखिये, यदि कमरे में रहने से आप सचमुच ऊब गये होते, उसके प्रति आपको पूरा असन्तोष होता, तो सुन्दर फर्नीचर से सजा हुआ दूसरा कमरा शोधने का प्रयत्न आप नहीं करते। लेकिन आपकी अभिलाषा तो प्रशस्त कमरा खोजने की ही दीखती है और इस अभिलाषा को ही आप असन्तोष कहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि आपको सभी प्रकार के कमरों के विषय में कोई असन्तोष नहीं है, बल्कि एक विशिष्ट कमरे के लिए ही असन्तोष है। आप इसी कमरे से बाहर निकलना चाहते हैं। किसी भी एक चीज में पूरा सन्तोष प्राप्त न होने के कारण आपका यह वर्तमान असन्तोष पैदा हुआ है। वस्तुस्थिति यह है कि आप आत्मसंतोष के ही पीछे लगे हुए हैं। इसीलिए आप सन्तोष प्राप्त करने के विभिन्न प्रकारों के प्रति निर्णय देते-देते, तुलना करते-करते, एक-एक प्रकार को तौल-मापकर देखते-देखते और एक-एक प्रकार का त्याग करते-करते बराबर भटक रहे हैं।

"ऐसा ही तो दीखता है। है न?"

अर्थात् आप सचमुच में असन्तुष्ट हुए ही नहीं। आज तक आपको किसी भी चीज में सम्पूर्ण और स्थायी सन्तोष मिला ही नहीं, बस इतनी ही बात है। आप सम्पूर्ण सन्तोष चाहते हैं, गहरा और टिकाऊ समाधान चाहते हैं।

लेकिन मैं तो लोगों की मदद करने का इच्छुक हूँ। इस कार्य को पूरी तरह अपनाने में मेरा यह असमाधान बराबर आड़े आता है।"

आपका कहना है कि लोगों की सहायता करना और उससे सन्तोष प्राप्त करना आपका उद्देश्य है। लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि आप सचमुच लोगों की मदद नहीं करना चाहते, बल्कि सहायता करने से स्वयं को सन्तोष प्राप्त हो, यही आप चाहते हैं। आप सहायता करने की इच्छा में से सन्तोष प्राप्त करना चाहते हैं। अन्य कोई मनुष्य किसी विचार-प्रणाली के द्वारा उसे प्राप्त करना चाहता है, तो कोई तीसरा किसी व्यसन के द्वारा। वास्तव में आप किसी सन्तोषजनक मादक पदार्थ की खोज में हैं और दूसरों की सहायता का सुन्दर नाम उसे दे रहे हैं। आपको लगता है कि दूसरों की सहायता की जा सके, इसलिए आप अपनी तैयारी कर रहे हैं, लेकिन

आपकी यह तैयारी अपने-आपको पूरा सन्तोष देने के लिए ही है। आप चाहते हैं—स्थायी आत्मसन्तोष।

प्राय: लोगों को असन्तुष्टता में प्रवास करते-करते कोई सहज सन्तोष मिल जाता है। यह सन्तोष पहले ही असन्तोष-वृत्ति को निद्राधीन कर डालता है। ऐसे मादक द्रव्य से असन्तुष्टता बधिर कर दी जाती है। उसे शान्ति और प्रतिष्ठा का रूप दिला दिया जाता है। बाह्यत: आपकी सारी विचार-प्रणालियों का प्रयास पूरा हो गया होगा, लेकिन आपका गहरा अन्तर्मन तो मजबूती से पकड़कर रखने जैसा कोई स्थान अब भी खोज ही रहा है। किसी व्यक्ति से सम्बन्ध जुड़ने पर हार्दिक नाते के कारण सही समाधान प्राप्त होगा, इस भ्रम से हम मुक्त हो गये हैं, ऐसा जब आप कहते हैं, तब व्यक्तिगत नाते में आपको स्थायी सन्तोष नहीं मिला, ऐसा दीखता है। इसलिए अब आप किसी कल्पना के साथ आत्मीय नाता जोड़ना चाहते हैं। लेकिन कल्पना सदैव स्व-विक्षेपित ही होती है। अब आप पूर्ण सन्तोष देनेवाले किसी सम्बन्ध की खोज कर रहे हैं। सारे तूफानों के बीच भी टिके रह सकनेवाले किसी सुरक्षित स्थान के पीछे आप लगे हैं। लेकिन इस चस्के में, जिसके कारण समाधान प्राप्त होता है, वह चीज ही आप खो बैठते हैं। 'सन्तोष' बहुत अच्छा शब्द नहीं है, लेकिन यथार्थ सन्तोष में, सच्चे समाधान में कूपमण्डूकता, मेल साधने की वृत्ति अथवा संवेदनशून्यता आदि का स्पर्श भी नहीं है। जो जैसा है, उसका वैसा ही दर्शन करना सच्चा सन्तोष है। जो जैसा है, वह कभी भी गतिहीन नहीं होता। जो है, उसका अर्थ लगानेवाला, उसका निरूपण करनेवाला मन सन्तोष के पूर्वग्रह में ही अटक जाता है। लेकिन निरूपण करना या भाष्य करना स्वरूप-दर्शन नहीं है।

वास्तविकता का यथार्थ दर्शन ही उसका आकलन है। इसीमें से अक्षय प्रेम का, मार्दव का और नम्रता का उदय होता है। शायद आप इसीकी शोध में हों। लेकिन वह शोध के द्वारा प्राप्त होनेवाली वस्तु नहीं है। आप कितना ही प्रयत्न करें, वह प्रयत्नों से मिलनेवाली वस्तु नहीं है। जब सारा प्रयत्न समाप्त हो जाता है, तब वह वहीं पर दिखाई देने लगती है। आपको वस्तुत: जो कुछ पूर्वज्ञात होता है, उसीका शोध आप कर सकते हैं। लेकिन इस शोध का तात्पर्य है अधिकाधिक संतोष के पीछे लगना। शोध करना और केवल जागरूक रहकर निरीक्षण करना, ये दोनों सर्वथा भिन्न क्रियाएँ हैं। एक मनुष्य को बद्ध कर डालती है, तो दूसरी उसे सत्य-दर्शन कराती है। कोई भी शोध सामने कोई साध्य रखकर किया जाता है, अत: वह सदैव बन्धन में डालनेवाला होता है। उल्टे निष्क्रिय निरीक्षण से जो है ही, उसका प्रतिक्षण नया-नया आकलन होता रहता है। जो है ही, उसका प्रतिक्षण निरीक्षण करते हुए, प्रतिक्षण होने का और अन्त होने का साक्षात्कार होता है। इसके विपरीत शोध करने में

वह नूतन कभी भी उपलब्ध नहीं होता। सातत्य भंग होने पर और समाप्त होने पर ही नूतन का उदय होता है। यह नूतन ही वह अक्षय, अनन्त है। इस अनन्त के दर्शन से प्रेम प्रतिक्षण नव-नूतनता प्राप्त करता है।

८१. पाण्डित्य ज्ञान-सम्पादन नहीं है

ऊँचे पर्वत पर स्थित उस कुटी तक पहुँचने के लिए बालू के एक बड़े मैदान को मोटर से तय करना होता था। रास्ते में अनेक नगर पड़ते थे, हरे-भरे फलों के बगीचे और ऊँचे-ऊँचे लहलहाते खेत भी। बड़े परिश्रम से पानी से सींच-सींचकर उस मरुभूमि के कुछ भाग को इन समृद्ध खेतों तथा फलों के बाग में रूपान्तरित किया गया था। रास्ते में पड़नेवाला एक नगर तो विशेष रूप से हरा-भरा तथा रमणीय प्रतीत हो रहा था। चारों ओर फैली हुई विस्तीर्ण हरियाली से और ऊँचे-ऊँचे विशाल छायादार वृक्षों के कारण उसे एक अनोखा वैभव प्राप्त हो गया था। दूर पर्वत से बहकर आनेवाली एक नदी उस रेतीले क्षेत्र में से होकर उस नगर के निकट से जाती थी। इसीलिए उस नगर को यह हरित-वैभव प्राप्त हुआ था। नगर को लाँघकर उस छलछलाती हुई नदी के किनारे-किनारे जानेवाली वह सड़क ठेठ हिमाच्छादित पर्वत-शिखर तक पहुँचती थी। लेकिन उस नगर के बाद जमीन पथरीली, उजाड़ और गर्मी से काली ठीकरी बन गयी थी। नदी के दोनों तटों पर बड़े-बड़े वृक्ष थे। भीतर-बाहर मोड़ लेते हुए और बराबर ऊपर जाता हुआ वह रास्ता पुरातन पाइन वृक्षों के जंगल में से जाता था। उन सूर्यतप्त वृक्षों की निराली ही सुगंध वातावरण में व्याप्त थी। हवा में ताजगी और नमी थी। जल्दी ही हम उस कुटी तक पहुँच गये।

दो-एक दिनों में हमसे थोड़ी जान-पहचान होने से एक लाल-काली गिलहरी खिड़की की चौखट के पास बैठकर ऐसी आवाज निकालती थी, मानो हम पर क्षुब्ध हो। वह सूखे फल चाहती थी। वहाँ आनेवाला प्रत्येक यात्री उसे शायद कुछ-न-कुछ खाने को देता रहता था। यह अब उसकी आदत हो गयी थी। पर अब आगन्तुकों की संख्या कम हो गयी थी और उसे तो आगामी जाड़े के लिए सूखे फलों का काफी संग्रह करना था। वह गिलहरी बड़ी चपल और खुशमिजाज थी। प्राप्त होनेवाले सारे सूखे फल जमा करने में वह सदैव तत्पर रहती थी। क्योंकि, आगे आनेवाले बर्फीले कड़े जाड़े के महीनों के लिए वह निश्चिन्त होना चाहती थी। उसका घर अनेक वर्षों से सूखे हुए एक जीर्ण वृक्ष के गह्वर में था। सूखे फल मिलते ही एकदम मुँह में दबाकर दौड़कर वह पेड़ के उस भारी तने पर चढ़ जाती

थी, गुर्राती-धमकाती हुई अपने गह्वर में विलीन हो जाती और फिर इतने झपाटे से नीचे उतरती कि उसके गिरने का भय लगता था। लेकिन वह एक बार भी नीचे नहीं गिरी। एक-एक करके एक पूरी थैली भरकर फल देने में हमने वह प्रातःकाल बिता दिया। हमारी दोस्ती होने के बाद वह ठेठ कमरे के बीच तक आ जाती थी। तब उसके शरीर पर के मुलायम बाल कितने साफ चमकदार लगते थे। उसकी आँखें तो बड़ी मणियों की भाँति चमकती थी। उसके पंजे खूब तीक्ष्ण थे और पूंछ झब्बेदार। वह गिलहरी अपनी जवाबदारी समझनेवाला एक आनन्दी प्राणी था। आसपास का प्रदेश मानो उसकी अकेली की मालिकी का था, क्योंकि अन्य किसी भी गिलहरी को वह आसपास फटकने नहीं देती थी।

वह व्यक्ति प्रसन्नमुख था। लगता था कि पाण्डित्य के कणों को एकत्र करने के लिए वह पर्याप्त उत्सुक था, ठीक वैसे जैसे वह गिलहरी सूखे फल जमा करके रखती थी। उसकी आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं कही जा सकती। फिर भी लगता था कि उसने लम्बा प्रयास किया है। अनेक देशों के अनेक लोगों से उसकी भेंट-मुलाकात थी, ऐसा उसकी बातों से लगता था। उसका अध्ययन भी विशाल था, बात-बात में वह किसी-न-किसी दार्शनिक या सन्त के वचन उद्धृत करता था। उसने बताया कि यूनानी भाषा वह पढ़ सकता है और संस्कृत का उसे पल्लवग्राही ज्ञान है। अब उसकी आयु ढल रही थी और पाण्डित्य के कणों को संचित करने के लिए विशेष आतुर था।

मनुष्य के लिए पाण्डित्य का संचय करके रखना कभी भी सम्भव है ?

"क्यों नहीं ? मनुष्य अनुभवों से ही तो पण्डित बनता है। पाण्डित्य के लिए ज्ञान आवश्यक है।"

ज्ञान का संग्रह करते रहनेवाला मनुष्य सचमुच पण्डित हो सकता है ?

"लेकिन जीवन तो सम्पादन की, क्रम-क्रम से चारित्र्य के निर्माण की ओर धीरे-धीरे विकसित होने की ही प्रक्रिया है। अनुभव अन्ततः ज्ञान-संग्रह ही तो है। किसी भी प्रकार के आकलन के लिए ज्ञान आवश्यक है।"

लेकिन अनुभव से अथवा ज्ञान से किसी भी वस्तु का यथार्थ आकलन होता है क्या ? ज्ञान वस्तुतः भूतकाल के अनुभवों का अवशेष है, संग्रह है। ज्ञान अथवा जानकारी सर्वत्र भूतकालात्मक होती है। लेकिन आज की किसी भी बात का आकलन भूतकाल की सहायता से कभी भी होना सम्भव है क्या ? जब विचार निःशब्द होता है, तब उस विचारशून्य मध्यान्तर में ही किसी भी बात का सही आकलन होता है। इस निःशब्द अवधि को बढ़ाने का अथवा उसका संग्रह करने का विशेष रूप से प्रयत्न करने से सही आकलन हो सकेगा क्या ?

"लेकिन अगर हम ऐसा न करें तो हमारा अस्तित्व ही नहीं रहेगा। फिर हमारे विचार में और कृति में किसी भी प्रकार का सातत्य नहीं रहेगा। ज्ञान का ऐसा संग्रह

ही तो चारित्र्य है। यही तो सद्गुणशीलता है। ऐसा संग्रह किये बिना हम जीवित ही नहीं रह सकेंगे। मुझे यदि मोटर के यन्त्र की जानकारी नहीं होगी, तो मैं मोटर के विषय में कुछ भी नहीं समझ सकूँगा। संगीत की विशिष्ट स्वर-रचना का ज्ञान न हो तो गहराई से संगीत का वास्तविक रस-ग्रहण करना मेरे लिए सम्भव नहीं होगा। संगीत का निरा आस्वाद लेना तो केवल उथली वृत्ति के लोगों का काम है। संगीत का ज्ञानपूर्ण रसग्रहण करने के लिए स्वर-रचना समुचित हुई है या नहीं, स्वर-संगम कैसा सधा है, इस बात का ज्ञान विशेष आवश्यक है। ज्ञानवान् होना ही ज्ञान का संग्रह करना है। किसी भी विषय का वास्तविक ज्ञान प्राप्त किये बिना उसका रस-ग्रहण सम्भव ही नहीं है। किसी भी विषय के आकलन के लिए उस-उस विषय से सम्बद्ध जानकारी का संग्रह करना आवश्यक है। ऐसा आकलन ही तो पाण्डित्य है।"

किसी भी नये शोध के लिए मुक्तता अथवा स्वतन्त्रता आवश्यक है। है न? यापके हाथ-पाँव बँधे हों और आपके सिर पर मन-मनभर का बोझ हो तो क्या आपो ज्यादा दूर तक जा सकेंगे? किसी प्रकार के संग्रह से मनुष्य का मन यदि बोझिल ह तो क्या उस मन में स्वतन्त्रता का विचरण सम्भव है? जो मनुष्य संग्रह करता रहता है—फिर वह संग्रह धन का हो या ज्ञान का—कभी भी स्वतन्त्र अथवा विमुक्त नहीं रह सकता। अन्य विषयों का आपका लोभ कदाचित् नष्ट हो गया होगा, लेकिन ज्ञान का लोभ भी बन्धन ही है। वह भी आपको जकड़े रहता है। किसी भी प्रकार के संचय में अटके हुए मन को स्वच्छन्द रूप से दूर-दूर भटकना और नये-नये शोध करना कैसे सम्भव है? सद्गुण का अर्थ संचय कैसे हो सकता है? सद्गुणों का संचय करते रहनेवाला मन क्या कभी भी सचमुच सद्गुणी हो सकता है। वस्तुतः कुछ भी विशेष होने की अभिलाषा से मुक्तता सद्गुण नहीं है। चारित्र्यसम्पन्नता भी बन्धनकारक हो सकती है। सच्चा सद्गुण कभी बन्धनकारक नहीं होता, लेकिन संग्रह का कोई भी प्रकार सदैव बन्धनकारक होता है।

"परन्तु अनुभव के बिना पाण्डित्य कैसे आयेगा?"

देखिये, पाण्डित्य एक वस्तु है, ज्ञान उससे सर्वथा भिन्न वस्तु है। ज्ञान है—अनुभवों का संचय। ज्ञान अर्थात् स्मृतिरूप अनुभव का सातत्य। स्मृति को विकसित किया जा सकता है, बढ़ाया जा सकता है, विशिष्ट आकार दिया जा सकता है और उसमें दृढ़ता भी लायी जा सकती है। वह विशिष्ट प्रकार से संस्कारित भी की जा सकती है। लेकिन पाण्डित्य स्मृति का विस्तार कैसे है? पाण्डित्य कभी सातत्यात्मक होता है? वस्तुतः हमारे पास युग-युग का संचित ज्ञान है। फिर भी हम पण्डित, सुखी और सृजनशील क्यों नहीं बने? इस प्रकार के संचित ज्ञान द्वारा परमानन्द कभी प्राप्त हो सकेगा? ज्ञान अनुभवों का समुच्चय होता है, वह अनुभवन नहीं है। ज्ञान अनुभवन

में सदैव बाधक बनता है। ज्ञान-संग्रह की प्रक्रिया सातत्यशील होती है। प्रत्येक अनुभव इस प्रक्रिया को बल ही प्रदान करता है। प्रत्येक अनुभव स्मृति में अधिक दृढ़ता लाता है और उसमें प्राण उँडेलता है। स्मृति की यह प्रक्रिया अखण्ड चालू न रहे, तो स्मृति जल्दी ही समाप्त हो जायगी। विचार है स्मृति, शब्द और अनुभव का संग्रह। हमारी चेतना की भाँति स्मृति भी भूतकालात्मक होती है। भूतकाल का यह सारा भार ही मन या विचार है और विचार है संचित, संग्रहीत अनुभव। ऐसे इस अनुभवद्ध, भारभूत विचार से नये का शोध कैसे होगा? नवीन के उदय के लिए विचार को समाप्त होना ही चाहिए।

"आपकी बात एक सीमा तक मेरी समझ में आती है। लेकिन विचार के बिना पाण्डित्य कैसे आयेगा, यह मेरी समझ में नहीं आता।"

देखिये, आकलन की प्रक्रिया भूतकालात्मक है या वह केवल वर्तमान में ही घटती है। वर्तमान में, चालू क्षण में कृति का होना ही यथार्थ आकलन है। आकलन क्षणार्ध में ही हो सकता है। वह कोई कालावधि में घटनेवाली वस्तु नहीं है। क्या यह बात आपके ध्यान में नहीं आयी? क्या आकलन कभी धीरे-धीरे और क्रमशः होता है? आकलन तो तत्काल ही होता है, चालू क्षण में ही होता है। ठीक है न? विचार तो भूतकाल पर ही आधृत होता है, वह भूत की ही निष्पत्ति होता है, वह भूत की ही प्रतिक्रिया होती है। जो संचित या संग्रहीत है, वह सब भूतात्मक है। विचार संग्रहीत की ओर से वर्तमान जीवन को दिया जानेवाला उत्तर है। फिर इस विचार को किसी भी बात का यथार्थ आकलन होना कभी भी सम्भव है क्या? क्या आकलन होना सबोध मन की प्रक्रिया है? क्या आप जानबूझकर आकलन करने के लिए निकलते हैं? पहले से तय करके किसी सायंकालीन सौन्दर्य का आस्वाद प्राप्त होना कभी सम्भव है?

"किन्तु क्या सबोध प्रयत्न करना ही आकलन नहीं है?"

'बोध' शब्द का हम क्या अर्थ करते हैं। अपने बोध या अपनी चेतना का आपको कब भान रहता है? सुखद या दुःखद स्वरूप के किसी भी आह्वान को दिया जानेवाला उत्तर ही क्या चेतना नहीं है? किसी चुनौती का उत्तर ही अनुभव है। घटना का नामकरण और पूर्वानुभवों से उसका सम्पर्क प्रस्थापित करना अनुभव है। ऐसा नामकरण न हो तो अनुभव भी नहीं होगा। आह्वान-उत्तर की, नामकरण की और अनुभव की सम्पूर्ण प्रक्रिया ही हमारा बोध या हमारी चेतना है। है या नहीं? चेतना की प्रक्रिया सदैव भूतकालीन होती है। जानकर किया जानेवाला प्रयत्न अथवा आकलन करने की अथवा कुछ विशेष प्राप्त करने की इच्छा, इसी तरह कुछ विशेष होने की इच्छा—यह सब भूत का ही सातत्य है, यह भूत की ही परम्परा है। इस सातत्य

में कभी थोड़ा संशोधन-परिवर्तन हो सकता है, पर यह परिवर्तन भी भूतकालीन ही होता है। जब हम विशेष कुछ होने का प्रयत्न करते हैं, तब वह 'विशेष कुछ' हमारे मन का ही विक्षेप होता है। जब हम आकलन करने का जान-बूझकर प्रयत्न करते हैं, तब हमें केवल अपने स्मृति-संचय का ही कोलाहल सुनाई देता है। यह कोलाहल ही सच्चे आकलन के, सच्चे पाण्डित्य के आड़े आता है।

"तब पाण्डित्य क्या है ?"

जब ज्ञान का अन्त होता है तभी पाण्डित्य अस्तित्व में आता है। ज्ञान सातत्यात्मक होता है। सातत्य के बिना ज्ञान का अस्तित्व नहीं। जो सातत्यात्मक होता है, वह कभी भी विमुक्त, स्वतन्त्र नहीं हो सकता। वह कभी नूतन नहीं हो सकता। जिसका अन्त है, उसीको विमुक्तता प्राप्त होती है। ज्ञान सदैव पुराना ही होता है, वह कभी भी नया नहीं हो सकता। पुराना सदैव नये को आत्मसात् करके अपना ही बल बढ़ाता है। नूतन के उदय के लिए पुरातन का अन्त आवश्यक है।

"आपके कहने का तात्पर्य यही दीखता है कि पाण्डित्य के उदय के लिए विचार का अन्त आवश्यक है। किन्तु विचार का अन्त कैसे होगा ?"

किसी भी साधना, अभ्यास, निरोध अथवा निग्रह के द्वारा विचार का अन्त नहीं हो सकता। स्वयं विचारक ही विचार होता है। विचारक की अपने पर कोई मात्रा लागू नहीं पड़ती। जब वह ऐसा करना चाहता है, तब यह उसकी केवल आत्मवंचना ही होती है। विचारक विचारों से सर्वथा भिन्न नहीं होता। मैं विचारों से सर्वथा भिन्न हूँ, ऐसी कल्पना वह मजे में कर सकता है, ऐसा भाव भी वह प्रकट कर सकता है कि विचार से उसका तनिक भी सादृश्य नहीं है। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि अपने को शाश्वतता प्राप्त कराने के लिए विचार द्वारा ही चलायी हुई यह धोखाधड़ी है। जब विचार अपने-आपका अन्त करने का प्रयत्न करता है, तब वह अपने को अधिक बल प्रदान करता है। विचार कितना ही भगीरथ प्रयत्न करे, वह अपना अन्त नहीं कर सकता। लेकिन जब इस सत्य का दर्शन होता है, तभी विचार का सहजरूप से अन्त होता है। जो जैसा है, वैसा ही उसका आकलन करने में विमुक्तता है। इस सत्य का दर्शन ही पाण्डित्य है। जो है, वह कभी स्थिर नहीं होता और निष्क्रिय और सतर्क निरीक्षण के लिए सब प्रकार के संग्रहों से मन का मुक्त रहना आवश्यक है।

८२. विचलितता

नदी की वह लम्बी-चौड़ी नहर चारों ओर के निर्जल क्षेत्र में पानी पहुँचा रही थी। नदी के पाट की अपेक्षा नहर ऊँचाई पर थी और एक विशेष यंत्र की सहायता से बाँध द्वारा रोका गया नदी का पानी नहर में छोड़ा जा रहा था। नहर का किनारा शान्तिपूर्ण था। खचाखच माल से लदी बहुत सी मालवाहक नौकाएँ नीचे-ऊपर जा-आ रही थीं। उनके धवल-शुभ्र तिकोने पाल नीले-नीले आकाश और काले-काले-से ताड़ वृक्षों की पार्श्वभूमि पर स्पष्ट दीख रहे थे। नहर के बहाव में शान्ति थी। संध्या बड़ी सुहावनी थी और उसमें शान्ति तथा निर्विघ्नता मिल गयी थी। नहर का प्रवाह शान्त था। आसपास के ताड़ तथा आम के वृक्षों का प्रतिबिम्ब उस शान्त प्रवाह में इतना स्पष्ट और स्वच्छ पड़ रहा था कि बिम्ब और प्रतिबिम्ब को पहचानना कठिन था। अस्तमान सूर्य के प्रकाश की अपूर्वता से जल-प्रवाह पारदर्शक बन गया था। सांध्य-राग की सतेज कांति पाट में अपना मुँह निहार रही थी। जलाशय के विविध रमणीय प्रतिबिम्बों में तारों का प्रतिबिम्ब भी बढ़ गया था। जलाशय निस्तब्ध और तरंग-रहित था। जोर-जोर से बोलने के अभ्यस्त ग्रामीण जन भी शान्तिपूर्वक चले जा रहे थे। लम्बी गपशप और पत्तों की फुसफुसाहट भी अब शान्त हो गयी थी। निकट के कछार से एक पशु आया और शान्ति से पानी पीकर उतनी ही शान्ति से अपनी राह लौट गया। सम्पूर्ण धरा पर निःशब्दता का साम्राज्य फैल गया था। ऐसा लगता था कि यह निस्तब्धता अखिल वस्तुमात्र को अपने उदर में समा रही है।

कोलाहल का तो कभी न कभी अन्त आता ही है, लेकिन निःशब्दता तो अन्तर्वेधी होती है, उसका कोई अन्त नहीं है। कान बन्द करके हम कोलाहल को रोक सकते हैं, लेकिन निःशब्दता रोकी नहीं जा सकती, सीमित नहीं की जा सकती। कोई भी दीवार खड़ी करके उस पर रोक नहीं लगायी जा सकती। उसका किसी भी तरह प्रतिकार नहीं किया जा सकता। कोलाहल अन्य सारी बातों को बन्द कर देता है। सबको निकाल बाहर करता है, सबसे अपने को अलग कर लेता है। पर निःशब्दता सम्पूर्ण वस्तुओं को अपने में समा लेती है। प्रीति की भाँति निःशब्दता का भी विभाजन करना सम्भव नहीं। उसमें कोलाहल और शान्ति, ऐसे दो अलग-अलग विभाग नहीं होते। निःशब्दता का अनुगमन करना मन के लिए सम्भव नहीं।

निःशब्दता को ग्रहण करने के लिए मन को विशेष रूप से निस्तब्ध बनना सम्भव नहीं। मन जब विशेष रूप से निःस्तब्ध 'बनाया' जाता है, तब स्वनिर्मित प्रतिमा का ही प्रतिविम्ब उसमें पड़ता है। यह प्रतिबिम्ब स्पष्ट और प्रखर होता है। दूसरों से अपने को अलग कर लेने के कारण उसमें एक प्रकार का शोरशराबा या हल्लागुल्ला रहता है। जो मन विशेष रूप से निस्तब्ध बनाया जाता है, वह प्रतिकार के सिवा और कुछ नहीं कर सकता। किसी भी तरह के प्रतिकार का अर्थ है केवल अस्वस्थता, विचलितता, प्रक्षुब्धता। जो मन विशेष रूप से निस्तब्ध बनाया नहीं जाता, बल्कि जो सहजरूप से निस्तब्ध है, वह शान्ति का अखण्ड अनुभव करता है। फिर शब्द हों या विचार, सबके सब शान्ति में ही समा जाते हैं। वे उससे बाहर नहीं चले जाते हैं। ऐसी शान्ति में मन कितना विलक्षण प्रशान्त होता है! वह प्रशान्तता सहज होती है, विशेष रूप से लायी नहीं जाती। प्रशान्तता का जगत् के बाजार में मूल्य नहीं होता, वह क्रय-विक्रय की वस्तु नहीं होती, और उसका कोई उपयोग नहीं होता, पर उसमें विशुद्धता का, निर्मलता का और एकत्व का एक अनोखा ही गुण रहता है। जिस वस्तु का उपयोग किया जाता है, व्यवहार किया जाता है, वह जल्दी ही घिस जाती है। किन्तु प्रशान्तता का न आदि है, न अन्त। ऐसे प्रशान्त मन को जिस परमानन्द का बोध होता हैं, उसमें मन की अभिलाषा का प्रतिबिम्ब कभी नहीं पड़ता।

वह अपनी कथा सुनाने लगी : "मैं हर समय किसी न किसी कारण से उद्विग्न, उत्तेजित और क्षुब्ध रहती हूँ। कभी मेरा उद्वेग का कारण होता है पारिवारिक प्रपंच, कभी पड़ोसी का कोई प्रश्न, तो कभी किसी सामाजिक कार्य की कठिनाई। इस प्रक्षोभ ने मेरा सारा जीवन घेर लिया है। पर सतत घेरे रहनेवाले इस क्षोभ का वास्तविक कारण अब तक मेरी समझ में नहीं आया। जीवन में मुझे विशेष रूप से कभी सुख नहीं मिला, पर आज के जगत् में बहुत ज्यादा सुख मिलता भी किसे है? थोड़ा-बहुत अस्थायी सुख मेरे हिस्से में भी आया था, लेकिन वह तो बहुत पुरानी बात है। अब तो मैं जीवन को सार्थकता प्रदान करनेवाली किसी चीज की खोज में हूँ। आज तक मैंने विविध अनुभव लिये, अनेक बातों कीं, पहले वे बातें बहुत महत्त्वपूर्ण भी लगती थीं; लेकिन अब तो वे सभी अर्थशून्य प्रतीत होती हैं। अनेक गम्भीर सामाजिक कार्यों में मैंने पर्याप्त भाग लिया, अनेक धार्मिक विषयों में भी मेरी उत्कट श्रद्धा थी। अपने एक निकट सम्बन्धी की मृत्यु के कारण एक बार मैं बहुत दुःखी — शोकाकुल हो गयी थी। एक खतरनाक आपरेशन में से भी एक बार मैं पार हो गयी थी। कुल मिलाकर मुझे सुख-शान्तिमय जीवन नसीब नहीं हुआ। लेकिन मैं जानती हूँ कि इस जगत् में मेरे जैसे करोड़ों प्राणी हैं। आज तक मेरे हाथों से जो कुछ

भला-बुरा हुआ और जो कुछ मुझे सहन करना पड़ा, वह मूर्खतापूर्ण रहा हो चाहे आवश्यक, अब उस सबके परे जाकर मैं ऐसी कोई चीज खोजना चाहती हूँ, जो जीवन को सच्ची सार्थकता प्रदान करे और जिसका कोई वास्तविक मूल्य हो।''

लेकिन जिन बातों का कोई वास्तविक मूल्य होता है, वे न तो खोज करने से मिलती हैं, न खरीदी ही जा सकती हैं, वे तो सहजरूप से ही साकार होती हैं। लेकिन यह सहज निर्मिति किसी चातुरीपूर्ण योजना के द्वारा साकार नहीं की जा सकती। जिन-जिन बातों में गहन आशय होता है, वे बातें सहज ही हो जाती हैं, उन्हें गढ़ना नहीं पड़ता। ठीक है न ? महत्त्व की बात है—घटित होना, शोध निकालना नहीं। शोध करना तो अपेक्षाकृत सरल है, लेकिन जो सहज घटता है, वह शोध की कोटि में नहीं आता। वह सर्वथा भिन्न वस्तु है। सहज घटित होना कठिन है, ऐसी बात नहीं है। लेकिन सहज घटित होने के लिए शोध करने की और प्राप्त करने की व्यग्रता या उत्कण्ठा नष्ट हो जानी चाहिए। जो हस्तगत किया जा सकता है, वह गँवाया भी जा सकता है। खोने के पहले पाना चाहिए। कोई चीज कब्जे में होगी तब न खोयी जा सकेगी। किसी वस्तु पर मालिकी प्रस्थापित करने से अथवा स्वयं किसी वस्तु के कब्जे में चले जाने से सही आकलन के लिए आवश्यक विमुक्तता नहीं आती।

लेकिन आपके जीवन में यह उद्विग्नता, यह क्षुब्धता बराबर घर करके क्यों बैठी है ? इस पर गम्भीरतापूर्वक आपने कभी विचार किया है ?

''मैंने इस पर आधा-अधूरा विचार किया था, लेकिन सप्रयोजन कभी नहीं। मेरा मन सदैव विचलनशील रहा है।''

आप विचलित नहीं हैं, ऐसा कहा जा सकता है। सीधी बात तो यह है कि यह समस्या गम्भीर समस्या के रूप में कभी आपके सामने नहीं आयी। जब मनुष्य के सामने कोई जीवन्त समस्या ज्वलन्त रूप में खड़ी होती है, तब विचलितलक्ष्यता की स्थिति उत्पन्न नहीं होती। वस्तुतः उसका अस्तिव ही नहीं है। विचलितलक्ष्य होने का अर्थ यह है कि मनुष्य के जीवन का जो केन्द्र है, जो मुख्य लक्ष्य है, वहाँ से मन का इधर-उधर भटकना। जहाँ यह केन्द्रीय लक्ष्य सामने रहता है, वहाँ विचलितलक्ष्यता नहीं होती। एक बात से दूसरी बात की ओर मन का भटकते रहना विचलितलक्ष्यता नहीं है, बल्कि जो वास्तविक है, उससे दूर भागना है, उसे टालना है। हमारी समस्या हमारे अत्यन्त निकट होती है, इसीलिए हम उससे दूर भागना चाहते हैं। यह भटकना हमें कुछ मानसिक कार्य दे देता है। हम गपशप में अथवा चिन्ता-विवेचनाओं में उलझ जाते हैं। यों इस भटकाव में अनेक बार दुःख ही हमारे पल्ले पड़ता है, लेकिन अपने वास्तविक स्वरूप का दर्शन करने की अपेक्षा हम उस दुःख को ही वरीयता प्रदान करते हैं।

आपको वस्तुतः अपनी समस्या हल करनी है अथवा उसके साथ केवल खिलवाड़ करना है ?

"सचमुच मैं इस प्रश्न के मूल तक जाना चाहती हूँ। इसी के लिए तो यहाँ आयी हूँ।"

देखिये, आपके दुःख का कारण वास्तव में यह है कि जीवन को सदा भरा रखनेवाला कोई स्रोत आपको नहीं मिला। है न ऐसी बात ? अपनी जीवन-सरिता में झलमल-झलमल करते जल की मन्दध्वनि आपने कभी सुनी होगी, लेकिन अब जीवन का वह स्रोत सूख गया है। आपको एकाध बार सुख की अनुभूति हो चुकी है। लेकिन वह सदैव पीछे लौट जाती रही है और अब वह भूतकाल में विलीन हो गयी। क्या आप इस जीवन-स्रोत की खोज कर रही हैं ? लेकिन खोज से क्या वह मिलनेवाला है ? अथवा अनपेक्षित रूप से ही आपको उसका दर्शन होनेवाला है ? यदि आप यह जानतीं कि यह स्रोत कहाँ है तो उसे प्राप्त करने के लिए कोई न कोई साधन आपको मिल ही जाता। लेकिन स्रोत का पता न होने से वहाँ तक जाने का मार्ग आपको या किसीको भी मिलना सम्भव नहीं। जो अज्ञात है वह ज्ञात की कोटि में आयेगा, वह जाना जा सकेगा, ऐसा मानकर चलने का अर्थ है उस स्रोत के अनपेक्षित दर्शन पर प्रतिबन्ध लगाना। क्या आपकी समस्या का स्वरूप यही है ?

"हाँ, निश्चय ही मेरी समस्या यही है। मेरा जीवन अत्यन्त कुण्ठित, स्फूर्तिहीन और असर्जनशील बन गया है ! किसी तरह वह अनपेक्षित पूर्णता मेरे जीवन में आ जाय, तो मुझे फिर कुछ नहीं चाहिए।"

क्या अकेलेपन की समस्या भी आपके सामने खड़ी है ?

"मुझे एकाकीपन की कोई चिन्ता नहीं। मैं जानती हूँ कि अकेलेपन में कैसे रहा जाय। अकेलापन महसूस होता है तो मैं या तो घूमने निकल जाती अथवा एकाकीपन की भावना दूर होने तक चुपचाप बैठी रहती हूँ। बल्कि अकेले रहना मुझे अच्छा भी लगता है।"

एकाकीपन की व्यथा से हम सब परिचित हैं। वह ऐसी वेदनामय भयंकर रिक्तता होती है, जिसके शमन का कोई उपाय नहीं है। हम यह भी जानते हैं कि इस एकाकीपन से दूर कैसे भागा जाय। क्योंकि, पलायन के सभी मार्गों का हम पहले से ही शोध लगा चुके होते हैं। कुछ लोग किसी रास्ते में अटक जाते हैं, कुछ लोग अन्य मार्गों की खोज करते रहते हैं। लेकिन स्वयं का जो वास्तविक स्वरूप होता है, उससे किसीका साक्षात् सम्पर्क नहीं होता। आप कहती हैं कि यह आप जानती हैं कि एकाकीपन का सामना कैसे किया जाय; लेकिन आपसे कहा जा सकता है कि एकाकीपन का सामना करने की आपकी यह युक्ति एकाकीपन के वास्तविक स्वरूप को टालने की है। अकेलापन महसूस होते ही या तो आप घूमने

निकल जाती हैं अथवा अकेलापन दूर होने तक चुपचाप बैठी रहती हैं—इसका अर्थ यह हुआ कि एकाकीपन का सामना करने के लिए आप सतत कोई न कोई कृति करती रहती हैं। अकेलेपन को अपनी कहानी सुनाने का आप अवसर ही नहीं देतीं। आप या तो अकेलेपन से दूर भागना चाहती हैं या उसे मिटा देना चाहती हैं अथवा उस पर अधिकार जमा लेना चाहती हैं। कुल मिलाकर एकाकीपन से आपका सम्बन्ध भय का सम्बन्ध है।

क्या आपकी समस्याओं में यह भी एक समस्या है कि जीवन में कहीं न कहीं सफलता प्राप्त की जाय? किसी भी बात में सफलता प्राप्त करने का अर्थ अपने वास्तविक स्वरूप के दर्शन को टालना ही तो है। है न ऐसी बात? कोई व्यक्ति कितना ही नगण्य हो, वह यदि स्वदेश से, कुटुम्ब से अथवा किसी निष्ठा से एकरूप होता है तो क्या उसे इसमें सफलता और कृतार्थता, पूर्णता और समग्रता महसूस नहीं होती? सफलता द्वारा पूर्णता प्राप्त करने के लिए चलनेवाली यह खोज वस्तुतः अपने वास्तविक स्वरूप के दर्शन को टालने का ही तो उपाय है।

"आपकी बात बिलकुल ठीक है। यही मेरी समस्या है।"

हमारा जैसा वास्तविक स्वरूप है, उसका वैसा ही आकलन यदि हो जाता है, तब तो ये सारी समस्याएँ स्वतः समाप्त हो जायँगी। वस्तुतः किसी भी समस्या को हम इसी दृष्टि से देखते हैं कि वह कैसे टाली जा सकती है, उसका अन्त कैसे हो सकता है। समस्या के विषय में हमारा यह 'कुछ तो भी' करते रहना समस्या के साथ साक्षात् सम्पर्क जुड़ने में आड़े आता है। हमारे इस दृष्टिकोण के कारण समस्या का आकलन रुक जाता है। समस्या का सामना कैसे किया जाय, इसीके शोध में मन उलझा रहता है। मन का उलझना ही वस्तुतः समस्या को टालना है। इस ढंग से समस्या का आकलन कभी नहीं होता और वह वैसी ही जहाँ की तहाँ बनी रह जाती है। अतएव हमारी समस्या हमारे वास्तविक स्वरूप को अपनी कहानी पूरी तरह सुना सके, इसके लिए मन को संवेदनशील होना चाहिए। उसमें तरल ग्रहणक्षमता होनी चाहिए। लेकिन यदि हम नाना प्रकार के बहानों का आश्रय लेते रहेंगे, समस्या का सामना कैसे किया जाय इसकी जानकारी खोजते रहेंगे अथवा समस्या के कारण या उसके केवल शाब्दिक स्पष्टीकरण के शोध का प्रयत्न करते रहेंगे और इस तरह अपने मन को बधिर बना डालेंगे, तो मन जड़ और संवेदनशून्य बन जाता है। हमारी समस्या अथवा हमारा वास्तविक स्वरूप अपनी जो कहानी सुनायेगा, उसे तरलतापूर्वक ग्रहण करना उसके लिए असम्भव हो जायगा। आपको इस सत्य का दर्शन करना चाहिए। इससे मन सहजरूप से संवेदनक्षम बनेगा। तभी वह सब कुछ तरलतापूर्वक ग्रहण करने में समर्थ होगा। समस्या को हल करने के लिए मन के द्वारा की गयी कोई भी कृति मन को संवेदनशून्य ही

बनाती है। ऐसा मन समस्या की कहानी सुनने में असमर्थ बन जाता है। इसलिए मन जब प्रयत्न द्वारा नहीं, बल्कि सहजरूप से संवेदनक्षम बनता है, तभी आपके वास्तविक स्वरूप को, उस रिक्तता को एक नया आशय प्राप्त होता है।

देखिये, यह सब सुनते हुए अनुभत करती चलिये। मौखिक या शाब्दिक स्तर पर ठिठकिये मत।

देखने की बात यह है कि आपके वास्तविक स्वरूप और आपके मन का सम्बन्ध वास्तव में कैसा है। अब तक इस वास्तविक स्वरूप को कोई विशिष्ट नाम दिया गया था, इस नाम से संलग्न स्मृति में से उसके लिए एक प्रतीक की कल्पना की गयी थी। ऐसा नामकरण ही इन दोनों में साक्षात् सम्पर्क जुड़ने में बाधक है और इसी कारण मन जड़ और संवेदनशून्य बनता है। वस्तुस्थिति यह है कि आपका वास्तविक स्वरूप और आपका मन, ये दो भिन्न प्रक्रियाएँ नहीं हैं। केवल नामकरण के कारण ही वे भिन्न लगती हैं। यह नामकरण जब समाप्त होता है, तभी उन दोनों में साक्षात् सम्पर्क स्थापित होता है। आपका मन और आपका वास्तविक स्वरूप एकरूप हो जाता है। यह वास्तविक स्वरूप द्रष्टा और दृश्य की एकात्मता ही है। इस एकात्म स्थिति में नामकरण की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। इसी अवस्था में उस वास्तविक स्वरूप में मूलगामी परिवर्तन हो जाता है। यह वास्तविक स्वरूप रिक्तता नहीं है। जब रिक्तता नहीं रहती तो उससे संलग्न भय भी नहीं रहता। यहाँ वह अनुभविता भी नहीं होता और अनुभाव्य भी नहीं होता। इस स्थिति में अगाध, असीम गहराई रहती है। कारण, माप-तौल करनेवाला अहं ही मिट जाता है। यह अगाध स्थिति निःशब्द और प्रशान्त होती है। इस प्रशान्तता में ही वह अक्षय स्रोत रहता है। मन की उद्विग्नता शब्दों के व्यवहार से उत्पन्न होती है। जहाँ शब्दों की समाप्ति हो जाती है, वहीं वह असीम, अनन्त, अथाह रहता है। ●

८३. काल

उस व्यक्ति की उम्र उतार पर थी अवश्य, किन्तु शरीर-प्रकृति अच्छी थी। उसके केश लम्बे और भूरे थे और दाढ़ी थी श्वेत। विश्व के विभिन्न विश्वविद्यालयों में उसने तत्त्वज्ञान पर अनेक भाषण किये थे। वह विद्वान् था और वृत्ति से शान्त। उसने कहा कि "मैंने कभी ध्यान-धारणा नहीं की और सामान्य तौर पर धार्मिक वृत्ति का भी नहीं हूँ। मेरी दृष्टि में केवल ज्ञान-सम्पादन का महत्त्व है और तत्त्व-ज्ञान पर भले ही भाषण करता हूँ तथा धार्मिक और आध्यात्मिक

अनुभवों के विषय में बोलता रहता हूँ, तो भी मुझे इस प्रकार का कोई अनुभव नहीं है।" आज वह यहाँ काल के विषय पर प्रवचन करने आया था।

किसी भी प्रकार के समृद्ध व्यक्ति के लिए मुक्त मन से विचार करना कितना कठिन है! अपनी सम्पत्ति को एक बाजू फेंक देना धनवान् के लिए अत्यन्त कठिन है! धनवान् के समक्ष जब अन्य धन से भी बड़े प्रलोभन खड़े होंगे, तभी अपने धनवान् होने की सुखद चेतना को वह एक ओर फेंक सकता है। जब उसे इस बात का विश्वास हो जायगा कि उसकी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति किसी अन्य क्षेत्र में और भिन्न स्तर पर होगी, तभी वह अपनी धनाकांक्षा का त्याग करने को तैयार होगा। धनवान् की दृष्टि में धन ही शक्ति और सत्ता होती है। वह जानता है कि इस सत्ता का चाहे जैसा उपयोग किया जा सकता है। कभी-कभी वह अपने धन का भारी परिमाण में दान भी कर सकता है, लेकिन उसे अपने दाता होने का पूरा भान रहता है।

ज्ञान एक अन्य प्रकार की सम्पत्ति है। विद्वान् इस सम्पत्ति से ही पूर्णतः संतुष्ट रहता है। उसकी दृष्टि में ज्ञान-सम्पादन ही अन्तिम और निरपेक्ष साध्य है। विद्वान् व्यक्ति की ऐसी भावना होती है—कम-से-कम इस पण्डित की तो थी ही—कि यदि जगत् में न्यूनाधिक ज्ञान का प्रसार किया जा सका, तो मनुष्य के सामने खड़ी समस्याएँ किसी-न-किसी प्रकार से हल हो ही जायँगी। धनी व्यक्ति का अपने धन से मुक्त होना जितना कठिन है, उससे भी अधिक कठिन विद्वान् का अपने ज्ञान से मुक्त होना है। इस विश्व में यथार्थ पाण्डित्य अथवा वास्तविकता के यथार्थ आकलन का स्थान निरी विद्वत्ता कैसे सहजरूप में ले लेती है, यह एक आश्चर्य ही है। किसी बात की कुछ जानकारी प्राप्त होते ही हम मानने लगते हैं कि हमें उस विषय का सच्चा ज्ञान हो गया है। किसी समस्या के कारण को समझते ही वह समस्या अपने-आप दूर हो जायगी, ऐसा हम मान लेते हैं। अतः अपनी समस्याओं का हम शोध करने लगते हैं। लेकिन वस्तुतः ऐसे शोध का अर्थ है—अपनी समस्या का वास्तविक दर्शन बहुत दूर फेंक देना। हममें से अधिकांश लोगों को अपनी समस्याओं के कारण का पता रहता है। घृणा के पीछे जो कारण होते हैं, वे कोई गहरे दबे हुए नहीं होते। घृणा के कारण हमें तृप्ति का जो सुख मिलता है, उसका आस्वाद घृणा के पीछे छिपे कारणों का शोध करते हुए भी हमें मिलता ही रहता है। हमें एक ही चिन्ता रहती है कि ऐसे कारणों के जो नाना परिणाम आते हैं, उनमें समन्वय लाया जाय। उनके पीछे जो सम्पूर्ण प्रक्रिया होती है, उसके आकलन की हमें चिन्ता नहीं रहती। हममें से अधिकांश लोगों को अपनी समस्याओं के प्रति एक प्रकार की आसक्ति पैदा हो जाती है। हमें भय लगने लगता है कि हमारी समस्याएँ नहीं रहेंगी तो हम भी नहीं रहेंगे। अपनी समस्याओं के कारण हमारे मन को सतत कुछ-न-कुछ काम मिलता रहता है, जिससे हमारा जीवन भरा-

भरा-सा लगने लगता है। वस्तुतः हमारी समस्याएँ और उनसे सम्बद्ध कृति ही हम हैं।

काल एक अद्भुत वस्तु है। दिशा और काल वस्तुतः एक ही हैं। अभिन्न हैं। एक के बिना दूसरा रह ही नहीं सकता। काल हमें असाधारण रूप से महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है और प्रत्येक व्यक्ति काल को अपना विशिष्ट महत्त्व प्रदान करता है। असभ्य मनुष्य की दृष्टि में काल का बहुत महत्त्व नहीं है। लेकिन आज के सभ्य मनुष्य की दृष्टि में काल को अत्यधिक महत्त्व प्राप्त हो गया है। असभ्य मनुष्य कल की बात आज भूल जाता है। किन्तु आज का सभ्य और शिक्षित व्यक्ति यदि वैसा करने लगे तो या तो अपनी रोजी-रोटी गँवा बैठेगा, नहीं तो पागलखाने भेज दिया जायगा। वैज्ञानिकों की दृष्टि में काल का एक विशिष्ट अर्थ होता है, सामान्य मनुष्य की दृष्टि में उसका दूसरा ही अर्थ होता है। इतिहासज्ञ की दृष्टि में अतीत या भूत का अध्ययन करने में काल का महत्व है। शेयर-बाजार के मनुष्य की दृष्टि में फेंके हुए दाँव की सफलता का क्षण ही काल की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पुत्र की स्मृति में मन को उलझाते रखना ही माता की दृष्टि में काल का महत्त्व है। थके-हारे व्यक्ति की दृष्टि में छाया में मिलनेवाली विश्रांति के क्षण में ही काल को सार्थकता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुसार और आकांक्षा-पूर्ति के अनुसार काल का अर्थ करता है, अपनी सुविधा के अनुसार वह अपने चतुर मन से धाल को मोड़ या गति देता हैं। कुछ भी हो, काल के बिना हमारा चलता ही नहीं। हमारे जीवित रहने के लिए कल-आज-कल इस प्रकार के कालक्रमानुसार अथवा प्राकृतिक काल की—ऋतुओं की—हमें आवश्यकता है। लेकिन क्या कालक्रमानुसार अथवा प्राकृतिक काल की भाँति मानसिक काल भी कोई वस्तु है? अथवा वह मन के द्वारा अपनी सुविधा के लिए निर्मित एक भुलावा है? वास्तव में कालक्रमानुसार अथवा प्राकृतिक काल का ही अस्तित्व हैं। शेष सारी काल-कल्पना एक प्रकार की आत्मवंचना ही है। किसीकी भी स्वाभाविक बाढ़ के लिए विशिष्ट काल चाहिए। मरण के लिए भी विशिष्ट काल चाहिए। बोआई तथा कटनी के लिए निश्चित काल आवश्यक है। यह सब प्राकृतिक काल है। लेकिन आज हम ऐसे हैं, कल वैसे होंगे, इस प्रकार कुछ बनने की प्रक्रिया का मानसिक काल तो पूर्णतः मिथ्या ही होता है।

"आपकी दृष्टि में काल क्या है? आप कभी काल का विचार करते हैं? काल के प्रति आप सचेत रहते हैं?"

काल का विचार ही करना हो तो कालक्रमानुसार के अतिरिक्त किसी भी अन्य प्रकार के काल का विचार किया जा सकता है क्या? व्यवहार के एक उपयुक्त साधन के रूप में हम काल का उपयोग भले कर लें, पर उसका अपना कोई अर्थ नहीं है। है·

न ऐसी बात ? एक तत्त्व की दृष्टि से काल केवल बौद्धिक कल्पना है और सब प्रकार की बौद्धिक कल्पनाएँ निरर्थक होती हैं। किसी व्यावहारिक उपलब्धि या किसी वैचारिक हेतु की सिद्धि के साधन के रूप में हम काल का उपयोग करते हैं। स्टेशन जाने के लिए काल की आवश्यकता पडती है। किन्तु अनेक लोग किसी मानसिक हेतु सिद्ध करने की दृष्टि से काल का उपयोग करते हैं और ये मानसिक हेतु भी नाना प्रकार के होते हैं। सोचने की बात है कि हमें काल का बोध कब होता है ? हमें काल के विशेष स्वरूप का बोध तभी होता है, जब हमारे हेतु की सिद्धि के मार्ग में कोई बाधा उत्पन्न होती है अथवा किसी प्रकार की सफलता में विलम्ब होता है। जो आज वस्तुतः है और उसका स्वरूप बाद में हो सकता है, या होनेवाला है अथवा होना चाहिए, ऐसा लगता है—उसका अन्तराल ही काल है। प्रारम्भ से परिणति की ओर जानेवाला काल ही काल है।

"क्या इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार का काल नहीं है ? विज्ञान की जो दिक्कालात्मक कल्पना है, उसके विषय में आपका क्या मत है ?"

काल दो प्रकार का होता है—कालक्रमानुसार या प्राकृतिक काल और मानसिक काल। कालक्रमानुसार काल दैनन्दिन व्यावहारिक जीवन के लिए उपयुक्त और आवश्यक है। लेकिन मानसिक काल उससे सर्वथा भिन्न है। कार्य-कारण-प्रक्रिया केवल भौतिक दृष्टि से ही नहीं, मानसिक दृष्टि से भी काल-प्रक्रिया मानी जाती है। ऐसा माना जाता है कि कारण और कार्य के बीच का अन्तराल ही काल है। लेकिन क्या इनमें कोई अन्तराल होता है ? किसी रोग के कारण और रोग के स्वरूप में काल का अन्तर हो सकता है। लेकिन यह काल भी कालक्रमानुसार, प्राकृतिक काल होता है। किन्तु मानसिक स्तर पर कारण और कार्य में क्या कोई अन्तर होता है ? क्या यहाँ कारण-कार्य-प्रक्रिया एकात्मक ही नहीं होती ? कारण और कार्य में यहाँ अन्तर नहीं होता। मानसिक स्तर पर मन को लगनेवाला वर्तमान क्षण—अर्थात् आज का विगत कल का—भूतकाल का कार्य है और वही भविष्यकाल—आगामी कल—का कारण है। मानसिक स्तर पर विगत कल-आज-आगामी कल यह सातत्यपूर्वक चलनेवाली एकात्मक प्रक्रिया है। यहाँ कारण और कार्य में कोई पार्थक्य नही। उनमें भेद दर्शानेवाली कोई स्पष्ट रेखा यहाँ नहीं होती। लेकिन हम मन में इस भेद की कल्पना करते हैं। क्योंकि हमें भविष्य में कुछ-न-कुछ साध्य करना होता है, हम कुछ विशेष बनना चाहते हैं। आज मैं 'ऐसा' हूँ, लेकिन आगे मुझे 'वैसा' बनना है। इसके लिए हमें काल की आवश्यकता प्रतीत होती है। यहाँ कालक्रमानुसार काल का उपयोग हम मानसिक हेतु की सिद्धि के लिए करना चाहते हैं। आज मैं अज्ञानी हूँ, लेकिन आगे मैं ज्ञानी होनेवाला हूँ, ऐसा मनुष्य को लगता है। लेकिन अज्ञानी मनुष्य का भविष्य में ज्ञानी होने का संकल्प करना वस्तुतः उसके अज्ञान की ही प्रगति होते रहना है।

जैसे लोभीपन का रूपान्तर कालान्तर में निर्लोभता में होना सम्भव नहीं है, वैसे ही अज्ञान का रूपान्तर कालान्तर में ज्ञान में होना सम्भव नहीं। भविष्य में कुछ विशेष होने की इच्छा ही वस्तुतः अज्ञान की प्रक्रिया है।

विचार भी क्या इसी प्रकार मानसिक काल का परिपाक नहीं होता? मानसिक स्तर पर ज्ञान का अर्थ है कालात्मक सातत्य। काल का अर्थ है सातत्य। ज्ञान का अर्थ है अनुभव। स्मृतिरूप से चलता रहनेवाला अनुभव का सातत्य ही काल है। काल का सातत्य यहाँ केवल अमूर्त भाव है और बौद्धिक विकल्पन वस्तुतः अज्ञान ही है। अपने अनुभव का आलेख ही हमारी स्मृति या मन है और मन ही हमारा मानसिक कालयंत्र है। मन भूतकाल द्वारा गढ़ा जाता है और विचार भी भूतकाल की निर्मिति है। यह भूतकाल ही तथाकथित ज्ञान का सातत्य है। ज्ञान सदैव भूतकाल पर ही अधिष्ठित होता है। वह काल के परे कभी नहीं जाता, अपितु वह सदैव कालान्तर्गत और कालबद्ध ही होता है। स्मृति अथवा ज्ञान का यह सातत्य ही हमारी चेतना है। अनुभव हमेशा भूतकाल का ही होता है, वह भूतकाल ही होता है। यह भूतकालरूपी अनुभव वर्तमान को हाथ से पकड़कर भविष्य की ओर चल पड़ता है। इस प्रकार भयिष्यकाल भी भूतकाल का ही थोड़ा-सा संशोधित रूप होता है। यह सम्पूर्ण प्रक्रिया ही हमारा विचार, अर्थात् हमारा मन है। विचार केवल काल की मर्यादा में ही कार्य करता है। कालातीत के बारे में विचार केवल बौद्धिक विकल्पन कर सकता है, किन्तु यह विचार का ही विक्षेप होगा। कोई भी बौद्धिक विकल्पन अज्ञान ही है।

"तब फिर आप कालातीत की भाषा क्यों बोलते हैं? मनुष्य को उस कालातीत का ज्ञान होना कभी सम्भव है? मानव को उस कालातीत की कभी पहचान हो सकेगी क्या?"

देखिये, पहचान के लिए अनुभविता की आवश्यकता है और अनुभविता तो सदैव काल-मर्यादा में ही विचरता है। किसी वस्तु की पहचान के लिए विचारपूर्वक उस बात का पूर्व अनुभव होना चाहिए और विचार से ऐसा अनुभव पहले लिया हो तो वह वस्तु ज्ञात की कोटि में ही रहेगी। यह निश्चित है कि ज्ञात कभी कालातीत नहीं रह सकता। ज्ञात सदैव काल के जाल में अटका रहता है। अतः विचार को उस कालातीत का ज्ञान कभी नहीं हो सकता। विचार की सहायता से प्राप्त करने जैसी और एक अवाप्ति या उपलब्धि—ऐसा कुछ उस कालातीत का स्वरूप नहीं है। कालातीत तक पहुँचा सकनेवाला कोई भी मार्ग अथवा कोई भी प्रक्रिया नहीं हो सकती। कालातीत की स्थिति वहाँ है जहाँ विचार या काल का कोई अस्तित्व ही नहीं होता।

"लेकिन इस स्थिति का मूल्य क्या है?"

मूल्य कुछ भी नहीं है। वह कोई क्रय-विक्रय की, सौदेबाजी की बाजारू वस्तु नहीं है। किसी हेतु की पूर्ति के लिए उसकी माप-तौल नहीं की जा सकती। उसका मूल्य ज्ञात के परे है।

"लेकिन जीवन में यह कालातीत कैसे विचरता है ? जीवन में उसका क्या भाग है ?"

जीवन का केवल इतना ही अर्थ हो कि जीवन विचार है, तब तो ऐसे जीवन में उस कालातीत का कोई भाग नहीं रहता। कालातीत स्थिति यदि हम किसी विशिष्ट हेतु के लिए चाहते हैं, उसकी सहायता से हम सुख-शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं, उसे सारे दुःखों की ढाल बनाना चाहते हैं, उसकी सहायता से सब लोगों की एकता साधना चाहते हैं, तो भी उसका कोई अर्थ नहीं। किसी भी हेतु की सिद्धि के लिए उसका उपयोग नहीं किया जा सकता। हेतुसिद्धि कहते ही साधन और साध्य आ ही जाते हैं और ऐसा होते ही हम पुनः विचार-प्रक्रिया की कोटि में आ जाते हैं। कालातीत को अपनी इच्छा के अनुसार मोड़ देना अथवा आकार देना मन की कोटि के परे की बात है। इसलिए मन के लिए उसका कोई उपयोग करना सम्भव नहीं। वस्तुतः उस कालातीत के कारण ही जीवन को सार्थकता प्राप्त होती है। उसके बिना जीवन दुःख, संघर्ष और वेदना का केन्द्र बन जाता है। विचार कभी किसी मानवीय समस्या को हल नहीं कर सकता, क्योंकि विचार ही तो मूलगामी समस्या है। ज्ञान का अन्त ही सुज्ञता या प्रज्ञा का आरम्भ है। प्रज्ञा काल-मर्यादा में नहीं रहती। प्रज्ञा अनुभव अथवा ज्ञान का सातत्य नहीं है। कालान्तर्गत जीवन में उलझन है, दुःख है। पर जहाँ कालातीत है, जहाँ वास्तविक सत्य है, वहीं परमानन्द है। ❁

८४. दुःख

एक विशालकाय पशु की लाश नदी में बही जा रही थी। लाश पर बैठे हुए गिद्ध मांस नोच रहे थे। अपना पेट पूरी तरह भरने तक वे अन्य गिद्धों को झगड़-झगड़कर अलग रखते थे। पेट भर जाने पर वे उड़ जाते थे। दूसरे गिद्ध अपनी बारी की राह देखते हुए पेड़ पर या किनारे पर बैठे थे। कोई-कोई पास ही आकर आकाश में चक्कर काट रहे थे। अभी-अभी सूर्योदय हुआ था। घास पर ओस-बिन्दुओं का घना थर जमा हुआ था। नदी के उस पार के किनारे पर के खेतों में कोहरा छाया हुआ था और किसानों की बोली इतनी दूर से भी स्पष्ट सुनाई दे रही थी। प्रभात बड़ा रमणीय था। उसमें एक प्रकार की ताजगी और नवीनता थी। एक पेड़ की डाल पर बँदरिया बैठी थी, उसके निकट ही उसका बच्चा उछल-कूद रहा था। वह सर्र से किसी शाखा पर चढ़ जाता, वहाँ से ऊपर की शाखा पर छलाँग लगाता और फिर वहाँ से सर्र से उतरकर अपनी माँ के पास पहुँच जाता। अथवा यों ही छलाँग मारता रहता। अपने बच्चे की उछल-कूद से तंग आकर बँदरिया एक पेड़ से उतरकर दूसरे पेड़ पर चढ़ जाती थी। जैसे ही बँदरिया नीचे उतरने को होती कि बच्चा

सपाटे से दौड़कर उससे चिपट जाता और उसकी पीठ पर चढ़ जाता अथवा पेट को पकड़कर झूलने लगता। बन्दर के इस बच्चे का चेहरा छोटा-सा था पर उसकी आँखों में खिलाड़ीपन, शरारत और कुछ-कुछ भय तैर रहा था।

नवीन का, अज्ञात का हमें बड़ा भय लगता है! हम अपने दैनन्दिन निश्चित कार्यक्रम में, अपनी पाली हुई आदतों में, रोज के टंटों-बखेड़ों और चिन्ताओं में उलझे रहना पसन्द करते हैं। परम्परा से चली आ रही पद्धति से ही हम विचार करना चाहते हैं। शुरू से जिस रास्ते पर चलते आये हैं, उसी रास्ते से चलना चाहते हैं। वे ही वे निश्चित चेहरे देखना चाहते हैं और पुरानी चिन्ताओं से मन को व्याप्त रखना चाहते हैं। हम नहीं चाहते कि अपरिचित लोगों से परिचय बढ़े। और जब ऐसा प्रसंग आ जाता है, तब हमारी वृत्ति अलग रहने की हो जाती है। हम किंकर्तव्यविमूढ़ बन जाते हैं। क्या बोला जाय, यह हमें सूझता ही नहीं। किसी अपरिचित जानवर का सामना हो जाता है तो भय से हम कितने घबरा जाते हैं! अपने विचारों के निश्चित परकोटे में ही हम विचरते रहते हैं। कभी यदि बाहर निकलने की हिम्मत करते हैं तो भी आखिर उसी परकोटे की परिधि में ही हम विचरते हैं। अपने उस निश्चित जीवन के किसी भी भाग का अन्त हम कभी नहीं करते, बल्कि हम अपनी जीवन-पद्धति का सातत्य ही निरन्तर बनाये रखते हैं। गतकाल का जड़ बोझा दिनानुदिन अपने सिर पर ढोते रहते हैं। हमारा जीवन एक सरीखे सातत्य का लम्बा प्रवाह बन गया है। हमारा मन जड़ तथा संवेदनशून्य बन गया है।

मुलाकात के लिए आये हुए उस व्यक्ति के आँसू रुकते ही नहीं थे। वह नियंत्रित रुदन नहीं था। अपनी बढ़ती हुई अश्रुधारा को रोकना उसके लिए अशक्य हो गया था। हिचकियों के कारण उसका सारा शरीर हिल उठता था। वह व्यक्ति तरुण था। वृत्ति से तरल था, गूढ़ दर्शन का अनुभवी था। उसकी आँखें इसकी गवाही दे रही थीं। बहुत देर तक तो वह बोल ही नहीं पा रहा था। बड़ी देर में जब उसका मुँह खुला तो उसकी आवाज काँप रही थी और वह बार-बार हिचकियाँ ले रहा था। संयम का सारा बाँध तोड़कर वह सिसकने लगता था।

किंचित् शान्त होने पर उसने कहना शुरू किया: "अपनी पत्नी के देहान्त के बाद मैं एक बार भी नहीं रोया। पर आज ही मेरे आँसू इतने जोर से क्यों बहने लगे, यह मेरी समझ में नहीं आ रहा है। जो भी हो, अब मुझे खुला-खुला, हल्का-हल्का लगने लगा है। जब मेरी पत्नी जीवित थी, तब मैं उसके साथ कभी-कभी रोया हूँ। लेकिन उन आँसुओं से हँसी की तरह ही मन स्वच्छ धुल जाता था। उसकी मृत्यु के बाद तो सब कुछ बदल गया है। पहले मैं चित्र बनाता था। लेकिन अब तो कूँची का स्पर्श करने की या अपने बनाये चित्रों की ओर देखने तक की इच्छा नहीं होती। पिछले छह महीनों में तो मैं स्वयं ही मृतवत् बन गया हूँ। यह

ठीक है कि हमारे बाल-बच्चे नहीं हुए थे, लेकिन वह एक बच्चा चाहती थी। लेकिन अब तो वह भी नहीं रही। वह अब नहीं है, यह बात अब भी मुझे सत्य नहीं लगती। क्योंकि सारे काम हम दोनों एक साथ मिलकर करते थे। वह इतनी सुन्दर थी, इतनी भली थी कि अब मैं अकेला क्या करूँ, यही समझ में नहीं आता। आपके सामने मैं इतना रोया, इसका मुझे बहुत दुःख है। मुझे इतना रोना क्यों आया, भगवान् ही जाने। लेकिन मेरा इस तरह रोना अच्छा ही रहा, ऐसा अब लगता है। अब पहले की बात तो आने से रही। मेरे जीवन में से कोई कीमती चीज सदा के लिए चली गयी है। कुछ दिन पहले जब अपनी कूँचियाँ मैंने पुनः हाथ में लीं, तो वे मुझे अपरिचित जैसी लगीं। पहले मुझे पता ही नहीं चलता था कि कूँची मेरे हाथ में है। लेकिन अब तो उसका वजन भी हाथ को प्रतीत होने लगता है। उनका उपयोग करना कठिन प्रतीत होने लगता है। अनेक बार तो मैं इस इरादे से नदी तक गया कि इस जगत् में वापस नहीं लौटना है। लेकिन हर बार मैं वापस लौट आया। उसीका चेहरा बराबर मेरी आँखों के सामने नाचता रहता है, जिससे दूसरे लोगों के चेहरे नहीं दीखते हैं। मैं उसीके सान्निध्य में खाता-पीता हूँ, सोता हूँ और सपने देखता हूँ। लेकिन तो भी पहले का समय तो लौटने-वाला नहीं है, यह भी मैं जान गया हूँ। उसकी मृत्यु के बारे में मैंने खूब सोच-विचार किया है, उस घटना का विवेकपूर्वक अर्थ लगाया है। उस घटना को समझने का प्रयत्न किया है। सब कुछ किया, लेकिन वह अब नहीं है, इस वस्तुस्थिति को नजरअन्दाज करना मुश्किल है। रोज रात को वह सपने में आती है। सोने का भी मैंने प्रयत्न किया, लेकिन सारे समय सोये रहना मेरे लिए सम्भव नहीं। उसकी चीजों का स्पर्श करने की भी मेरी हिम्मत नहीं होती। क्योंकि उन वस्तुओं के स्पर्शमात्र से, उनकी गंधमात्र से मैं पागल-सा बन जाता हूँ। सब कुछ भूल जाने का मैंने बहुत प्रयत्न किया। लेकिन कुछ भी करने पर पीछे की घड़ी लौटकर कैसे आयेगी? पक्षियों की भाँति-भाँति की मंजुल ध्वनि सुनने में पहले मुझे कितना आनन्द आता था! लेकिन अब तो मैं सब कुछ नष्ट कर डालना चाहता हूँ। ऐसा जीवन अब मैं कितने दिन तक जी सकता हूँ? उस दिन से मैं अपने एक भी मित्र से नहीं मिला। उसके बिना किसी की भी मित्रता का अब मेरी दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं रहा। मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि मैं क्या करूँ?"

हम लोग बड़ी देर तक निस्तब्ध बैठे रहे।

जिस प्रेम का रूपान्तर दुःख और घृणा में होता है, वह सच्चा प्रेम ही नहीं है। क्या हम जानते भी हैं कि सच्चा प्रेम क्या चीज है? विफलता के कारण जिसका रूपान्तर सन्ताप और आवेश में होता है, क्या वह सच्चा प्रेम है? जो लाभ और हानि के बटखरों से तौला जाता है, क्या वह प्रेम हो सकता है?

"मैं जब उस पर प्रेम करता था तब इनमें से किसी भी बात का अस्तित्व नहीं था। तब मैं इन सारी बातों को भूल गया था। स्वयं को भी भूल गया था। मुझे इतने प्रेम का लाभ प्राप्त हुआ था। आज भी मुझे उसके प्रति इतना ही उत्कट प्रेम महसूस होता है। लेकिन अब मुझे अन्य बातों का भी भान होने लगा है। स्वयं अपनी, अपने दुःख की और अपने दुःखमय जीवन की अब मुझे जानकारी होगयी है।"

मानवीय प्रेम का घृणा में, मत्सर में और दुःख में कितनी शीघ्रता से रूपान्तर हो जाता है! धुएँ में हम कितने गहरे डूब जाते हैं और जो हमारे अत्यन्त निकट था, वह कितनो दूर हो जाता है। फिर हम अन्य बातों को भी जानने लगते हैं और उन्हें बहुत अधिक महत्त्व भी प्राप्त होने लगता है। अब हम एकाकी हैं, हमारा कोई आत्मीय नहीं रहा, वह परिचित मुसकराहट और वह मार्मिक वाणी नहीं रही—इन सब बातों का हमें भान होने लगता है। दूसरे के अस्तित्व के ज्ञान के साथ-साथ अपने ही अस्तित्व का हमें ज्ञान होने लगता है। तब दूसरा ही सर्वस्व था, अपना कोई अस्तित्व नहीं था। अब दूसरा नहीं है। जो शेष है, वह केवल अपना ही वास्तविक रूप है। दूसरा अब निरा स्वप्न है और हम स्वयं ही वास्तविकता हो रहते हैं। क्या वह दूसरा वस्तुतः कभी वास्तविक था? अथवा वह हमारा मनोनिर्मित स्वप्न था? अपने को प्रतीत होनेवाले आनन्दस्वरूप सौन्दर्य से हमने ही उस सपने को सजाया था क्या? और अब वह आनन्द ऐसा था, जो जल्दी ही फीका पड़ गया, विवर्ण हो गया। अपने आनन्द का यह विवर्ण होना, मिटना ही मृत्यु है और हमारा वास्तविक स्वरूप ही हमारा जीवन है। हमारी कितनी ही इच्छा हो कि मृत्यु जीवन को ढँक दे, पर यह सदैव सम्भव नहीं। क्योंकि जीवन मृत्यु की अपेक्षा अधिक सामर्थ्यवान् है। जो वास्तविक नहीं है, उसकी अपेक्षा वास्तविक, नास्ति की अपेक्षा अस्ति अधिक शक्तिशाली होता है। हम जीवन को नहीं, मृत्यु को ही अधिक प्यार करते हैं! जीवन से पीठ फेरना कितना सुखद और विस्मरणीय है। हमारे जीवन में जब दूसरे का अस्तित्व रहता है तब हमारा अस्तित्व नहीं रहता। जब 'दूसरा' होता है, तब हम मुक्त होते हैं, अनिर्बन्ध होते हैं। यह 'दूसरा' क्या है? यह है—जीवन का पुष्प, यह है हमारा पड़ोसी, यह है मधुर परिमल, यह है—मीठा स्मरण। हम सब इस दूसरे को चाहते हैं। इस दूसरे से ही हम एकरूप रहते हैं, सारा महत्त्व इस दूसरे का ही है, हमारा कोई महत्त्व नहीं होता। वस्तुतः यह 'दूसरा' हमारा स्वप्न ही होता है। जब हम इस स्वप्न से जागते हैं, तब हमें अपना, वास्तविक का, बोध होता है। वास्तविक ही अविनाशी होता है, लेकिन हम वास्तविकता का ही अन्त चाहते हैं। वास्तविकता के अन्त की यह इच्छा ही सातत्यशीलता को जन्म देती है। लेकिन सातत्यशील को अमर और मरणातीत का ज्ञान कभी हो नहीं सकता।

"आज मैं जिस जीवन्मृत अवस्था में हूँ, उसमें मैं आगे जी नहीं सकूंगा, यह मैं अच्छी तरह जान गया हूँ। लेकिन आप क्या कहते हैं, इसका अर्थ पूरी तरह मेरी समझ में नहीं आता। मेरा मन इस आघात से इतना सुन्न और बधिर हो गया है कि कुछ भी ग्रहण करना मेरे लिए कठिन हो गया है।"

क्या आपको कभी ऐसा अनुभव नहीं होता कि कुछ कानों में पड़ते हुए भी, कुछ पढ़ते हुए भी आपका उस ओर पूरा ध्यान नहीं रहता और फिर भी कहा हुआ और पढ़ा हुआ अनजान में ही आपके अन्तःकरण में प्रवेश कर गया है? देखिये, आसपास के पेड़ों को आपने गहरी दृष्टि से नहीं देखा होता है, तो भी एकाध बार उनका स्पष्ट आकार और स्वरूप आँखों के सामने खड़ा रहता है—क्या ऐसा अनुभव आपको कभी नहीं हुआ? इसमें शंका नहीं कि पत्नी की मृत्यु के आघात के कारण आप सुन्न बन गये हैं। इसके बावजूद जैसे-जैसे आप इस सुन्न स्थिति से निकलेंगे, वैसे-वैसे आपको हमारी इस बातचीत का स्मरण होगा और तब इससे कुछ लाभ हो सकेगा। लेकिन एक महत्त्व की बात आपको ध्यान में रखनी चाहिए कि जब आप इस आघात से बाहर निकलेंगे, तब आपका दुःख अधिक तीव्र रूप धारण करेगा और इस दुःख से दूर भाग जाने की आपकी इच्छा होगी। और उस समय पलायन के मार्गदर्शक कितने ही लोग आपको मिल जायेंगे। वे आपको मृत्यु के विषय में तथा शोक के विषय में अनेक स्पष्टीकरण भी देते रहेंगे, इस विषय में उनके स्वयं के तथा दूसरों के जो निष्कर्ष होंगे, वे भी आपके समक्ष रखेंगे, आपके दुःख को कार्य-कारणभाव का वैचारिक शिल्प देकर आपके समाधान का भी प्रयत्न करेंगे, अथवा आप स्वयं ही अपना दुःख डुबा देने का सुखद या दुःखद बहाना खोज निकालेंगे। अभी आप उस दुःखद घटना के अत्यन्त निकट हैं। लेकिन जैसे-जैसे दिन बीतेंगे, आप किसी प्रकार का समाधान प्राप्त करने के पीछे लगेंगे। फिर आप धर्म का, किसी विचार-प्रणाली का, किसी सामाजिक कार्य का अथवा अश्रद्धावाद का आश्रय लेना चाहेंगे। परन्तु मनुष्य किसी भी बहाने का आश्रय ले, फिर वह चाहे ईश्वर का हो, चाहे मदिरा-पान का—ऐसा बहाना दुःख के सही आकलन में बाधक बनेगा।

वस्तुतः दुःख के प्रति दुर्लक्ष्य करना उपयुक्त नहीं है। उसका आकलन ही आवश्यक है। दुःख के प्रति दुर्लक्ष्य का अर्थ है उसे सातत्य प्रदान करना। दुःख के प्रति दुर्लक्ष्य करने का अर्थ है उससे दूर भागना। दुःख का आकलन करने के लिए उसकी ओर शल्यक्रियात्मक और प्रयोगात्मक दृष्टि से ही देखना चाहिए। प्रयोग करने का अर्थ कोई निश्चित निष्कर्ष निकालना नहीं है। आपको कोई निश्चित निष्कर्ष ही निकालना हो तो प्रयोग सम्भव ही नहीं है। आप यदि जानते हैं कि आपको क्या चाहिए तो उसके पीछे लगने का अर्थ प्रयोग करना कतई नहीं है। यदि आप दुःख पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं, अर्थात् आप दुःख का धिक्कार करना चाहते हैं तो दुःख

की सम्पूर्ण प्रक्रिया कभी आपके आकलन में नहीं आयेगी। क्योंकि, जब आप दुःख पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं, तब आप दुःख को केवल टालना चाहते हैं। पर यदि आप दुःख का आकलन करना चाहते हैं, तब कोई भी मनोनिर्मित निर्णायक कृति टालनी चाहिए। दुःख का समर्थन भी टालना चाहिए और उस पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न भी टालना चाहिए। मन पूरी तरह निष्क्रिय होना चाहिए और उसके द्वारा दुःख का चुपचाप निरीक्षण करते रहना चाहिए। ऐसा करते रहने पर ही दुःख जैसे-जैसे अपना स्वरूप उजागर करेगा, वैसे-वैसे मन खुले रूप से उसे निरखेगा। किन्तु यदि मन किसी आशा में, किसी निष्कर्ष में, किसी स्मृति में अटका रहेगा तो वह दुःख की कहानी सुन नहीं सकेगा। जो वास्तविक है, सत्य है, उसकी तीव्र हलचल को निरखने के लिए मन पूरी तरह मुक्त होना चाहिए। विमुक्तता अन्त में प्राप्त नहीं होती, वह एकदम आरम्भ में ही होनी चाहिए।

"इन सारे मानवीय दुःखों का अर्थ क्या है?"

क्या दुःख संघर्ष का ही द्योतक नहीं है? क्या वह सुख-दुःख के संघर्ष का ही निदर्शक नहीं है? क्या दुःख हमारे अज्ञान का प्रज्ञापन नहीं है? तथ्यों की पूरी जानकारी न होना अज्ञान नहीं है, बल्कि हमारे अहं की जो सम्पूर्ण प्रक्रिया सदैव चालू रहती है, उसकी ओर दुर्लक्ष्य होना, उसका ध्यान न रहना ही वस्तुतः अज्ञान है। हमारे अहं के व्यापारों का जब तक हमें आकलन नहीं होगा, तब तक दुःख का स्थायित्व निश्चित है। अहं के इन व्यापारों का शोध हमें अपने विविध सम्बन्धों में से ही करना होगा।

"लेकिन मेरे तो सारे नाते-रिश्ते ही समाप्त हो गये हैं।"

देखिये, रिश्ते अथवा सम्बन्धों का अन्त कभी नहीं होता। आपके एक विशिष्ट रिश्ते का अन्त भले ही हो गया हो, लेकिन रिश्ते तो कभी समाप्त नहीं होते। वस्तुतः हमारा होना, जीवित रहना ही नाना प्रकार के सम्बन्धों और रिश्तों से बँधना है। सारे सम्बन्धों से अलग होकर कोई रह नहीं सकता। हम सब लोग सामान्यतः किसी विशिष्ट रिश्ते के द्वारा अपने को जगत् से अलग कर लेना चाहते हैं। लेकिन ऐसी विमुक्तता से दुःख और शोक ही अपरिहार्य रूप से उत्पन्न होते हैं। लोगों से कटकर अलग हो जाने की यह प्रक्रिया ही दुःख है।

"मेरा जीवन कभी पुनः पहले जैसा हो सकेगा क्या?"

विगत कल के हर्ष और उल्लास की पुनरावृत्ति आज हो सकती है क्या? जब आज हर्ष का अभाव खटकता है, तभी विगत कल के हर्ष की पुनरावृत्ति की इच्छा उठती है। जब 'आज' रिक्त और अर्थहीन भासित होता है, तभी मनुष्य गतकाल की ओर अथवा आगामी कल की ओर आशा से देखता है। पुनरावृत्ति की यह अभिलाषा सातत्य की ही अभिलाषा है। ऐसे सातत्य में से शुद्ध नूतन का कभी उदय नहीं

होता। वस्तुतः सच्चा सुख न भूतकाल में होता है, न भविष्यकाल में। सच्चा सुख तो केवल नित्य नूतन वर्तमान में ही होता है।

८५. संवेदन और सुख

उस प्रचण्ड ऊँचाई पर से नीचे का हरा-हरा नीला समुद्र दिखाई दे रहा था। परन्तु विमान में होनेवाली जोर की आवाज के कारण आपस में बात करना कठिन था। परन्तु कॉलेज के कुछ विद्यार्थी भी उस विमान में थे, जो उस टापू पर होनेवाली किसी खेल प्रतियोगिता के लिए जा रहे थे। उनमें से एक के पास बैंजो वाद्य था, जिसे वह घण्टों-से बजा रहा था। वह दूसरों को प्रेरित कर रहा था कि वे भी उसके गायन में शामिल हों। तब वे सब मिलकर समूहगान करने लगे। उस बैंजोवाले तरुण का कण्ठ सुरीला था। उसके गाने जॉज नृत्य के साथ गाये जानेवाले अमरीकी गीत थे। कुछ क्रन्दन गीत थे, कुछ चरवाहों के गीत। सचमुच वे सब बहुत बढ़िया गा रहे थे। वे गीत हूबहु ग्रामोफोन पर गाये जानेवाले लग रहे थे। विद्यार्थियों का वह समूह बड़ा मजेदार लगा। वे केवल वर्तमान का ही आनन्द ले रहे थे। आज के मनोरंजन के आगे आगामी कल का विचार उन्हें स्पर्श भी नहीं कर रहा था। आगामी कल में, भविष्य में नाना प्रकार के कष्ट और कठिनाइयाँ छिपी थीं। नौकरी व्यवसाय, विवाह, वृद्धावस्था और मरण ये सब भविष्य के हिस्से में आनेवाले थे। लेकिन इस समय, इस क्षण, समुद्र से इतनी ऊँचाई पर अमरीकी गानों तथा सचित्र मनोरंजन मासिक पत्रों का ही उनकी दृष्टि में अस्तित्व था। काले घनघोर मेघों में चमकनेवाली बिजली की ओर उनका ध्यान नहीं था। समुद्र तट के निकटवर्ती उस अन्तरीप और सूर्य प्रकाश में झलकनेवाले उस दूरवर्ती देहात की ओर भी उनकी दृष्टि नहीं थी।

अब वह टापू विमान के नीचे की ओर हरा-हरा झलकने लगा था। अभी-अभी की वर्षा के कारण वह स्वच्छ धुला हुआ दीख रहा था। उस ऊँचाई पर से टापू पर का सब-कुछ कितना सुन्दर और व्यवस्थित लग रहा था! वहाँ का सर्वोच्च पर्वत भी पठार की भाँति दीख रहा था। समुद्र की धवल-शुभ्र लहरें भी ठिठकी हुई लग रही थीं। हलके पीले रंग की एक मच्छीमार नाव आगे के तूफान से बचाव के लिए बन्दरगाह की ओर तेजी से जा रही थी। बन्दरगाह निकट ही था, अतः वह ठीक से पहुँच गयी ऐसा लगा। पहाड़ पर से मोड़ खाती हुई एक नदी समुद्र से मिल रही थी। आस-पास की पीली जमीन सुनहरी दीख रही थी। उस ऊँचाई पर से नदी के दोनों तीरों पर क्या चल रहा है, यह स्पष्ट दिखाई दे रहा था। भूत और भविष्य एक-दूसरे में मिल रहा था। भविष्य नदी के दूरवर्ती मोड़ के उस

पार था, तो भी यहाँ वह दृष्टि की पकड़ में था। इस ऊँचाई पर न तो भूत ही था, न भविष्य। दिशा अथवा अवकाश के वक्र से न तो बोआई का काल छिपा था, न कटनी का।

बगल की सीट पर बैठा हुआ मनुष्य अपने जीवन की कठिनाइयों की कथा कहने लगा। अपनी नौकरी के स्वरूप के बारे में, अपने अखण्ड प्रवास के बारे में, कुटुम्ब को उसके प्रति में लगनेवाली उदासीनता के बारे में और वर्तमान राजनीति की व्यर्थता के बारे में वह शिकायत कर रहा था। वह कहीं दूर के प्रवास पर निकला था और उसे अपना घर छोड़ना पड़ा था, इसलिए वह दुखी दिखाई दे रहा था। वह जैसे-जैसे बोलने लगा, वैसे-वैसे उसकी गम्भीरता बढ़ती गयी। पहले अपने सम्बन्ध में, फिर अपने परिवार के सम्बन्ध में और बाद में सारे विश्व के सम्बन्ध में उसकी चिन्ता अधिकाधिक बढ़ती गयी।

"इस सारे झंझट से कहीं दूर शान्त स्थान पर जाकर थोड़ा बहुत काम करते हुए सुख से जीवन बिताने की मेरी इच्छा है। मुझे नहीं लगता कि इतनी लम्बी उम्र में मुझे कभी सुख मिला हो। मेरे लिए यह समझना भी कठिन हो गया है कि सुख क्या चीज है। हम मनुष्य पशुओं की भाँति ही जीते हैं, बच्चे पैदा करते हैं; कोई काम करते हैं और अन्त में मर जाते हैं। पैसा प्राप्त करने के सिवा और किसी भी विषय में मेरा सारा उत्साह समाप्त हो गया है और अब तो धन कमाने से भी मैं तंग आ गया हूँ। यों मेरा काम अच्छा है और मुझे वेतन भी पर्याप्त मिलता है। लेकिन यह सब मैं क्यों कर रहा हूँ, इसकी तनिक भी कल्पना मुझे नहीं है। मैं सुखी होना चाहता हूँ। लेकिन आप मुझे बताइये उसके लिए मैं क्या करूँ?"

देखिये जिस बात का आप आकलन करना चाहते हैं, वह बहुत उलझी हुई है और इस विषय में गम्भीरतापूर्वक बात करने की यह जगह भी नहीं।

"लेकिन मुझे तो दूसरा कोई समय मिलनेवाला नहीं है। विमान से उतरते ही मुझे तत्काल आगे जाना है। आप शायद समझेंगे कि बातचीत से मैं गम्भीर वृत्ति का नहीं हूँ, लेकिन मेरे अन्तःकरण में गाम्भीर्य के कुछ कण बिखरे पड़े हैं। हाँ, ये कण एकत्र होते हुए दीखते नहीं हैं, यही मेरी कठिनाई है। यों मैं अन्तरंग से सचमुच गम्भीर हूँ। मेरे पिताजी और कुछ वरिष्ठ सम्बन्धी गम्भीरता के लिए प्रसिद्ध थे। लेकिन वर्तमान आर्थिक परिस्थिति के कारण किसी भी मनुष्य के लिए पूर्ण गम्भीर रहना बहुत कठिन हो गया है। यह ठीक है कि मैं सच्ची गम्भीरता से बहुत दूर चला गया हूँ। लेकिन अब पुनः गम्भीरता की ओर लौटने की मुझे प्यास लगी है। वर्तमान उथलेपन को तथा बुद्धिहीनता को मैं बिलकुल भूल जाना चाहता हूँ। मैं सचमुच दुर्बल वृत्ति का हूँ और परिस्थिति के सम्बन्ध में आपके समक्ष बराबर शिकायत कर रहा हूँ। पर जो हो, मैं सचमुच सुखी होना चाहता हूँ।"

देखिये, सुख-संवेदना एक वस्तु है और सच्चा सौख्य सर्वथा भिन्न वस्तु। सुख-संवेदना अधिकाधिक सुख-संवेदना प्राप्त करने के पीछे लगी रहती है। अधिकाधिक व्यापक क्षेत्र से सुख-संवेदना प्राप्त करने की उसे चाह होती है। इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होनेवाले संवेदन-सुखों का कोई पार नहीं। वे निरन्तर बढ़ते जाते हैं, पर उनकी पूर्ति होते रहने पर भी असमाधान रहता ही है। अधिक की अभिलाषा वहाँ बराबर आसन जमाये रहती है। अधिकाधिक की इस लालसा का कहीं अन्त नहीं हैं। संवेदना और असमाधान अवियोज्य हैं। उन्हें एक-दूसरे से कभी अलग नहीं किया जा सकता। अधिक की अभिलाषा दोनों को आपस में बांध देती हैं। किसी भी विषय की अधिक या अल्प की अभिलाषा ही संवेदना है। संवेदना की तृप्ति में से ही अधिक संवेदना की माँग जन्म लेती है। यह अधिक कभी मिलता नहीं। सदैव भविष्य में ही रहता है। जो प्राप्त हो गया है, उसके विषय में लगनेवाला अखण्ड असन्तोष ही अधिक की माँग है। जो विगत कल में हो गया है और जो आगामी कल में होनेवाला है, उनमें अनवरत संघर्ष चलता रहता है। संवेदन सदैव असंतोषमय होता है। अपनी संवेदनेच्छा पर हम धर्म का मुखौटा चढ़ा दें, तो भी उसका सही स्वरूप कायम ही रहता है। वह स्वरूप मनोनिर्मित होता है और वही संघर्ष और चिन्ता का मूल है। हमारी शारीरिक सुख-संवेदना सदैव अधिकाधिक सुखोपभोग के लिए चिल्लाती रहती है, लेकिन जब अभिलषित की प्राप्ति नहीं होती, तब क्रोध, ईर्ष्या और घृणा का कोहराम शुरू हो जाता है। घृणा में मनुष्य को सुख मिलता है। ईर्ष्या में भी मनुष्य को एक प्रकार का समाधान मिलता है। किसी संवेदना को जब तृप्ति नहीं मिलती, तब इस अतृप्ति के कारण जो द्वेष, जो संताप उत्पन्न होता है, उसीके द्वारा मनुष्य संतोष प्राप्त कर लेता है।

संवेदना सदैव प्रतिक्रिया होती है। एक प्रतिक्रिया से दूसरी की ओर वह सतत भटकती रहती है। जो भटकता है वह है मन। मन ही संवेदन है। मन सब प्रकार की सुखद या दुःखद संवेदनाओं का गोदाम है। मन है स्मृति और स्मृति का अर्थ है—प्रतिक्रिया। अनुभव सदैव प्रतिक्रियात्मक होता है। संवेदना अथवा प्रतिक्रिया की तृप्ति कभी नहीं होती। जहाँ प्रतिक्रिया है, प्रत्युत्तर है, वहाँ संतोष कहाँ? यह प्रत्युत्तर सदैव नकारात्मक कथन होता है। जो नहीं है, वह नहीं ही रहेगा। जो आरंभ से ही वस्तुशून्य है, उसे भविष्य में भी वस्तुत्व प्राप्त होना कभी संभव नहीं। संवेदन को संतोष कभी मिल नहीं सकता। संवेदन अथवा प्रतिक्रिया में से सदैव संघर्ष का ही निर्माण होता है। इस संघर्ष को ही संवेदना का रूप प्राप्त होता है। भ्रम में से और अधिक भ्रम उत्पन्न होता रहता है। मन के विविध स्तरों का सारा व्यापार संवेदन ही बढ़ता है। जब संवेदन का विस्तार कुंठित किया जाता है, तब संवेदन अपने को संकुचित करके उसीमें से संतोष प्राप्त करना चाहता है। परस्पर विरोधी विचारों के संघर्ष का अर्थ है संवेदन या प्रतिक्रिया। मन कभी प्रतिकार करके तो कभी स्वीकार

करके, कभी झुक करकेतो कभी इनकार करके समाधान प्राप्त करना चाहता है। पर यह समाधान अधिकाधिक समाधान खोजता रहता है।

मन कभी सच्चा सुख नही पा सकता। सुख कोई ऐसी वस्तु नहीं जो पीछे लगने से प्राप्त हो जाय, जैसे संवेदन। संवेदन बार-बार पाया जा सकता है, क्योंकि वह जब देखो तब खोता रहता है। लेकिन सुख इस तरह कभी प्राप्त नहीं हो सकता। सुख की स्मृति केवल एक संवेदन है। वर्तमान को देखकर भीतर उठी हुई वह एक अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रिया होती है। जो समाप्त हो चुका है, वह सुख नहीं होता। विगत सुख की स्मृति होती है संवेदन। क्योंकि, स्मृति होती है भूतकाल की और जो भूतात्मक है, वह संवेदन है। सच्चा सुख संवेदन कतई नहीं है।

'हम सुखी हैं—इसका भान आपको कभी हुआ है?

''भगवान् की कृपा है कि मुझे सुख का अनुभव हुआ है। नहीं तो मैं जान ही नहीं सकता था कि सुख क्या वस्तु है।''

वस्तुस्थिति यह है कि आपको जिसकी जानकारी हुई, वह सुख का संवेदन ही था। लेकिन यह सुख नहीं है। जिसका आपको ज्ञान है, वह भूतकालीन है, वर्तमान-कालीन नहीं जो बीत चुका है वह केवल संवेदन, केवल प्रतिक्रिया, केवल स्मृति है। आप किसी समय सुखी थे, इसकी आपको स्मृति है। लेकिन क्या वह भूतकाल यह बता सकता है कि सुख क्या वस्तु है? यह भूतकालीन स्मृति आपको सुख की स्मृति दिला सकती, लेकिन यह स्मृति तो सुख है नहीं। सुख की पहचान होना सुख नहीं है। सुखी होना क्या है, इस बात को जान लेना भी सुख नहीं है। पहचान होना तो केवल स्मृति द्वारा दिया गया उत्तर है। जो मन स्मृति का भण्डार है, अनुभव का भण्डार है, वह क्या कभी सुखी हो सकता है? सुख की यह पहचान ही, पूर्व अनुभूत का यह ज्ञान ही साक्षात् सुख के अनुभव के आड़े आता है।

आपको जब यह भान होता है कि आप सुखी हैं, तब क्या वहाँ सचमुच सुख रहता भी है? जिस समय आप सचमुच सुख का अनुभव करते हैं, तब आपको सुखी होने का भान भी होता है? अधिक सुख की इच्छा की स्मृति के साथ संघर्ष आरम्भ होता है, तभी मनुष्य को सुखबोध होता है, अधिक सुख की स्मृति सुख नहीं है। जहाँ संघर्ष होता है, वहाँ सुख नहीं होता। जहाँ मन का व्यापार चलता रहता है, वहाँ संघर्ष होता है। विचार किसी भी स्तर का हो, वह स्मृति द्वारा दिया हुआ प्रत्युत्तर ही होता है। अतः विचार निश्चय ही संघर्ष उत्पन्न करता रहता है। विचार ही संवेदन है और संवेदन का अर्थ सुख नहीं है। संवेदन सदैव अपनी अधिकाधिक की तृष्णा पूरी करने के पीछे लगा रहता है। इस तृष्णा का अन्तिम लक्ष्य संवेदन ही होता है। लेकिन सच्चा सुख प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करनेवाला साध्य नहीं हैं। पीछे लग ने से सुख नहींमिलता।

"लेकिन संवेदनाओं का अन्त कैसे होगा ?"

संवेदनाओं का अन्त करने का अर्थ है मृत्यु का आवाहन करना। संवेदनाओं के अन्त के लिए मनुष्य जो आत्मपीड़न करना चाहता है, वह भी एक प्रकार का संवेदन ही है। अपने तन या मन का पीड़न करते रहने से केवल संवेदन-क्षमता ही नष्ट होती है, संवेदनाओं की समाप्ति नहीं होती। विचार जब संवेदना को नष्ट करने के लिए आत्मपीड़न करना चाहता है, तब वह वस्तुतः अधिकाधिक संवेदन ही प्राप्त करना चाहता है। कारण, विचार स्वयं ही संवेदना है। संवेदना के लिए अपना अन्त करना कभी सम्भव नहीं। वह केवल विभिन्न स्तरों पर नयी-नयी संवेदना ही उत्पन्न कर सकती है, लेकिन संवेदना नष्ट नहीं होती। संवेदन को नष्ट करने की सोचना अपने को संवेदनशून्य और मृतवत् बना डालता है। देखने की, सुनने की, सूँघने की, स्पर्श करने की संवेदनक्षमता नष्ट कर डालना मृतवत् ही बन जाना है। यह स्थिति सबसे हटकर अलग जा पड़ने की है। पर हमारी समस्या तो सर्वथा भिन्न प्रकार की है। है न ? विचार कभी सच्चा सुख नहीं ला सकता। विचार केवल संवेदनाओं का स्मरण कर सकता है, क्योंकि विचार ही संवेदन है। सुख का बीजारोपण करना और क्रमश उसे पोसते रहना विचार के लिए कतई सम्भव नहीं। विचार की पहुँच ज्ञात तक ही है। लेकिन यह पूर्वज्ञात सच्चा सुख नहीं है। जो-जो पूर्वज्ञात है, वह सब केवल संवेदन ही है। विचार कितना ही प्रयत्न क्यों न करे, उसका न तो सुख में रूपान्तर हो सकता है और न वह सुख को खोजकर ला सकता है। विचार को केवल अपने व्यापारों का और अपनी रचना की जानकारी हो सकती है। विचार जब अपना अन्त लाने का प्रयत्न करता है, तब वह केवल अधिक सफलता पाने के चक्कर में रहता है। वह ऐसे किसी लक्ष्य या साध्य पर पहुँचना चाहता है, जहाँ पहले से भी अधिक तृप्ति मिल सके। यह अधिक सिर्फ ज्ञान होता है, सच्चा सुख नहीं। वस्तुतः विचार को अपने विविध व्यापारों की और अपनी आत्मवंचना की पहले जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए। कुछ भी होने, न होने की अभिलाषा न रखते हुए मन जब अपनी ओर देखने लगता है, तब वह अक्रिय स्थिति में पहुँच जाता है। यह अक्रियता मरण नहीं है, वह अकरणशील सावधानता है। इस स्थिति में विचार पूर्ण रूप से निष्क्रिय बन जाता है। संवेदनक्षमता की यह सर्वोच्च स्थिति है। जिस समय मन के समस्त स्तरों पर व्यापार में अक्रियता उत्पन्न होती है, तभी सच्ची कृति उदित होती है। मन के सब प्रकार के व्यापार केवल संवेदन होते हैं। विविध प्रकार के उद्दीपनों और प्रभावों को दिये जानेवाले वे केवल प्रतिक्रियात्मक उत्तर होते हैं। उनमें सच्ची कृति तो होती ही नहीं। मन जब कृतिशून्य होता है, तभी सच्ची कृति का उदय होता है। यह कृति कारणशून्य होती है और ऐसी ही कृति में परमानन्द निहित रहता है। ●

८६. असत्य के असत्यत्व का दर्शन

वह संध्या बड़ी मनोरम थी। धान के खेतों के उस पार आकाश की लाली ज्वाला की भाँति भड़की हुई दीख रही थी। ताड़-खजूर के ऊँचे-ऊँचे वृक्ष हवा में हिल-डुल रहे थे। ठसाठस भरी हुई एक बस तेज आवाज करती हुई उस छोटी पहाड़ी पर चढ़ती जा रही थी। पहाड़ी को अपने में लपेटनेवाली नदी सागर से मिलने के लिए तेजी से वही जा रही थी। चरागाह में चरनेवाले पशु हट्टे-कट्टे दीख रहे थे। प्रकृति खूब हरी-भरी दीख रही थी। रंग-बिरंगे फूल सर्वत्र बिखरे हुए थे। छोटे-छोटे हृष्ट-पुष्ट बालक खेत में खेल रहे थे और छोटी-छोटी बच्चियाँ उनके खेल को आश्चर्यभरी दृष्टि से देख रही थीं। निकट के छोटे से मन्दिर में देव-मूर्ति के आगे कोई दीपक जला रहा था। दूरवर्ती एक मकान से सायं-प्रार्थना की ध्वनि सुनाई पड़ रही थी। प्रार्थना के कमरे में दीपक का प्रकाश मन्द ही था। प्रार्थना के लिए सारा परिवार वहाँ जमा था और ऐसा लगता था कि सभी लोग पूरे मनोयोग से प्रार्थना कर रहे थे। सड़क के बीचोबीच एक कुत्ता मजे से सो रहा था। पास से जानेवाले साइकिल-सवार को इस कारण थोड़ा मोड़ लेकर जाना पड़ा। अब अँधेरा होने लगा था और रास्ते से शान्तभाव से जाने-आनेवाले लोगों के चेहरे जुगनुओं के प्रकाश में चमक-से रहे थे। एक जुगनू एक महिला के बालों में अटक गया था, जिसके चलते उसके सिर को एक हलकी दीप्ति की शोभा प्राप्त हो गयी थी।

हम जब नगरों से दूर छोटे-छोटे देहातों में अथवा खेतों में रहते हैं, तब हमारे अन्तःकरण सहज रूप से कितने दयापूर्ण होते हैं! यहाँ पर महत्त्वाकांक्षा का मद अभी चढ़ा हुआ न होने से इन अल्पशिक्षित ग्रामीण लोगों में एक प्रकार की जीवन की निकटता व्याप्त रहती है। देहात में होकर जाते समय कोई राह-चलता लड़का आपकी ओर देखकर सहज मुसकराता है, रास्ते पर कोई वृद्धा आपकी ओर आश्चर्यपूर्वक देखती है, कोई आपको देखकर थोड़ा ठिठक जाता है और फिर आगे बढ़ता है। जोर-जोर से बात करनेवाले पथिकों का समूह आपको देखते ही चुप हो जाता है और आश्चर्यभरी रुचि से आपकी ओर देखने लगता है। एकाध महिला रुककर आपको रास्ता दे देती है। वस्तुतः हम सब लोग बड़े अज्ञानी होते हैं! हमें अपना कितना कम ज्ञान होता है! थोड़ा-बहुत हम जानते हैं, लेकिन आकलन तो किसी तरह का नहीं होता। जो थोड़ा-बहुत हम समझते हैं, उसे हम दूसरों तक पहुँचा नहीं सकते, दूसरों से सुसंवाद साध नहीं पाते। वस्तुस्थिति यह है कि हमें

अपना ही ज्ञान नहीं होता, फिर दूसरों का ज्ञान होगा कैसे ? दूसरों का सही ज्ञान हमें कभी नहीं हो सकता, हम उनके साथ केवल सुसंवाद साध सकते हैं। हम मृत को ही जान सकते हैं, जीवित को नहीं। हमें जो कुछ ज्ञात रहता है वह भूतकाल का और मृत ही होता है। वर्तमान में जो सजीवता रहती है, उसे हम नहीं जानते। केवल भूतात्मक तथा मृत ही हम समझते हैं। जो वर्तमानात्मक और सजीव है, वह हमें नहीं समझता। जीवन्त वर्तमान के ज्ञान के लिए हमारे भीतर जो भूतात्मक और गतार्थ है, उसे पूरी तरह संगोपन कर देना चाहिए। हमें आसपास के पेड़ों के, पक्षियों के अथवा दूकानों के नाम ज्ञात होते हैं। लेकिन अपनी नैसर्गिक तृष्णा और कुछ निश्चित शब्दों के अतिरिक्त अपने विषय में अधिक हम क्या जानते हैं ? अनेक विषयों की जानकारी हमें होती है, अनेक विजयों के निष्कर्षों से हम परिचित होते हैं। परन्तु हमें जो थोड़ा-बहुत सुख प्राप्त होता है, जो थोड़ी-बहुत शांति मिलती है, वह सदैव अवरुद्ध और कुंठित ही होती है। हमारा जीवन या तो रीता-रीता और जड़ होता हैं, अथवा नाना प्रकार की जानकारी के शब्दों से और कार्यसंभार से इतना बोझिल होता है कि वह हमें अन्धा बना देता है। तथाकथित ज्ञान या जानकारी सुज्ञता नहीं है और सम्यक् सुज्ञता के बिना मनुष्य के जीवन में सम्यक् सुख और सम्यक् शान्ति का आना सम्भव नहीं।

वह एक तरुण प्राध्यापक था। पर वह असंतोष से, चिन्ताओं से और उत्तर-दायित्वों से लदा था। वह अपनी कठिनाइयाँ सुनाने लगा। उसके दुःख सर्वसाधारण के ही थे। अपने सुशिक्षित होने की बात वह बता रहा था। लेकिन यह सुशिक्षण पुस्तकें पढ़ने और उनमें से विवरण जमा करके रखने जैसा ही होता है। वह प्राध्यापक कहने लगा कि उसने अनेक प्रवचन सुने हैं और तभी से कई वर्षों से वह धूम्रपान त्याग देने का प्रयत्न करता आ रहा है। लेकिन धूम्रपान छोड़ने में वह कभी पूर्णतः सफल नहीं हुआ। धूम्रपान सर्वथा छोड़ देने की उसकी बड़ी इच्छा थी। क्योंकि, एक तो यह व्यसन बड़ा खर्चीला है, दूसरे उसे यह भी लग रहा था कि इसमें मूढ़ता भी है। वह बता रहा था कि उसने धूम्रपान छोड़ने के भगीरथ प्रयत्न किये, फिर भी वह पुनः-पुनः शुरू हो जाता है और उसकी अनेक समस्याओं में से यह एक समस्या उसके सामने है। उसके शरीर की कृशता, वृत्ति की तीव्रता और कातरता स्पष्ट दीख रही थी।

हम यदि किसी बात का धिक्कार करते रहेंगे, तो उसका कभी आकलन हो सकेगा ? किसी बात को स्वीकार करना या उसे धिक्कार कर दूर फेंक देना सरल है। लेकिन इस तरह किसी विषय का स्वीकार या धिक्कार करना अपने सामने की समस्या को टालना ही है। किसी छोटे बालक को धिक्कारने या उसका तिरस्कार करने का अर्थ है उसे सामने से हटा देना, ताकि वह हमें परेशान न करे।

लेकिन लाख उसे दोष दें, वह हमारे आगे ही खड़ा रहता है। किसीका तिरस्कार करना उसकी ओर ध्यान नहीं देना है, उसके प्रति दुर्लक्ष्य करना है। धिक्कार करने से सही आकलन नहीं हो सकता।

"धूम्रपान के सम्बन्ध में मैं अपने को बार-बार धिक्कारता रहा हूँ। धिक्कार न करूँ, यह कैसे होगा? बिना धिक्कारे रहना कठिन है।"

सचमुच धिक्कार न करना कठिन है। हमारी सारी संस्कारबद्धता जानते हैं किस पर आधृत होती है? किसी वस्तु का अस्वीकार करना, किसीका समर्थन करना, किसीकी किसीसे तुलना करना, किसीका त्याग या उत्सर्ग करना, किसीका स्वीकार करना—इन सब प्रकारों पर ही तो हमारी सारी संस्कारबद्धता आधृत होती है। इसी पार्श्वभूमि से, इसी संस्कारबद्धता के चश्मे से हम अपनी समस्याओं को देखते हैं। इसी संस्कारबद्धता की भूमि में से हमारी सारी समस्याओं की और सारे संघर्षों की फसल निकलती रहती है। अपने धूम्रपान के बारे में आपने अपने विचार से कुछ निष्कर्ष निकाले हैं। ठीक है न? जब आप कहते हैं कि धूम्रपान जड़ता है, तब इसका अर्थ यह न हुआ कि आप इस विषय में सब दृष्टियों से विचार करके ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचे हैं? किन्तु इस सारे विचार-मन्थन के बाद भी आपका धूम्रपान छूटा नहीं। हम सोचते हैं कि किसी समस्या का कारण समझ में आते ही हम इस समस्या से मुक्त हो जायेंगे। लेकिन इस प्रकार कारण ध्यान में आने का अर्थ केवल जानकारी होना है। वह केवल शाब्दिक निष्कर्ष है। इस जानकारी के कारण समस्या के सही आकलन में बाधा ही खड़ी होती है, यह स्पष्ट ही है। किसी समस्या के कारण का ज्ञान होना और उस समस्या का यथार्थ आकलन होना—ये दोनों बातें एक-दूसरी से सर्वथा भिन्न हैं।

"किन्तु फिर दूसरे किस मार्ग से मनुष्य अपनी समस्याओं का आकलन कर सकेगा?"

यही तो अब हमें खोजना है। समस्या की ओर देखने का गलत दृष्टिकोण क्या है, यह एक बार ध्यान में आ जाय तो हमें सही दृष्टिकोण का ज्ञान हो जायगा। असत्य क्या है, इसका आकलन होने का ही अर्थ है सत्य का दर्शन। असत्य के असत्यत्व का आकलन अत्यन्त कठिन है। क्योंकि असत्य की ओर हम तुलनात्मक दृष्टि से देखते हैं, विचार के पैमाने से उसे नापते हैं। पर विचार-प्रक्रिया के द्वारा असत्य के असत्यत्व का दर्शन क्या कभी सम्भव है? क्या विचार ही मूलतः संस्कार अर्थात् असत्यात्मक नहीं होता?

"लेकिन विचार-प्रक्रिय, की सहायता के बिना हमें असत्य के असत्यत्व का आकलन कैसे होगा?"

यही तो हमारी मुख्य कठिनाई है। है या नहीं? किसी समस्या के हल के लिए जब हम किसी साधन के रूप में विचार का उपयोग करते हैं, तब क्या हम अपूर्ण,

अपर्याप्त साधनों का ही उपयोग नहीं करते हैं ? क्योंकि विचार भूतकाल का, गतानुभूतियों का ही तो परिपाक होता है। अनुभूति सदैव भूतकाल की ही होती है। असत्य के असत्यत्व का दर्शन होने के लिए हमारी सारी विचार-प्रक्रिया एक मृत प्रक्रिया है, इसकी जानकारी हमें होनी चाहिए। विचार कभी भी विमुक्त नहीं हो सकता। शोध करने के लिए तो विमुक्तता की ही सबसे अधिक आवश्यकता रहती है, विचारों से सम्पूर्णतः मुक्त होना आवश्यक है।

"आपकी बात ठीक से मेरी समझ में नहीं आ रही है।"

देखिये, आपकी एक समस्या धूम्रपान की है। अब तक या तो आप इसकी ओर तिरस्कार की दृष्टि से देखते रहे हैं या सारासार विवेक द्वारा कुछ निष्कर्ष निकालते रहे हैं। आपका यह दृष्टिकोण ही असत्य है। आपको कैसे पता लगा कि यह दृष्टिकोण असत्य है। विचार के द्वारा यह सम्भव नहीं, अतः समस्या को हम किस दृष्टि से देखते हैं, इसका अक्रिय सावधानी से निरीक्षण करने में ही यह आकलन करना शक्य होगा। इस अक्रिय सावधानी के लिए विचार की कतई आवश्यकता नहीं है। बल्कि विचार के चलते यह अक्रियता समाप्त हो जाती है। किसीका धिक्कार करना, उसका समर्थन करना अथवा उसकी तुलना करना अथवा उसे स्वीकार करना ही विचार का कार्य है। लेकिन अक्रिय सावधानी में इनमें से कुछ नहीं होता। इसलिए इन सब प्रक्रियाओं का यदि अक्रिय सावधानता से निरीक्षण करते रहें, तो उस प्रक्रिया का वास्तविक स्वरूप आकलन में आता है।

"यह मैं समझा। लेकिन ये सारी बातें मेरे धूम्रपान पर कैसे लागू होती हैं ?"

देखिये, धूम्रपान की समस्या को तिरस्कार या तुलना आदि की दृष्टि से नहीं, बल्कि भिन्न प्रकार से देखा जा सकता है या नहीं, इसका हम मिलकर प्रयोग करें। भूतकाल की तनिक भी छाया न पड़ने देकर इस समस्या को क्या हम सर्वथा नये सिरे से देख सकेंगे ? किसी भी प्रकार की प्रतिक्रिया के ग्रास न बनकर उसकी ओर देखना अत्यन्त कठिन हैं। है न ? सम्पूर्ण सक्रियता से देखना तो हमें सर्वथा असम्भव-सा लगता है। क्योंकि भूतकाल में से कोई न कोई प्रतिक्रिया बराबर ऊपर उठती रहती है। हमारे सामने की समस्या सम्पूर्ण रूप से नयी है, इस दृष्टि से उसकी ओर देखना हमारे लिए कितना कठिन है, यह समझना बड़ा मनोरंजक है। भूतकाल के सारे प्रयत्नों, सारे निष्कर्षों और सारे हेतुओं का जड़ बोझा सिर पर लादकर हम चलते रहते हैं। इन विविध चश्मों के बिना समस्या की ओर देखना हमारे लिए असम्भव हो जाता है।

वस्तुतः कोई भी समस्या पुरानी नहीं होती। किन्तु हम ही उसकी ओर पुराने निष्कर्षों के चश्मे से देखते हैं, जिसके चलते उसके यथार्थ आकलन में बाधा खड़ी होती है। अपनी सारी प्रतिक्रियाओं का आप अक्रिय सावधानी से केवल निरीक्षण करते रहिये, केवल अक्रियता से, तटस्थता से देखते रहिये। इन सारी प्रतिक्रियाओं के

कारण समस्या का हल होना कैसे असम्भव है, यह निरखते चलिये। समस्या ही वास्तविक होती है, पर उसे देखने का दृष्टिकोण सर्वथा अपूर्ण और अधूरा होता है। जो वास्तविक है, उसे हमारी ओर से मिलनेवाला प्रत्युत्तर जब इस तरह अधूरा, अपूर्ण होता है, तभी उसमें से संघर्ष पैदा होता है। यह संघर्ष ही वास्तव में सब समस्याओं के मूल में निहित एकमात्र समस्या है। जब इस सम्पूर्ण प्रक्रिया का यथार्थ आकलन होगा, तभी धूम्रपान की समस्या के निवारण के लिए आप स्वयं समुचित कृति करने लग जायँगे।

●

८७. सुरक्षितता

धान के खेतों से मोड़ लेते हुए जानेवाले मार्ग के बगल का वह छोटा-सा झरना झिलमिला रहा था। कमल-पुष्पों के कारण उसके पतले-से प्रवाह में रुकावट-सी आ गयी थी। कमलों का रंग गहरा जामुनी था, पर उनका गाभा सुन्दर सुनहरा था। वे जल के किंचित् ऊपर उठे हुए थे। उनका मधुर परिमल उनके आसपास गमक रहा था। कमल-पुष्प अत्यन्त सुन्दर थे। आकाश मेघाच्छादित था और मन्द-मन्द वर्षा की फुहार भी पड़ने लगी थी। काले-काले मेघों में बिजली चमक रही थी। अभी बिजली दूर ही थी। हम जिस वृक्ष के नीचे आश्रय के लिए खड़े थे, उसी ओर यह आना चाहती थी। कुछ देर में वर्षा जोरों से शुरू हो गयी। कमल-पत्रों पर जल की बूँदें एकत्र होने लगीं। बूँदें जब एक-दूसरी में मिलकर खूब बड़ी हो जातीं, तब वे नीचें गिर जातीं और फिर नयी बूँदें पत्रों पर जुटने लगतीं। अब बिजली पेड़ के ऊपर आ गयी थी। इस कारण निकट ही रस्सियों से बँधे पशु भयभीत होकर अपनी रस्सियाँ तोड़ने का प्रयत्न करने लगे। एक बछड़ा पानी से भीग जाने के कारण थर-थर काँप रहा था और आर्त स्वर में चिल्ला रहा था। आखिर उसने अपनी रस्सी तोड़ डाली और आश्रय के लिए निकट की कुटिया की ओर दौड़ गया। कमलों ने अपनी पंखुड़ियाँ समेट ली थीं। बढ़ता हुआ अन्धकार उनके भीतर प्रवेश न करे, इसलिए उन्होंने अपने सुनहरे हृदयों को मानो सिकोड़ लिया था। अब यदि उनके स्वर्णिम हृदय का दर्शन करने की किसीकी इच्छा हो तो उसे जामुनी पँखुड़ियों को तोड़ना ही पड़ेगा। क्योंकि, पुनः सूर्योदय होने तक उन सूर्यविकासी कमलों की पँखुड़ियाँ उसी तरह बन्द रहनेवाली थीं। अपनी इस बन्द, सुप्त अवस्था में भी वे कमल-पुष्प कितने मोहक, कितने नयनरम्य दीख रहे थे! अब बिजली पास के नगर की ओर मुड़ रही थी। अँधेरा घना हो गया था। उस छोटे-से झरने की अस्पष्ट कलकल ध्वनि कानों में पड़ रही थी।

निकट के रास्ते से देहात पार करके हम उस भीड़भरे नगर में लौट आये।

वह बीस साल का तरुण था, कॉलेज में पढ़ता था। वह कुछ प्रवास भी कर चुका था। शरीर से हृष्ट-पुष्ट था। लेकिन वह कुछ-कुछ गलितधैर्य-सा, व्याकुल और कातर-सा दीखा। उसकी आँखों से चिन्ता स्पष्ट झाँक रही थी। रात घनी हो रही थी,लेकिन उसकी बात करने की बड़ी इच्छा थी। वह चाहता था कि कोई उसके मनोव्यापारों का निरीक्षण करे और क्या बिगड़ गया है, इसका शोध कर दे। उसने अपना हृदय सहजरूप से, निःशंक रूप से और किसी तरह का परदा न रखते हुए खोलकर रख दिया। उसकी समस्या स्पष्ट दीख रही थी, लेकिन उसे नहीं दीख रही थी, वह अभी भी अन्धकार में टटोल रहा था।

जो जैसा है, जो सत्य है, उसे उसी रूप में न हम देखते-सुनते हैं, न उसकी खोज करते हैं। हम अपनी कल्पना और अपने मत दूसरों पर लादना चाहते हैं और अपने विचारों के साँचे में दूसरों को ढाल लेना चाहते हैं। वास्तविक का शोध करने के बदले अपने विचार और अपने निर्णय ही हमें कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। वास्तविक तो सचमुच बड़ा सीधा-सरल होता है। हम ही उलझे हुए और संकीर्ण स्वरूप के बने होते हैं। जो वास्तविक है, जो सीधा-सादा है, उसे हम स्वयं ही उलझनभरा बना डालते हैं और फिर हम ही उसमें उलझ जाते हैं, खो जाते है। अपने मन के असमंजस के बढ़ते हुए कोलाहल को सुनने में ही हम दत्तचित्त हो जाते हैं। लेकिन सच्चे श्रवण के लिए हमें पूरी तरह मुक्त होना चाहिए। विचलन हो ही नहीं, ऐसा तो नहीं है। क्योंकि, हमारे विचार ही मूलतः विचलन का एक स्वरूप होते हैं। पर निःशब्द, निस्तरंग होने के लिए हमारा मन मुक्त रहना चाहिए। ऐसा होगा, तभी सच्चा श्रवण सम्भव हो सकेगा।

वह तरुण अपनी करुण कथा कह रहा था : "जैसे ही नींद आने लगती है कि एक विचित्र भय से मैं अचानक उठ बैठता हूँ। फिर कमरे की दीवालें भी मिट जाती हैं, छत भी नहीं रह जाती, पैरों के नीचे की जमीन भी अन्तर्धान हो जाती है और भयग्रस्त होकर पसीने से तर हो जाता हूँ। अनेक वर्षों से यह स्थिति चल रही है।"

लेकिन आपको भय किस बात का हैं ?

"यह मैं नहीं जानता। लेकिन भय से जैसे ही मैं जागता हूँ, तो तेजी से अपनी बहन अथवा माँ-बाप की ओर चला जाता हूँ। अपने मन को शान्त करने के लिए कुछ समय तक उनसे बात करता हूँ और फिर सोने चला जाता हूँ। वे सब मेरी स्थिति से परिचित हैं, पर अब मैं सयाना और बालिग हो गया हूँ और अपना यह बर्ताव अब मुझे ही मूर्खतापूर्ण लगने लगा है।"

आपको क्या अपने भविष्य की कोई चिन्ता है ?

"ऐसा कुछ है तो अवश्य। हमारे पास पैसे भी हैं, फिर भी मुझे भविष्य की कुछ चिन्ता रहती है।"

क्यों भला ? क्या कोई विशेष कारण है ?

"क्योंकि मैं विवाह करना चाहता हूँ और भावी पत्नी की सुख-सुविधा के लिए पूरी व्यवस्था करना चाहता हूँ।"

लेकिन भविष्य की इतनी चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है ? आप अभी तरुण हैं। कोई भी काम-धन्धा करके आप अपनी पत्नी को समुचित सुख-सुविधा प्रदान कर सकते हैं। अभी से इस चिन्ता से मन को इतना व्यग्र बना डालने का क्या अर्थ है ? आपको ऐसा भय तो नहीं लग रहा है कि समाज में आज आपकी जो प्रतिष्ठा है, वह आगे नहीं रहेगी ?

"हाँ, कुछ-कुछ ऐसी भी बात है ! आज हमारे पास थोड़ी-बहुत धन-सम्पत्ति है, समाज में प्रतिष्ठा है, मोटर भी है। यह स्वाभाविक है कि मैं ऐसा चाहूँ कि कहीं ये सारी चीजें भविष्य में समाप्त न हो जायँ। मेरे भय का यह भी एक कारण हो सकता है। लेकिन मात्र यही कारण नहीं है। मुझे सम्पूर्णतः समाप्त हो जाने का भय लगता है। जब मैं भय से अचानक उठ बैठता हूँ, तब मुझे ऐसा लगने लगता है कि मैं बिलकुल मिट गया हूँ, मेरा अस्तित्व ही नहीं रहा है, मेरे टुकड़े-टुकड़े हो रहे हैं।"

मान लीजिये; कोई नयी राज्यसत्ता आती है तो आपकी धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद समाप्त हो सकती है। तो भी क्या ? आप तो बिलकुल तरुण हैं। आप कोई न कोई काम कर ही सकते हैं। आज जगह-जगह लाखों लोग अपनी धन-सम्पत्ति से हाथ धो रहे हैं। आप पर भी ऐसा प्रसंग आ सकता है। इसके अतिरिक्त आज की विचारधारा ऐसी है कि संसार की सारी सम्पत्ति सब लोगों को आपस में बाँट लेनी चाहिए। कुछ थोड़े से लोगों की वह बपौती नहीं रहनी चाहिए। तरुणाई के कगार पर खड़े होकर भी आप इतने दकियानूस और अनुदार क्यों बन गये हैं ? सब कुछ खो देने का भय आपको इतना क्यों सता रहा है ?

"देखिये, मैं एक विशिष्ट लड़की से विवाह करना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि कोई भी परिस्थिति इस विवाह के आड़े न आवे। वस्तुतः आड़े आने जैसी कोई बात लगती नहीं है। लेकिन हमें एक-दूसरे के बिना बिलकुल अच्छा नहीं लगता। मेरे भय का शायद यह भी एक कारण है।"

क्या यही आपके भय का कारण है ? लेकिन आप ही कहते हैं कि विवाह के आड़े आनेवाली ऐसी कोई बात आपको नहीं दीख रही है। फिर यह भय क्यों ?

"जब हम विवाह करना तय करेंगे, तब हम विवाह कर सकेंगे, यह सही है। अतः यह मेरे भय का कारण नहीं हो सकता। कम-से-कम अभी तो नहीं। मुझे ऐसा लगता है कि कहीं मेरा अस्तित्व न मिट जाय, मेरा नाम न मिट जाय—शायद यही भय मुझे सताता है।"

लेकिन मान लीजिये आपने कि अपने नाम की चिन्ता छोड़ भी दी और आपकी धन-सम्पत्ति आदि अन्य वस्तुएँ सुरक्षित बनी रही, तो भी क्या आपका भय कायम नहीं रहेगा ? हमारा नाम, हमारा अस्तित्व, हमारा विशिष्ट स्वरूप इन शब्दों का अर्थ क्या है, इसे हम देखें। वस्तुतः हमारा स्वरूप क्या है ? हम अपने नाम से एकरूप हो जाते हैं, अपनी धन-सम्पत्ति से, किसी व्यक्ति से अथवा किसी कल्पना से एकरूप हो जाते हैं। हम किसीसे अथवा किसी वस्तु से संलग्न हो जाते हैं। हम इस या उस नाम से पहचाने जाते हैं, हम किसी विशिष्ट देश के अथवा किसी विशिष्ट समूह के माने जाते हैं। हमने अपने पर ऐसी चिप्पी चिपका ली है, नामपट्ट या लेविल लगा लिया है। हमारा यह लेविल नष्ट तो नहीं हो जायगा,—क्या इसी बात का आपको भय लगता है ?

"हाँ, हाँ, यही बात है। ऐसा कोई विशिष्ट चिह्न न रहने पर मेरे अस्तित्व का क्या अर्थ रहेगा ? शायद यही मेरे भय का कारण है !"

इसका अर्थ यह हुआ कि जिन वस्तुओं पर आपका स्वत्व है, जिन पर आपका मालिकाना या कब्जा है, वही आप हैं। आपका नाम, आपकी प्रतिष्ठा, आपकी मोटर, आपकी सम्पत्ति, आपकी वाग्दत्त वधू, आपकी सब प्रकार की महत्वाकांक्षाएँ,— ये सारी बातें ही आप हैं। ये सारी वस्तुएँ—आपकी ये सारी विशिष्टताएँ और आपके मूल्य—इन सबका मिलाजुला रूप ही आप हैं। इसीको आप "मैं" कहते हैं। इन सबका साकल्य ही आप हैं और आपका सारा भय इन सब वस्तुओं को खो जाने या हाथ से निकल जाने या नष्ट हो जाने का है। इन सारी वस्तुओं के नष्ट होने की सम्भावना जैसी दूसरों के लिए है, वैसी ही आपके लिए भी है। कभी कोई युद्ध छिड़ सकता है, राज्य-क्रांति हो सकती है अथवा वर्तमान सरकार बदलकर वामपंथ की सरकार स्थापित हो सकती है। आपकी सारी वस्तुओं को छीनने की इनमें से कोई घटना आज, कल अथवा कभी भी घट सकती है। पर अपनी सुरक्षितता के नष्ट हो जाने की इतनी चिन्ता आपको क्यों सता रही है ? क्या असुरक्षितता ही सब वस्तुओं का स्वाभाविक धर्म नहीं है ? असुरक्षितता से आप बचे रहें, इसके लिए आप अपने चारों ओर दीवारें खड़ी कर रहे हैं। लेकिन ये दीवारें कभी भी धराशायी की जा सकती हैं। ये धराशायी हो भी रही हैं। कुछ समय तक आप भले ही बच जायँ, लेकिन असुरक्षा का संकट तो सदा ही रहनेवाला है। जो वास्तविक है, जो सत्य है, उसे आप टाल नहीं सकते। आप चाहें या न चाहें, आज की परिस्थिति में असुरक्षितता है ही। पर इसका अर्थ यह नहीं कि आप विवश होकर इस परिस्थिति के आगे घुटने टेक दें, इसकी शरण जायँ, आप इसे स्वीकार कर लें या इससे पीठ फेर लें। आप एकदम तरुण हैं। फिर आपको इस असुरक्षितता का भय क्यों लगता है ?

"आप जैसा कह रहे हैं, उस पर से नहीं लगता कि मुझे असुरक्षितता का भय है। कोई भी श्रम करने में मुझे परेशानी नहीं होती। आज भी मैं प्रतिदिन आठ घण्टे से अधिक काम करता हूँ। यह ठीक है कि मुझे अपना काम विशेष रूप से पसन्द नहीं है, फिर भी मैं उसे चलाये जाऊँगा। मुझे अपनी सम्पत्ति, कार अथवा ऐसी ही वस्तुओं के विनाश का भय नहीं है। मैं अपनी वाग्दत्त वधू से चाहे जब विवाह कर सकता हूँ। इनमें से किसी भी वस्तु का भय मुझे नहीं सता रहा है, फिर भी मैं क्यों डरता हूँ? मेरे भय का कारण आखिर क्या है?"

अब हम दोनों मिलकर इस बात का पता लगायें। आपके भय का कारण मैं बता तो अवश्य सकता हूँ, किन्तु तब वह आपकी खोज नहीं रहेगी। तब कारण का वह आकलन केवल शाब्दिक स्तर पर रहेगा और इसलिए वह पूर्णतः व्यर्थ होगा। आप स्वयं ही उस कारण का शोध करेंगे, तो वह आपका साक्षात् अनुभवन होगा। वस्तुतः यही महत्त्व की वस्तु है। शोध करने का अर्थ है साक्षात् अनुभवन। आइये, हम दोनों मिलकर यह शोध करें।

आपने कहा कि धन-सम्पत्ति आदि खो जाने का आपको भय नहीं है, बाह्य दृष्टि से असुरक्षित होने का आपको भय नहीं है, तो फिर आपको चिन्ता किस बात की हो रही है? देखिये, एकदम उत्तर देने के लिए उतावले न हों। केवल सुनते रहिये और शोध के लिए सावधान रहिये। क्या आपको इस बात का पक्का विश्वास है कि शारीरिक असुरक्षितता का आपको भय नहीं है? कोई मनुष्य जितने विश्वास के साथ ऐसा कहता है, उतने ही विश्वास के साथ आप कहते हैं कि आपको इसका भय नहीं है। यदि आपको पूरा विश्वास हो कि आपका यह कथन कोरा शाब्दिक कथन नहीं है, तो फिर आपको किस बात का भय लग रहा है?

"शारीरिक असुरक्षा का भय मुझे कतई नहीं है, इसका मुझे पूरा भरोसा है। मैं कभी भी विवाह कर सकता हूँ और सारी आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कर सकता हूँ। धन-सम्पत्ति अथवा वस्तुओं के नष्ट होने के भय की अपेक्षा कोई अन्य प्रकार का भय मुझे सता रहा है। किन्तु मैं नहीं जानता कि वह भय क्या है कैसा है।"

अब हम उसकी खोज करें। लेकिन हम शान्तिपूर्वक ही उस पर विचार करेंगे। क्या इसका शोध करने की आपमें सचमुच इच्छा है?

"सचमुच इच्छा है। विशेषतः तब जब हम यहाँ तक पहुँच गये हैं तो आगे जाने की मेरी सचमुच इच्छा है। मेरे भय का कारण क्या होना चाहिए!"

उसे शोध निकालने के लिए हमें शान्त, निःशब्द रहना चाहिए और सावधानी से निरीक्षण करते रहना चाहिए। किन्तु हमें किसी भी प्रकार का आग्रह रखना ठीक नहीं। आपको भौतिक असुरक्षितता का भय नहीं है। तब क्या आपको आन्तरिक असुरक्षितता का, सामने रखा हुआ साध्य प्राप्त नहीं कर सकेंगे इसका भय है? देखिये, उत्तर देने की जल्दी न करें। केवल सुनते चलें। क्या आपको

ऐसा लगता है कि आप कुछ विशिष्ट बनने में असमर्थ हैं ? आपके समक्ष कोई धार्मिक ध्येय हो सकता है, और शायद आपको लगता हो कि उस ध्येय तक पहुँचने की क्षमता आपमें नहीं है । इसे प्राप्त करने में आप शायद पूरी तरह निराश हो गये हों, अथवा इसकी असफलता की भावना अथवा अपराधीपन का ज्ञान आपको हो गया हो । ऐसी कोई बात है क्या ?

"आपकी बात सोलह आने सही है । मैं आपको बताऊँ ? कई वर्ष पूर्व मैंने आपके प्रवचन सुने थे । उस समय मैं छोटा लड़का ही था । लेकिन तभी से आपके जैसा बनने का ध्येय मैंने अपने सामने रखा था । मुझे लगता है कि हमारे रक्त में ही धार्मिकता बसी हुई है । इस कारण उस समय मुझे अपना ध्येय प्राप्त करना कठिन नहीं लगा । फिर भी आपके आदर्श के निकट मैं कभी पहुँच नहीं सकूँगा, यह भय मेरे मन में गहरे में छिपकर बैठ गया था ।"

अब हम जरा धीमे-धीमे आगे बढ़ेंगे । बाह्य असुरक्षा का तो आपको भय नहीं लगता, लेकिन आन्तरिक असुरक्षितता का भय आपके मन में घर कर गया है । अन्य लोग कीर्ति, प्रतिष्ठा, धन आदि की सहायता से बाह्यतः अपने को सुरक्षित करना चाहते हैं । किन्तु आप तो एक ध्येय की सहायता से आन्तरिक सुरक्षितता प्राप्त करना चाहते हैं । पर इस ध्येय के निकट तक पहुँचने की सामर्थ्य आपमें नहीं है, ऐसा आप महसूस करते हैं । लेकिन आपको ऐसा क्यों लगता है कि अमुक आदर्श तक पहुँचा जाय, अमुक ध्येय प्राप्त किया जाय ? क्या यह सब आन्तरिक सुरक्षितता प्राप्त करने के लिए ही नहीं है ? आप यह जो आसरा चाहते हैं, उसे ध्येय कहते हैं । लेकिन वस्तुतः आप केवल सुरक्षितता चाहते हैं, आसरा चाहते हैं । है न ऐसी बात ?

"सचमुच यही बात है । आपके ध्यान दिलाने से यह बात मेरे ध्यान में आ गयी है ।"

अब आपको इसका पता लग गया है; है न ? लेकिन अभी हम कुछ और आगे बढ़ें । यह आपको स्पष्ट दिखाई देता है कि बाह्य सुरक्षितता के लिए प्रयास करना उथलापन है । किन्तु किसी ध्येय के अनुरूप होकर आन्तरिक सुरक्षा के लिए प्रयास करना भी वैसा ही उथलापन और मिथ्या है, क्या यह बात भी आपके ध्यान में आ गयी है ? पैसे के स्थान पर आप ध्येय का सहारा ले रहे हैं, क्या यह बात आपके ध्यान में आ रही है ?

"हाँ, अब वस्तुतः यह बात मेरे ध्यान में आ गयी है ।"

तब आप वस्तुतः जैसे हैं, वैसे ही रहिये । ध्येय का असत्यत्व जब आपके आकलन में आता है, तब वह ध्येय आपके मन से उतर जाता है । आप वास्तव में जैसे हैं, वही आपका वास्तविक रूप है । यहाँ से अब वास्तविकता का आकलन प्रारम्भ

कीजिये, किन्तु किसी विशिष्ट ध्येय के दृष्टिकोण से वास्तविक रूप का आकलन न कीजिये। क्योंकि यह ध्येय, यह साध्य वास्तविक रूप से सदैव दूर रहता है। आप ही हैं अपना वास्तविक रूप। लेकिन आपका यह वास्तविक रूप विशिष्ट कालातीत रूप नहीं है, अथवा विशिष्ट वृत्ति का रूप नहीं है। प्रतिक्षण आप जैसे रहेंगे, वैसा ही आपका वास्तविक रूप होगा। इस वास्तविक रूप का न तो धिक्कार ही करें, न इसे अगतिक रूप से स्वीकार ही करें। वास्तविक रूप के विविध व्यापारों की टीका-टिप्पणी न करते हुए उसका केवल सावधानी से निरीक्षण करते रहें। यह अवश्य है कि ऐसा करना कठिन लगेगा, किन्तु इस निरीक्षण में आनन्द भी है। सच्चे विमुक्त को ही सच्चा सुख प्राप्त होता है और हमारा जो वास्तविक रूप है, उसके सत्य का यथार्थ बोध होने पर ही सच्ची विमुक्तता का उदय होता है।

८८. कार्य

वह मिनिस्टर था। उसकी वृत्ति में एक प्रकार की दूरी और अश्रद्धा का भाव था। शायद उसका कोई मित्र ही उसे यहाँ तक खींच लाया था। यहाँ आने पर उस मिनिस्टर को आश्चर्य हुआ। उसका मित्र किसी विषय की चर्चा करना चाहता था और शायद यह भी चाहता था कि उसकी चर्चा को उसका मित्र भी सुने। उस मिनिस्टर को इस स्थान के बारे में कुतूहल लग रहा था। फिर भी उसका यह भाव कायम ही था कि हम कोई बड़े' हैं। वह बड़ा आदमी था। उसकी दृष्टि तीक्ष्ण थी और वह शिष्ट ढंग से बातचीत करता था। वह आप्तकाम-सा दीख रहा था। शायद उसे लग रहा था कि जीवन में अब स्थिर होना चाहिए। प्रवास करना एक बात है, लेकिन अब हम अन्तिम पड़ाव पर पहुँच गये हैं औन आगे जाने की आवश्यकता नहीं है, ऐसा प्रतीत होना बिलकुल दूसरी बात है। प्रवास करते रहने का अर्थ है निरन्तर कहीं न कहीं पहुँचते रहना। लेकिन किसी स्थान पर पहुँचकर उसे अन्तिम पड़ाव मानकर वहीं स्थिर हो जाना, एक प्रकार से मृत्यु ही है। हम सब लोग कितनी जल्दी संतुष्ट और आप्तकाम हो जाते हैं पर हमारा संतोष कितनी जल्दी चूर-चूर हो जाता है! हम सब कोई-न-कोई आश्रयस्थल चाहते हैं। सारे संघर्षों से दूर जाने के लिए कोई-न-कोई आश्रय चाहते हैं और प्रायः वह मिल भी जाता है। मूर्खों की भाँति चतुर लोगों को भी अपना-अपना आश्रयस्थल मिल जाता है और उससे चिपके रहने के लिए वे जागरूक भी रहते हैं।

मिनिस्टर का मित्र कहने लगा: "अपनी समस्या को समझने का मैं पिछले कई वर्षों से प्रयत्न कर रहा हूँ। लेकिन मैं उसके मूल तक नहीं पहुँच पाया। लगता है कि अपना काम करते हुए मैं आज तक शत्रु ही उत्पन्न करता आया हूँ। मैंने जिन–

जिनकी सहायता करने का प्रयत्न किया, उन सबमें किसी न किसी प्रकार मेरे प्रति वैरभाव ही उत्पन्न हुआ है। मैं कुछ लोगों की सहायता करता हूँ तो दूसरों में विरोध के बीज बो देता हूँ। मैं एक हाथ से देता हूँ तो दूसरे से पीड़ा पहुँचाता हूँ, ऐसा दीखता है। जहाँ तक मुझे स्मरण है, अनेक वर्षों से यही क्रम चल रहा है और अब तो कुछ ऐसा विचित्र प्रसंग उत्पन्न हो गया है कि निश्चयात्मक ढंग से वर्ताव किये बिना मेरे लिए कोई चारा ही नहीं रह गया है। सच कहता हूँ कि किसीको भी दुःख देने की मेरी कतई इच्छा नहीं है। मेरी समझ में नहीं आता है कि मैं क्या करूँ।"

लेकिन यह बताइये कि आपको अधिक महत्त्वपूर्ण क्या लगता है?—शत्रुता उत्पन्न न करना, किसीका भी जी न दुखाना अथवा कुछ भी हो, विशिष्ट काम करते ही रहना?

"मेरे काम के दौरान अनेक व्यक्ति मेरे हाथों दुःखी होते हैं। अपना काम जी-जान से करनेवाले लोगों में से मैं एक हूँ। कोई काम एक बार अंगीकार कर लेने पर उसे जल्दी-से-जल्दी पूरा कर देना चाहता हूँ। मेरा यह नित्य का स्वभाव बन गया है। मुझे लगता है कि मेरी कार्यक्षमता अच्छी है। कहीं कार्यक्षमता का अभाव या कार्य में शिथिलता दिखाई देती है, तो खूब झुँझलाहट होती है। कोई सामाजिक कार्य अंगीकार करने पर उसे पूरा करना कर्तव्य ही है। इसलिए जो लोग काम से जी चुराते हैं अथवा उसे पूरा करने में असमर्थ सिद्ध होते हैं, वे सहज ही मेरी ओर से दुःखित हो जाते हैं और शत्रुता बरतने लगते हैं। दूसरों की सहायता का कार्य सदैव महत्त्व का ही होता है। लेकिन आवश्यकताग्रस्त लोगों की सहायता का काम करने पर बाधा डालनेवाले लोग दुःखी हो जाते हैं। लेकिन सच पूछा जाय तो लोगों को दुःखी करने का मेरा कोई हेतु नहीं होता। अतः इस बारे में कुछ-न-कुछ करने की त्वरा महसूस होने लगी है।"

लेकिन यह बताइये कि आपको किस बात का विशेष महत्त्व प्रतीत होता है। —कार्य करते रहना अथवा दूसरों का जी न दुखाना?

"मनुष्य को जब चारों ओर इतना अधिक दैन्य-दारिद्रय फैला हुआ दीखता है, तब परिस्थिति में कुछ-न-कुछ सुधार लाने के कार्य में वह सहज ही कूद पड़ता है। ऐसा कार्य करते हुए बिना चाहे हुए भी कुछ लोगों का जी उसे दुखाना पड़ता है।"

इसका अर्थ यह हुआ कि काम के इस प्रकार में एक लोक-समूह को बचाने के लिए दूसरों का नाश किया जाता है, एक देश दूसरे देश के लोगों पर जीता है। तथा-कथित आध्यात्मिक जन भी दूसरों के सुधार की चिन्ता में एक का उद्धार करते हैं, तो दूसरे का नाश करते हैं। वे जैसे आशीर्वचनों की खैरात बाँटते हैं, वैसे ही अभिशापों की भी। हम सभी लोग साधारणतः कुछ लोगों से प्रेम का व्यवहार करते हैं तो कुछ लोगों के साथ निर्दयता का। हम ऐसा क्यों करते हैं?

लेकिन पहले यह बताइये कि आपको निर्णायक महत्त्व किस बात का प्रतीत होता है। अपने कार्य का अथवा दूसरों का जी न दुखाने का ?

"अंगीकृत कार्य पूरा करने के लिए कुछ लोगों का जी दुखाना अनिवार्य हो जाता है। अव्यवस्थित, असावधान, कार्यक्षमता-रहित और स्वार्थी लोगों का जी दुखाना कार्यशील व्यक्ति के लिए क्या अपरिहार्य नहीं है ? अपने प्रवचनों से क्या आप कुछ लोगों का जी नहीं दुखाते ? आप श्रीमन्तों के बारे में जो उद्गार व्यक्त करते हैं, उन्हें सुनकर एक श्रीमन्त बहुत दुःखी हो गया था, यह बात मुझे निश्चित रूप से ज्ञात है।"

देखिये, मेरी किसीका जी दुखाने की इच्छा नहीं रहती। कोई काम करते हुए लोगों का जी दुखने लगे, तब तो काम को एक ओर पटक देना चाहिए, ऐसा मुझे लगता है। मेरा स्वयं का ऐसा कोई कार्य नहीं है। मेरे सामने सुधार की या किसी प्रकार की क्रान्ति की योजना नहीं है। मेरी दृष्टि में कार्य कोई महत्त्व की वस्तु नहीं है, बल्कि मैं तो मानता हूँ कि लोगों का जी न दुखाना ही महत्त्वपूर्ण है। यदि कोई श्रीमन्त मेरे प्रवचनों के उद्गार से दुःखी हुआ है, तो वह वास्तव में मेरे उद्गारों से दुःखी नहीं हुआ। वस्तुस्थिति का जो कटु सत्य मेरे बोलने के कारण उसके सामने व्यक्त हुआ, वह अच्छा न लगने के कारण उसे दुःख हुआ। वह चाहता है कि उसके छिपे दोष उजागर न किये जायँ। वास्तव में किसीके दोष उजागर करने का मेरा बिलकुल हेतु नहीं। किन्तु वास्तविक सत्य सामने आ जाने से किसी मनुष्य को लगता है कि वह स्वयं ही उजागर हो गया है। इस सत्य-दर्शन के कारण उसका क्षोभ उछल पड़ता है। क्षोभ होने पर वह अपना दोष दूसरे पर ढकेल देता है। लेकिन उसका ऐसा करना वास्तविकता से दूर भागना है। वस्तुस्थिति पर क्षोभ करना, चिढ़ना तो मूर्खता ही है। चिढ़कर, क्षुब्ध होकर वास्तविकता से दूर भागने की यह जो सामान्यतम लोगों की प्रतिक्रिया है, वह निरी अविवेक की ही है।

लेकिन आपने मेरे प्रश्न का अभी तक उत्तर नहीं दिया है। आपको अधिक महत्त्वपूर्ण क्या लगता है ? कार्य करते रहना या लोगों का जी दुखाना ?

"लेकिन क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि कार्य करना ही चाहिए ?" मिनिस्टर ने बीच में ही पूछ लिया।

कार्य करना चाहिए, ऐसा क्यों ? कुछ लोगों की सहायता करते हुए अन्य कुछ लोगों को दुःखी करना पड़े अथवा उनका नाश करना पड़े तो उस कार्य का कोई मूल्य है ? आप अपने विशेष देश को बचा सकते हैं, लेकिन ऐसा करते हुए दूसरे देशों का या तो शोषण करेंगे अथवा उन्हें लूला-लँगड़ा बना देंगे। अपने देश, अपने पक्ष अथवा अपनी विचार-प्रणाली का ही आपको अधिक महत्त्व प्रतीत होता है ? आप अपने कार्य से इतने एकरूप क्यों हो जाते हैं ? कार्य का आपको इतना अधिक महत्त्व क्यों लगता है ?

"कोई भी हो उसके लिए काम करना अनिवार्य है। मनुष्य को सतत क्रियाशील रहना ही चाहिए, अन्यथा मर जाना क्या बुरा है? घर में जब आग लगी हो, तब मूलभूत महत्त्व की बात क्या है, इसकी बाल की खाल निकालते बैठना कम-से-कम हमारे लिए तो असम्भव है।" मिनिस्टर ने उत्तर दिया।

केवल कर्मरत व्यक्तियों के समक्ष मूलभूत महत्त्व के प्रश्न कभी उपस्थित नहीं होते। वे कुछ-न-कुछ कर्म करते रहना चाहते हैं। उनके इस कार्य से कुछ लोगों को केवल उथले ढंग का कुछ लाभ होता है, जब कि इसमें गहरी हानि भी होती है। आपके मित्र से मैं एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ—"एक विशिष्ट ढंग का कार्य आपको इतना महत्त्वपूर्ण क्यों लगता है? उस कार्य के प्रति आपको इतनी आसक्ति क्यों है?"

"कौन जाने यह क्या है! लेकिन इतना निश्चित है कि कार्य करते हुए मुझे बड़ा सुख होता है।"

तो आपके कहने का अर्थ यह है कि वस्तुतः आपकी दृष्टि में कार्य का महत्त्व नहीं है, उसमें से आपको जो फल प्राप्त होता है उसीका महत्त्व है। यह प्राप्ति पैसे के रूप में ही हो, ऐसा नहीं है। आपको अपने कार्य से सुख के रूप में लाभ मिलता है, इतना ही अन्तर है। किसी मनुष्य को अपने देश या अपना पक्ष बचाने पर जैसे सत्ता की, प्रतिष्ठा की या पद की प्राप्ति होती है, उसी तरह आपको अपने कार्य से सुख मिलता है। अपने उद्धारकर्ता अथवा गुरु की सेवा करने से किसी मनुष्य को अतिशय समाधान होता है। वह मानने लगता है कि उसे यह वरदान ही मिला है। जिसे आप परार्थवादी कार्य मानते हैं, वह वस्तुतः व्यक्तिगत सुख-प्राप्ति का ही होता है। देश, कार्य अथवा उद्धारकर्ता का सचमुच कोई महत्त्व नहीं है, अपितु इनके द्वारा मनुष्य को व्यक्तिगत रूप से जो प्राप्त होता रहता है, उसीका वास्तविक महत्त्व है। आपको प्राप्त होनेवाला सुख ही आपको सर्वश्रेष्ठ तथा महत्त्वपूर्ण लगता है। आपका विशेष कार्य आपको उक्त इच्छित सुख प्रदान करता है। जिन लोगों की सहायता करने की भाषा आप बोलते हैं, वस्तुतः उनमें आपकी कोई रुचि नहीं। व्यक्तिगत सुख-प्राप्ति के एक साधन की दृष्टि से ही आप उस कार्य का उपयोग करते हैं। सहज ही आपके इस मार्ग के आड़े आनेवाले जो अक्षम लोग होते हैं, वे आपकी ओर से दुःखित होते हैं। आपकी दृष्टि में कार्य का ही महत्त्व होता है। क्योंकि, यह कार्य ही आपको इच्छित सुख प्राप्त कराता है। यह कटु सत्य है, किन्तु हम लोक-सेवा, देश, शान्ति, ईश्वर जैसे उदात्त प्रतीत होनेवाले शब्दों से इस सत्य को ढँक देते हैं।

तो, यह कहा जा सकता है कि आपके इस कार्य की तत्परतापूर्वक पूर्ति में आड़े आनेवाले लोगों का जी दुखाने में आपको बिलकुल बुरा नहीं लगता। कारण, यह कार्य ही आपको सुख देता है। जब कोई विशिष्ट कार्य आपको सुख देता है, तब वह कार्य वस्तुतः कार्य न होकर आप स्वयं ही होते हैं। सुख आपका प्रिय साध्य होता

है और आपका कार्य साध्य का केवल साधन हो जाता है। इसलिए यह कार्य अर्थात् आप स्वयं प्रथम महत्त्व के बन जाते हैं। फिर सहज ही आपको सुख देनेवाले इस कार्य के लिए आप अपनी सारी कार्यक्षमता, अपनी सारी निर्दयता, अपनी सारी सत्ता दाँव पर लगा देते हैं। आपको इस बात की पर्वाह नहीं होती कि आप लोगों को दुःखी बना रहे हैं, अपने शत्रु उत्पन्न कर रहे हैं।

"इस दृष्टि से मैंने इस बात पर अब तक कभी विचार ही नहीं किया था। मुझे स्वीकार करना चाहिए कि आपकी बात पूर्णतः सत्य है। लेकिन इस सम्बन्ध में मुझे अब क्या करना चाहिए ?"

इतनी सीधी-सी बात समझने के लिए आपको इतने वर्ष कैसे लगे ? क्या यह बात समझना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण नहीं है ?

"मुझे लगता है कि आपके कथन के अनुसार जब तक मेरी मर्जी से मेरा कार्य चलता था, तब तक मैं लोगों को दुःखी कर रहा हूँ, इसकी मैंने बिलकुल परवाह नहीं की थी। मैं जो चाहता था, उसे कर डालने में मैं सदैव सफल होता रहा हूँ। क्योंकि, कार्य-क्षम होने के कारण और प्रत्यक्ष खटकर मैं सारा काम तेजी से पूरा कर डालता था। आप इस तरीके को निर्दयता कहते हैं और आपकी बात सही भी है। लेकिन अब क्या करूँ, यह मैं समझ नहीं पा रहा हूँ।"

यह सीधी-सी बात समझने में आपको इतने वर्ष लगे, क्योंकि उसे समझने की आपकी इच्छा ही नहीं थी। कारण, उसे समझने से आपके व्यक्तिगत जीवन के अधिष्ठान पर आघात होता है। आप सुख प्राप्त करने के पीछे लगे थे। वह आपने प्राप्त कर लिया, यह भी सही है। लेकिन इस प्रकार आपने सतत संघर्ष और शत्रुत्व ही उत्पन्न किया है। यह शायद पहला ही अवसर है, जब आप अपने से सम्बद्ध इस वस्तुस्थिति का सामना कर रहे हैं। अब आप पूछ रहे हैं कि क्या किया जाय। लेकिन अपने इस कार्य की ओर क्या आप बिलकुल भिन्न दृष्टि से नहीं देख सकते ? क्या यह आपके लिए सम्भव नहीं कि अपने कार्य में सुख प्राप्त करने की अपेक्षा आप स्वयं सुखी भी रहें और कार्य भी करते रहें ? जब हम किसी साध्य को प्राप्त करने के लिए मनुष्यों का और अपने कार्य का साधन के रूप में उपयोग करते हैं, तब उन मनुष्यों से या कार्य से कोई सम्पर्क और सम्बन्ध नहीं जुड़ता। उनसे किसी प्रकार का सुसंवाद नहीं सधता। ऐसी स्थिति में हम किसी व्यक्ति से प्रेम करने में असमर्थ रहते हैं। प्रेम किसी भी साध्य का साधन नहीं। प्रेम में स्वयंभू नित्यता, चिरन्तनता निहित है। जब मैं आपका उपयोग करूँ और आप मेरा, तो ऐसे व्यवहार को सामान्यतः सम्बन्ध की संज्ञा दी जाती है। तब किसी भी साध्य में साधन के रूप में मनुष्यों को पारस्परिक महत्त्व प्राप्त होने लगता है। इसका अर्थ यह है कि एक-दूसरे के लिए हमारा निरपेक्ष महत्त्व बिलकुल ही नहीं है। लेकिन एक-दूसरे का जब

ऐसा उपयोग किया जाता है, तब उसमें से संघर्ष और शत्रुत्व ही अपरिहार्य रूप से उत्पन्न होते हैं। इसलिए अब आप क्या करें, इस प्रश्न का उत्तर दूसरों से प्राप्त करने की अपेक्षा, क्या किया जाय इसका शोध हम दोनों मिलकर करें। यदि आपने यह शोध लगा लिया तो यह आपका साक्षात् अनुभवन होगा। फिर वह केवल शाब्दिक स्तर की बात नहीं रह जायगी, अथवा वह विचार से निकला हुआ एक निष्कर्ष अथवा पूर्वानुभवों का पुष्टीकरण मात्र नहीं रह जायगा।

"तब मेरी समस्या क्या है?"

अब हम कुछ भिन्न प्रकार से सोचें। मेरे पहले के प्रश्न पर आपका तत्काल और स्वयंस्फूर्त उत्तर क्या है? आपको कार्य ही सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण लगता है या अन्य कुछ?

"आपका रुख क्या है, यह अब मेरे ध्यान में आने लगा है। मुझे इसके कारण बिजली का-सा धक्का लगा है, यह मेरी पहली प्रतिक्रिया है। अपना कार्य करते हुए आज अनेक वर्षों से मैं वस्तुतः क्या करता आया हूँ, यह ध्यान में आने से मैं बुरी तरह आतंकित हो गया हूँ। जो वास्तविक है, उसका आज मैं प्रथम वार साक्षात् दर्शन कर रहा हूँ। और यह दर्शन बिलकुल सुखद नहीं है, यह मैं आपसे स्पष्ट कह देना चाहता हूँ। इस भयंकर दर्शन के उस पार यदि जा सका तो शायद जान सकूंगा कि आद्य महत्त्व की बात क्या है। तभी मेरे कार्य में सहजता आयेगी। लेकिन मेरा कार्य आद्य महत्त्व का है या अन्य कुछ है, यह अब भी मेरी समझ में नहीं आ रहा है।"

वह अब भी आपके ध्यान में क्यों नहीं आ रहा है? क्या किसीके स्पष्ट दर्शन में समय लगता है? अथवा उसके लिए उत्कट इच्छा ही आवश्यक है? स्पष्ट दर्शन करने की इच्छा काल के प्रवाह में क्या अपने-आप मिटनेवाली है? आपको स्पष्ट दर्शन इसलिए नहीं होता कि उसकी इच्छा ही नहीं है। इच्छा क्यों नहीं है? इस-लिए कि आपके दैनन्दिन जीवन की सारी पद्धति ही उसके कारण अस्तव्यस्त हो जायगी, यह आपका भय है। क्या यही वस्तुस्थिति नहीं है? स्पष्ट दर्शन को हम जान-बूझकर आगे धकेलते हैं, इसका यदि ज्ञान हो जांय, तो क्या आपको तत्काल सब कुछ स्पष्ट नहीं दीखने लगेगा? स्पष्ट दर्शन को आप टालते हैं, इसीलिए यह उलझन खड़ी हो रही है।

"अब मुझे सब कुछ स्पष्ट दीखने लगा है। अतः मैं क्या करूँगा, इस बात का अब कोई महत्त्व नहीं। शायद मैं वही कार्य करता रहूँगा, जो आज तक करता रहा हूँ। लेकिन अब उसमें सर्वथा भिन्न भावना रहेगी। देखें, क्या होता है?"

●

श्री जे० कृष्णमूर्ति वर्तमान युग की विश्व-विभूतियों में से एक हैं, जिन्होंने मानवता को समग्र एवं सर्वांगीण रूप में अनुभव किया है तथा जीने की एक नयी चेतना और दिशा दी है।

श्रद्धा, विचार, कल्पना, सौन्दर्य, अध्यात्म, अहंकार, चिन्ता, गुरु-शिष्य, राजनीति, महत्त्वाकांक्षा, सद्‌गुण, तत्त्वज्ञान, धार्मिक आचार, कर्मकाण्ड, लोभ, क्रोध आदि जीवन की अनेक प्रवृत्तियों, प्रणालियों, परम्पराओं तथा वृत्तियों पर जो चिन्तन कृष्णमूर्तिजी की अनुभूतिपूर्ण वाणी से प्रकट होता है, वह उनका अपना दर्शन है, जो अपने में स्वतन्त्र और स्वयंपूर्ण है। मनुष्य-जीवन का सार, सर्वस्व निश्छल, ग्रन्थिविहीन, सहज वर्तमान में निहित है, यही उनका सन्देश है।

प्रत्येक मनुष्य का जीवन अपने में समुद्र-सा गहन और हिमालय-सा विशाल है। किसी भी परम्परा या लीक पर चलकर मनुष्य स्वतन्त्र और सुखी कैसे रह सकता है?

इस कृति के पृष्ठों में झाँकिये और आप पायेंगे कि यह पुस्तक आप ही के लिए है।